# प्रकाशक की ओर से

विश्व में भौतिक ज्ञान-विज्ञान बड़ी तेजी से बढ़ता चला जा रहा है। दुनिया के नक्शे पलपल में पलटते जा रहे हैं। भौतिक विज्ञान की बदौलत इन्सान चन्द्रलोक में पहुँचने का प्रयास कर रहा है। भौतिक विज्ञान की यह प्रगति एक ओर विश्व के अनेक छिपे हुए रहस्यों को खोल रही है तो दूसरी ओर संहारक साधनों का निर्माण कर विश्व को भयभीत भी बना रही है। अणुबम, उद्जन बम कुछ ही क्षणों में दुनिया में प्रलय मचा सकते हैं। विज्ञान का यह भयंकर रूप दुनिया के लिये एक विषम समस्या है। दुनिया के सारे राष्ट्र आज भयभीत, चिन्तित और बेचैन हैं। विश्व में कहीं शान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है। विश्व के महान् विचारकों ने गम्भीर पर्यालोचन कर इस समस्या का एक ही समाधान पाया है और वह है विज्ञान को अध्यात्म के साथ जोड़ना। जब तक विज्ञान के साथ अध्यात्म नहीं जुड़ता है वहां तक विज्ञान विश्व के लिये वरदान न होकर अभिशाप ही रहेगा। अध्यात्म के साथ जुड़कर विज्ञान सचमुच ही वरदान बन सकेगा। अतएव मुख्यतया आवश्यकता इस बात की है कि विश्व में अध्यात्म का प्रचार और प्रसार किया जाय।

वीतराग जिनेश्वर देव की वाणी यदि विश्व में गूंज उठे तो निस्संदेह दुनिया पर छाया हुआ भय का कुहरा दूर हो सकता है और शान्ति का सुरम्य वातावरण निर्मित हो सकता है। इस दिशा में प्रयत्न करने की जवाबदारी धर्म, धर्म-गुरु और धार्मिक संस्थाओं की है। श्री अमोल जैन ज्ञानालय धूलिया ने अपनी इस जवाबदारी को समझकर जिनेश्वर देव की पवित्र आर्ष-वाणी का प्रकाशन कार्य हाथ में लिया है। उसके परिणाम स्वरूप सूत्रकृतांग सूत्र का यह संस्करण जनता के सन्मुख रखते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

विश्व की समग्र जनता को वीतराग-वाणी सुधा का ज्ञान और पान कराना आज का युग धर्म है। क्योंकि वीतराग की वाणी में विश्व शांति और जन-कल्याण के बीज रहे हुए हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंङ्कर भगवान महावीर

ने प्रबल साधना के फल-स्वरूप जो विमल आलोक पाया वही उन्होंने जगत् के कल्याण के लिये वाणी रूप में प्रकाशित किया। साधना-प्रसूत तपःपूत और अनुभूत होने के कारण यह वाणी जन-जन का मार्ग आलोकित करने वाली है, नव जागरण का संदेश देने वाली है, शान्ति की मंदाकिनी बहाने वाली है और परम श्रेयस् को साधने वाली है। यह भगवद्वाणी महामनीषी **पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी** द्वारा आगम रूप में संकलित की गई है। पच्चीस सौ वर्ष के लंबे काल-प्रवाह में अनेक विषम परिस्थितियों के बावजूद भी हमारा सौभाग्य है कि यह वाणी आज इस रूप में मौजूद है और वह हमारे लिये परम आधारभूत और मंगलमय है। जन-कल्याण के लिये इस आगम वाणी का व्यापक प्रचार और प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि मूल आगम तत्कालीन लोकभाषा में लिपिबद्ध हुए थे तदपि वह आज दुरूह होने से उसका वर्त्तमान में प्रचलित लोकभाषा में अनुवाद करना अत्यंत आवश्यक हो गया था इसलिये **स्व. पूज्य श्री अमोलक-ऋषिजी म. सा.** ने सर्व प्रथम आगमों का हिन्दी अनुवाद करने का बड़ा भारी लोकोपयोगी कार्य हाथ में लिया। एक भक्त भोजन और प्रतिदिन ७ घण्टे लेखन कार्य करके तीन वर्ष के स्वल्प समय में आचार्यश्री ने सर्व प्रथम बत्तीस सूत्रों का हिन्दी में अनुवाद कर दिया। श्रुतसेवा की अदम्य प्रेरणा से प्रेरित होकर आचार्य श्री ने मूल आगमों का हिन्दी अनुवाद करके उसे सर्व साधारण जनता के लिये सरल, सुबोध और सुगम्य बना दिया। आचार्य श्री के इस महान उपकार से हिन्दी भाषी जैन-अजैन जनता परम उपकृत हुई है। यह आचार्य श्री की महती कृपा है कि भगवान् की पवित्र वाणी का रसास्वादन साधारण जनता भी कर सकती है। इस महान् श्रुतसेवा के लिये आचार्य श्री का नाम सदा चिरस्थायी रहेगा।

स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी म. सा. ने जो अनुवाद तैयार किये उन्हें सर्वसाधारण जनता के लाभार्थ मुद्रित करवा कर तथा अमूल्य प्रचारित करने का महान् लाभ उठाने वाले **दानवीर राजाबहादुर लाला सुखदेव सहायजी ज्वाला प्रसादजी जौहरी हैदराबाद** (दक्षिण) निवासी का उपकार भुलाया नहीं जा सकता। आरम्भ में बीस हजार की धनराशि इस कार्य हेतु देना लालाजी ने स्वीकार किया था परन्तु इसी बीच युरोपीय प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से भावों में वृद्धि होने के कारण चालीस हजार में भी कार्य पूरा नहीं हो सकता था तदपि लालाजी ने अपनी विराट उदारता से इस कार्य को परिपूर्ण करवाया और चिरपिपासित जनता को आगम की

रसास्वादन कराकर अपूर्व श्रुतसेवा और संघ सेवा का लाभ सम्पादन किया इस कार्य के लिये सकल स्था० जैन समाज आपका सदा आभारी है और रहेगा।

## पुन प्रकाशन क्यों ?

पूज्य श्री अमोलकऋषिजी म. सा. द्वारा हिन्दी में अनूदित तथा राजा बहादुर लाला सुखदेव सहायजी ज्वाला प्रसादजी जौहरी द्वारा प्रकाशित बत्तीस आगम सन १६२० वीर संवत् २४४६ में मुद्रित हुए। हिन्दी भाषा में आगम की सर्व प्रथम आवृत्ति होने के कारण ज्ञान-पिपासु और जिज्ञासु जनता में शीघ्र ही एक हजार प्रतियां वितरित हो गई। चारों ओर से आगमों की मांग होने लगी परन्तु स्टाक में न होने से उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इन आगमों का मांग अधिकाधिक बढ़ती गई।

इधर दि० १८-१०-१६४२ को स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी म. के शिष्यरत्न साहित्य रसिक पं. मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० की सत्प्रेरणा से स्वर्गीय पूज्य श्री की स्मृति में श्री अमोल जैन ज्ञानालय नामक संस्था की धूलिया में स्थापना हुई। इस संस्था का प्रधान उद्देश्य अमोल साहित्य का प्रचार करना है।

पं. मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म. सा. के सदुपदेश और प्रेरणा से उक्त प्रकाशन संस्था को जनता का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ। संस्था के जन्मदाता, स्तम्भ और संरक्षक महानुभावों को सूची अन्यत्र इसी ग्रन्थ में प्रकाशित की जा रही है।

जनता की ओर से पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी म. के द्वारा अनूदित आगमों की बहुत मांग की जाती रही है, इस बात को लक्ष में रखकर ज्ञानालय ने पूज्य श्री के आगमों का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया।

प्रथम आवृत्ति में मुद्रण तथा दृष्टि दोष संबंधी त्रुटिया रह गई थीं उनका परिमार्जन करना आवश्यक होने से पुनः सम्पादन करवाना उचित समझा गया। प्रसिद्ध विद्वान् पं. शोभाचंद्रजी भारिल्ल ने इसका सम्पादन किया और

उपाध्याय पं. मुनि श्री आनन्द ऋषिजी म. ने उसका संशोधन करने का अनुग्रह किया। इस प्रकार यह संशुद्ध द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष रखा गया है।

हमारी योजना क्रमशः बत्तीस ही आगम प्रकाशित करने की है। आचारांग सूत्रकृतांग छप चुके हैं। अग्रिम प्रकाशन शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं। प्रचार हेतु उनका मूल्य लागतमात्र रखा गया है। कागज की महंघता तथा श्रम-मूल्य वृद्धि के कारण इतना मूल्य रखना पड़ा है।

## आभार प्रदर्शन !

सर्व प्रथम स्व० पूज्य श्री अमोलकऋषिजी मा. सा. का जिन्होंने मूल आगमों का हिन्दी में सर्व प्रथम अनुवाद किया है, मैं ज्ञानालय की ओर से हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उनको विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इसके पश्चात प्रस्तुत संस्करण के संयोजक **पं. मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म. सा. एवं स्वर्गीय पं. मुनि श्री मुल्तान ऋषिजी म० का** आभार मानता हूँ जिनकी संयोजना से हम यह संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं

भूतपूर्व प्रवर्तिनी परम विदुषी महासतीजी श्री सायरकुंवरजी म. सा. का हार्दिक आभार मानता हूं जिनकी ज्ञानालय के प्रति स्नेहमयी आत्मिक भावना रही है और जिनकी अमृतमयी वाणी से ज्ञानालय के विकास कार्य में बहुमूल्य सहयोग मिल रहा है।

**उपाध्याय पं. मुनि श्री आनन्दऋषि म० सा०** का आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने विद्वत्ता पूर्ण प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ के गौरव में वृद्धि की है।

प्रथम संस्करण के प्रकाशक और अमूल्य वितरक **राजा बहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जौहरी हैदराबाद** अत्यन्त धन्यवाद और अभिनंदन के पात्र हैं जिन्होंने अपनी विराट उदारता का परिचय देकर अनेक आगम जिज्ञासु आत्माओं को आगम रस का मधुर आस्वादन कराया।

ज्ञानालय के जन्मदाता, स्तम्भ और संरक्षक तथा अन्य छोटी मोटी सहायता देने वाले महानुभावों ने अपनी उदारता का परिचय देकर आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उन सबका मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत संस्करण के संपादक पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का तथा मुद्रण संबंधी योग्य परिश्रम करके कार्य को सुसम्पन्न करने वाले पं० बसन्तीलालजी नलवाया रतलाम का भी आभार व्यक्त करता हूं।

अन्त में मैं ज्ञानालय के ट्रस्ट बोर्ड तथा कार्यकारिणी के सदस्य और मेरे सहयोगी बन्धुओं का आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिनके सतत सहयोग से मैं ज्ञानालय का कार्यभार संभालने में समर्थ हो सका हूं।

आशा है, आगम सम्बन्धी हमारा यह प्रकाशन आगम रसिकों को अध्यात्म-सुधारस का पान कराएगा। वीतराग देव की यह वाणी विश्व की जनता को शान्ति का सुखद संदेश प्रदान करने वाली हो, यही मंगल कामना और भावना है।

*विनम्र सेवक*

धूलिया } **कन्हैयालाल मिसरीलाल छाजेड़**
*मंत्री*
श्री अमोल जैन ज्ञानालय

उपाध्याय पं. मुनि श्री आनन्द ऋषिजी म. ने उसका संशोधन करने का अनुग्रह किया। इस प्रकार यह संशुद्ध द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष रखा गया है।

हमारी योजना क्रमशः बत्तीस ही आगम प्रकाशित करने की है। आचारांग सूत्रकृतांग छप चुके हैं। अग्रिम प्रकाशन शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं। प्रचार हेतु उनका मूल्य लागतमात्र रखा गया है। कागज की महघंता तथा श्रम-मूल्य वृद्धि के कारण इतना मूल्य रखना पड़ा है।

## आभार प्रदर्शन !

सर्व प्रथम स्व० पूज्य श्री अमोलकऋषिजी मा. सा. का जिन्होंने मूल आगमों का हिन्दी में सर्व प्रथम अनुवाद किया है, मैं ज्ञानालय की ओर से हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उनको विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इसके पश्चात प्रस्तुत संस्करण के संयोजक **पं. मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म. सा. एवं स्वर्गीय पं. मुनि श्री मुल्तान ऋषिजी म० का** आभार मानता हूं जिनकी संयोजना से हम यह संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं

भूतपूर्व प्रवर्तिनी परम विदुषी महासतीजी श्री सायरकुंवरजी म. सा. का हार्दिक आभार मानता हूं जिनकी ज्ञानालय के प्रति स्नेहमयी, आत्मिक भावना रही है और जिनकी अमृतमयी वाणी से ज्ञानालय के विकास कार्य मे बहुमूल्य सहयोग मिल रहा है।

**उपाध्याय पं. मुनि श्री आनन्दऋषि म० सा०** का आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने विद्वत्ता पूर्ण प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ के गौरव में वृद्धि की है!

प्रथम संस्करण के प्रकाशक और अमूल्य वितरक **राजा बहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जौहरी हैदराबाद** अत्यन्त धन्यवाद और अभिनंदन के पात्र हैं जिन्होंने अपनी विराट उदारता का परिचय देकर अनेक आगम जिज्ञासु आत्माओं को आगम रस का मधुर आस्वादन कराया।

१७ श्रीमान् चम्पालालजी पगारिया मद्रास
१८ ,, अमोल जैन स्था० सहायक समिति पूना
१९ ,, गिरधारीलालजी बालमुकनजी लूंकड़ बोरद
२० ,, श्री स्थानकवासी जैन श्रीसंघ घोटी
२१ श्रीमती भूरीबाई ध० छोगमलजी सुराणा वाणियमबाड़ी
२२ ,, मेहताबबाई ध० अमोलकचंदजी शीशोदिया ,,
२३ श्रीमान् कनीरामजी गांग की धर्मपत्नी सौ. रामकुँवरबाई पिपलगांव (नासिक)
२४ श्रीमान् मन्नालालजी सुराणा की धर्मपत्नी सौ. मदनबाई सिकंदराबाद
२५ ,, खिवराजजी जीवराजजी चोपड़ा होलनाथा (धूलिया)
२६ ,, बंडूलालजी तुलसीरामजी कटारिया वलवाड़ा (नासिक)

## संरक्षक:—

१ श्रीमान् किशनलालजी बच्छावत मूत्था की धर्मपत्नी गिलखीबाई रायचूर
२ ,, हंसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहताबबाई आलंदूर म०
३ ,, जयवंतराजजी भंवरलालजी चोरड़िया मद्रास
४ ,, निहालचंदजी मगराजजी सांकला वेलूर
५ ,, लाला रामचंद्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई हैदराबाद
६ ,, पुखराजजी लूंकड़ की धर्मपत्नी गजराबाई बेंगलोर
७ ,, किशनलालजी फूलचन्दजी लूणिया ,,
८ ,, मिश्रीलालजी कान्नेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई बेंगलोर
९ ,, उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैदराबाद
१० ,, गाढमलजी प्रेमराजजी बांठिया सिकंदराबाद
११ ,, मुल्तानमलजी चंदनमलजी सांकला ,,
१२ ,, जेठालालजी रामजी के सुपुत्र गुलाबचंदजी (स्व० माता जवलबाई की स्मृति में) सिकंदराबाद
१३ ,, गुलाबचंदजी चौथमलजी बोहरा रायचूर
१४ ,, जसराजजी शांतिलालजी बोहरा ,,
१५ ,, दौलतरामजी अमोलकचंदजी धोका यादगिरि
१६ ,, मांगीलालजी भण्डारी मद्रास
१७ ,, हीराचंदजी खिवराजजी चोरड़िया ,,
१८ ,, किशनलालजी रूपचंदजी लूनिया ,,
१९ ,, मांगीलालजी बंसीलालजी कोटड़िया ,,
२० ,, मोहनलालजी प्रकाशमलजी दूगड़ ,,

# श्री अमोल जैन ज्ञानालय-धूलिया (महाराष्ट्र)
# इस प्रकाशन-संस्था को आर्थिक सहायता देने वाले सज्जनों की शुभ नामावली

## हमारे सदस्य

जन्म दाता:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | श्रीमान् | राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी | हैदराबाद |
| २ | ,, | प्रेमराजजी चन्दूलालजी छाजेड़ | ,, |
| ३ | ,, | मोतीलालजी गोविन्दरामजी श्रीश्रीमाल | धूलिया |
| ४ | ,, | हीरालालजी लालचंदजी धोका | यादगिरि |
| ५ | ,, | केवलचन्दजी पन्नालालजी बोरा | बेंगलोर |
| ६ | ,, | सरदारमलजी नवलचंदजी पुंगलिया | नागपुर |
| ७ | ,, | केसरचंदजी कचरदासजी बोरा | आरवी (नगर) |

स्तम्भ:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | श्रीमान् | जैन श्रावक संघ | बार्शी |
| २ | ,, | दलीचन्दजी चुन्नीलालजी बोरा | रायचूर |
| ३ | ,, | शम्भूमलजी गंगारामजी मूथा | बेंगलोर |
| ४ | ,, | अगरचंदजी मानमलजी चोरड़िया | मद्रास |
| ५ | ,, | कुन्दनमलजी लूंकड़ की सुपुत्री श्री सायरबाई | बेंगलोर |
| ६ | ,, | मानचंदजी भगवानदासजी दूगड़ | घोड़नदी |
| ७ | ,, | बस्तीमलजी हस्तीमलजी मूथा | रायचूर |
| ८ | ,, | तेजराजजी उदयराजजी रूनवाल | रायचूर |
| ९ | ,, | मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी | ,, |
| १० | ,, | नेमीचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा | वेलूर |
| ११ | ,, | पुखराजजी सम्पतराजजी धोका | यादगिरि |
| १२ | ,, | इंदरमलजी गेलड़ा | मद्रास |
| १३ | ,, | विरदीचंदजी लालचंदजी मरलेचा | ,, |
| १४ | ,, | जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरबाई | सुरापुर |
| १५ | ,, | चम्पालालजी लोढा की पत्नी श्रीमती घीसीबाई | सिकंदराबाद |
| १६ | ,, | सज्जनराजजी मूथा की धर्मपत्नी उमरावबाई आलंदूर | मद्रास |

# प्रस्तावना

आज के वैज्ञानिक युग में ज्ञान और विज्ञान का सामञ्जस्य होना परम आवश्यक है। आज विज्ञान तो बड़ी तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है। नित्य नये-नये आविष्कारों से जनता आश्चर्यान्वित है। साथ ही विज्ञान का संहारक रूप भी विश्व के सामने भयंकर रूप में उपस्थित है। सारा विश्व अणुबम उद्जन बमों से होने वाले विनाश की कल्पना मात्र से सिहर उठा है। विज्ञान की अन्वेषणात्मक वृत्ति जहां हितावह है वहां उसकी संहारकता परम घातक है। विज्ञान की इस त्रुटि को दूर करने के लिये आवश्यक है कि विज्ञान का संबध अध्यात्म ज्ञान के साथ जोड़ा जाय। विज्ञान की शक्ति को जब अध्यात्म का रासायनिक पुट प्राप्त होगा तो वह जहर भी परमौषधि की तरह कल्याणकारी हो सकेगा। अतः आवश्यक है कि संसार में अध्यात्म का प्रचार और प्रसार किया जाय। अध्यात्म के विकास हेतु जैन आगमों का व्यापक प्रचार होना चाहिये। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर देव की वाणी में विश्व-कल्याण और विश्व-शान्ति के तत्व सन्निहित हैं। तीर्थंकर देव का परम कल्याणकारिणी वाणी द्वादशांग रूप में संकलित है। जिनमें प्रथम अंग आचारांग है जिसका प्रकाशन इस *अमोल जैन ज्ञानालय धूलिया* द्वारा दो वर्ष पूर्व किया जा चुका है।

हर्ष का विषय है कि ज्ञानालय की ओर से द्वितीय अंग श्री सूत्रकृतांग का प्रकाशन किया जा रहा है। आचारांग में एक ओर जहां आत्मा को सद्बुद्ध करने वाले आध्यात्मिक उपदेश हैं वहां दूसरी ओर साधु के आचार का विस्तृत निरूपण किया गया है। नन्दीसूत्र के मूल पाठ में सूयगडं का परिचय देते हुए लिखा गया है कि—

"सूयगडं में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्व-परसमय का सुन्दर सूचन किया गया है। सूयगडं में ८० क्रियावादी चौरासी अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी, बत्तीस विनयवादी इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ मतों को व्यूह बनाकर स्वदर्शन में स्थापित किया गया है। सूत्रकृतांग में परिमित वाचनाएँ हैं, संख्यात अनुयोगद्वार है, संख्यात वेढ रूप छन्द और संख्येय श्लोक हैं, संख्यात निर्युक्ति, संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। अंग की अपेक्षा यह दूसरा अंग है। इसके दो श्रुतस्कंध और तेवीस अध्ययन है। इसमें तैंतीस उद्देशनकाल, तैंतीस समुद्देशनकाल है। इसके छत्तीस हजार पद हैं संख्यात अक्षर और अनन्त अर्थज्ञान हैं। अनन्त पर्याय हैं।"

७९ श्रीमान् ताराचन्दजी राजमलजी कांकरिया ,, ,,
(स्व० श्री कपूरचन्दजी के स्मरणार्थ)

८० ,, स्व० छगनलालजी पारख की धर्मपत्नी चांदाबाई, नासिक

८१ ,, स्व. वनेचंदजी के स्मरणार्थ श्रीमान् झुंबरलालजी की
मातुश्री श्रीमती चम्पाबाई पगारिया पाथर्डी (नासिक)

८२ ,, जैन दिवाकर मंडल हस्ते श्री० दगडूलालजी गांधी सुकेणे

८३ ,, कल्याणजी वछराजजी हस्ते श्री० प्राणजीवनजी वछराजजी
मालेगांव (नासिक)

८४ ,, धरमचन्दजी रिधकरणजी मोदी उमराणे (नासिक)

८५ ,, घोंडीरामजी की धर्मपत्नी श्रीमती जमनाबाई की तरफ से
हस्ते श्री० रतनलालजी ओस्तवाल उमराणे (नासिक)

८६ श्रीमती नाजूबाई भ० ताराचंदजी बाफणा होलनाथा (धूलिया)

८७ स्व० मुनिश्री मुल्तान ऋषिजी म० सा० की स्मृति में
श्रीमान् शंकरलालजी मोतीलालजी दुगड़ वडनेर

क्षणिकवाद, नियतिवाद, क्रियावाद, जगत् कर्तृत्व, त्रैराशिकमत इत्यादि का उल्लेख करके इनका खण्डन किया गया है।

दूसरे वैतालिक अध्ययन में "संबुज्झह किं न बुज्झह" (समझो, क्यों नहीं समझते हो) कहकर जगत् के जीवों को बड़ा मार्मिक उपदेश दिया गया है।

भ० ऋषभदेव के ९८ पुत्र अपने ज्येष्ठ भाई चक्रवर्ती भरत द्वारा उपेक्षा किये जाने पर भगवान की शरण में गये तब आदिनाथ भगवान् न उनको जो उपदेश दिया वह यहां संकलित है।

सचमुच इस अध्ययन में विषयभोगों की असारता एवं आयुष्य की चंचलता का मार्मिक चित्रण करके अहंकार के परित्याग का उपदेश दिया गया है। संसार का राज्य-वैभव त्राणरूप नहीं है केवल सदधर्म की शरण एवं संयम ही त्राण रूप है यह इस अध्ययन का सार है।

तृतीय उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन में वीरता और कायरता का निरूपण करते हुए स्वजनादि के अनुकूल उपसर्गों के समय पहाड़ की तरह अडोल रहने का उपदेश दिया गया है।

चतुर्थ स्त्री परिज्ञा अध्ययन में कामभोग की आसक्ति और उसके फलस्वरूप होने वाले दुःखों का कथन किया गया है।

पांचवें नरक विभक्ति अध्ययन में पाप परिणति के द्वारा आत्मा को नरकगति में जाना पड़ता है और वहां परमाधार्मिक देवताओं के द्वारा दिये जाने वाले तथा परस्परोदीरित नाना प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है उसका भयावना चित्र खींचा गया है।

छठे वीरस्तव अध्ययन में वर्तमान शासन क अधिपति चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर को प्रशस्त विविध उपमाओं से उपमित करके उनका यशोगान किया गया है।

सातवें अध्ययन में सुशील और कुशील की परिभाषा बताई गई है। आठवें अध्ययन में बालवीर्य और पण्डित वीर्य का निरूपण किया गया है।

धर्म नामक नौवें अध्ययन में सद्बोध तथा दयाधर्म का स्वरूप बताकर साधु-आचार की शिक्षा दी गई है।

समाधि नामक दसवें अध्ययन में समाधिभाव को ही धर्म का आधार बताते हुए समाधिवान के लक्षण तथा गुण बताये गये हैं।

मोक्षमार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन में ज्ञान–दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा गया है।

तेरहवें यथातथ्य अध्ययन में शुद्धाचारी धर्मोपदेशक के तथा स्वच्छंदाचारी अविनीत के लक्षण बताये गये हैं।

आगम चार प्रकार के अनुयोगों में विभक्त है-चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग। इन चार अनुयोगों में से सूत्रकृतांग में द्रव्यानुयोग का निरूपण किया गया है। विश्व में प्रचलित विविध दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का इसमें उल्लेख करते हुए अन्त में यह बताया गया है कि एकान्त पक्ष मिथ्या है और अनेकान्त पक्ष ही सत्य और युक्तिसंगत है।

आचारांग में मुख्यतया अहिंसा का निरूपण है तो सूयगडं में अपरिग्रह का महत्व बताया गया है। परिग्रह का बन्धन सबसे अधिक कठोर बन्धन है। इस परिग्रह के बन्धन को तोड़ने के लिये ही इस सूत्र की आदि में कहा गया है-

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टई

बोध प्राप्त करना चाहिये और परिग्रह को बन्धन जानकर उसे तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रथम अध्ययन की उक्त प्रथम गाथा में ही ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है। विश्व में प्रचलित एकान्तवादी दर्शनों में से कोई २ दर्शन ज्ञान को ही महत्व देते हैं, क्रिया को नहीं तो कोई २ दर्शन क्रिया को प्रधानता देते हुए ज्ञान का अपलाप करते हैं। ये दोनों प्रकार की एकान्त मान्यताएं अपूर्ण हैं। जिनेन्द्रदेव इनका समन्वय करते हुए फरमाते हैं कि-

हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ॥

अर्थात् क्रिया से रहित ज्ञान निष्फल है और ज्ञान रहित क्रिया भी अर्थसाधिका नहीं होती है। जिस प्रकार जंगल में दावानल लगने पर पंगु देखता हुआ भी चलने में असमर्थ होने से जल जाता है। अंधा यद्यपि चलने में समर्थ है परन्तु देख न सकने के कारण वह भी जल जाता है। परन्तु अंधा और पंगु यदि परस्पर समझौता करलें तो वे दोनों दावानल से बचकर सुरक्षित स्थान पर पहुंच सकते हैं। इसी तरह ज्ञान और क्रिया का समन्वय मोक्ष रूपी इष्ट स्थान पर पहुंचाने वाला होता है। इसीलिये कहा गया है "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।"

'बुज्झिज्ज' पद से ज्ञान और 'तिउट्टिज्जा' पद से क्रिया का निरूपण करते हुए सूत्रकार ने मुक्ति का पथ प्रदर्शन किया है।

द्वितीयादि उद्देशकों में आत्मा के अस्तित्व का सुन्दर निरूपण किया है। आत्मा का अपलाप करने वाले चार्वाक दर्शन का सुन्दर युक्तियों से खण्डन करके आत्मा की सिद्धि की गई है। आत्माद्वैतवाद तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद का उल्लेख करके विविध तर्कों द्वारा इनका युक्ति युक्त निरसन किया गया है। बौद्ध दर्शन का एकान्त

[क्ष]णिकवाद, नियतिवाद, क्रियावाद, जगत् कर्तृत्व, त्रैराशिकमत इत्यादि का उल्लेख [क]रके इनका खण्डन किया गया है।

दूसरे वैतालिक अध्ययन में "संबुज्झह किं न बुज्झह" (समझो, क्यों नहीं [स]मझते हो) कहकर जगत् के जीवों को बड़ा मार्मिक उपदेश दिया गया है।

भ० ऋषभदेव के ९८ पुत्र अपने ज्येष्ठ भाई चक्रवर्ती भरत द्वारा उपेक्षा किये जाने पर भगवान की शरण में गये तब आदिनाथ भगवान् ने उनको जो उपदेश दिया वह यहां संकलित है।

सचमुच इस अध्ययन में विषयभोगों की असारता एवं आयुष्य की चंचलता का मार्मिक चित्रण करके अहंकार के परित्याग का उपदेश दिया गया है। संसार का राज्य-वैभव त्राणरूप नहीं है केवल सदधर्म की शरण एवं संयम ही त्राण रूप है यह इस अध्ययन का सार है।

तृतीय उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन में वीरता और कायरता का निरूपण करते हुए स्वजनादि के अनुकूल उपसर्गों के समय पहाड़ की तरह अडोल रहने का उपदेश दिया गया है।

चतुर्थ स्त्री परिज्ञा अध्ययन में कामभोग की आसक्ति और उसके फलस्वरूप होने वाले दुःखों का कथन किया गया है।

पांचवें नरक विभक्ति अध्ययन में पाप परिणति के द्वारा आत्मा को नरकगति में जाना पड़ता है और वहां परमाधार्मिक देवताओं के द्वारा दिये जाने वाले तथा परस्परोदीरित नाना प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है उसका भयावना चित्र खींचा गया है।

छठे वीरस्तव अध्ययन में वर्तमान शासन के अधिपति चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर को प्रशस्त विविध उपमाओं से उपमित करके उनका यशोगान किया गया है।

सातवें अध्ययन में सुशील और कुशील की परिभाषा बताई गई है। आठवें अध्ययन में बालवीर्य और पण्डित वीर्य का निरूपण किया गया है।

धर्म नामक नौवे अध्ययन में सद्बोध तथा दयाधर्म का स्वरूप बताकर साधु-आचार की शिक्षा दी गई है।

समाधि नामक दसवें अध्ययन में समाधिभाव को ही धर्म का आधार बताते हुए समाधिवान के लक्षण तथा गुण बताये गये हैं।

मोक्षमार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन में ज्ञान–दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा गया है।

तेरहवें यथातथ्य अध्ययन में शुद्धाचारी धर्मोपदेशक के तथा स्वच्छंदाचारी अविनीत के लक्षण बताये गये हैं।

ग्रन्थाख्य चतुर्दश अध्ययन में एकलविहार के दोष, हितशिक्षा का ग्रहण व पालन तथा धर्मकथा की रीति बताई गई है।

आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन में श्रद्धा, दया, धर्म दृढ़ता आदि से मोक्ष की साधना होने का निरूपण है।

गाथा नामक सोलहवें अध्ययन में श्रमण, माहण, भिक्षु और साधु शब्द का अर्थ और विशद व्याख्या प्रदर्शित की गई है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययनों का विषय निरूपण हुआ।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में पुण्डरीक कमल के दृष्टान्त से यह निरूपण किया गया है कि सदाचारी सुसंयमी पुरुष ही सफल उद्धारक हो सकता है।

दूसरे अध्ययन में तेरह क्रिया स्थानों का स्पष्टीकरणपूर्वक वर्णन किया गया है।

तीसरे अध्ययन में आहार, चतुर्थ में प्रत्याख्यान विषयक सूक्ष्म विवेचन, पांचवें में अनाचार विषयक विविध मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठे अध्ययन में आर्द्रककुमार का विविध मतावलम्बियों से संवाद तथा अन्त में शुद्ध संयम मार्ग में दीक्षित होने का वर्णन किया है।

सातवें अध्ययन में उदक पेढालपुत्र तथा गौतम स्वामी की चर्चा का वर्णन करके विविध प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग सम्बन्धी सूचना करने वाला यह सूत्रकृतांग सूत्र जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है।

स्व० पूज्य *श्री अमोलक ऋषिजी म०* ने बत्तीस सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया था। वह बत्तीसी वर्तमान में उपलब्ध न होने से उसका संशोधित नवीन संस्करण निकालने का पं. मुनि *श्री कल्याण ऋषिजी म०* के सदुपदेश से संस्थापित *श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया* ने किया है। उसमें से प्रथम सूत्र आचारांग प्रकाशित हो गया है और यह दूसरा सूत्र प्रकाशित हो रहा है। यह प्रयास सराहनीय है। आशा है ज्ञानालय अगले सूत्रों को भी शीघ्र प्रकाशित कर जनता को आगम-सुधा का आस्वादन कराएगा। ॐ शान्तिः।

लेखकः—

—श्रमण संघ के आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी म.

# श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रम्

## प्रथम श्रुतस्कंध

## समय नामक प्रथम अध्ययन

### स्वसमयवक्तव्यता

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टई ? ॥ १ ॥

अर्थ—इस संसार में कितनेक लोग अकेले ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तो कई मतवाले अकेली क्रिया से मुक्ति मानते हैं, किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान और क्रिया—दोनों से मुक्ति होती है। यही मान्यता इस गाथा में प्रदर्शित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए और बन्धन को अर्थात ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को अथवा बंधन के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को अथवा आरंभ-परिग्रह को ज्ञपरिज्ञा से जानकर त्यागना चाहिए।

श्रीसुधर्मा स्वामी के इस प्रकार कहने पर श्रीजम्बू स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवान् महावीर ने बन्धन किसे कहा है ? और क्या जानकर बन्धन को दूर करना चाहिए ? ॥ १ ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥ २ ॥

अर्थ—मनुष्य पशु आदि सचित्त तथा वस्त्र आभूषण मकान आदि अचित्त पदार्थों को अथवा उभय रूप पदार्थों को थोड़ा-सा भी ग्रहण करता है—परिग्रह रूप

ग्रन्थाख्य चतुर्दश अध्ययन में एकलविहार के दोष, हितशिक्षा का ग्रहण व पालन तथा धर्मकथा की रीति बताई गई है।

आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन में श्रद्धा, दया, धर्म दृढ़ता आदि से मोक्ष की साधना होने का निरूपण है।

गाथा नामक सोलहवें अध्ययन में श्रमण, माहण, भिक्षु और साधु शब्द का अर्थ और विशद व्याख्या प्रदर्शित की गई है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययनों का विषय निरूपण हुआ।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में पुण्डरीक कमल के दृष्टान्त से यह निरूपण किया गया है कि सदाचारी सुसंयमी पुरुष ही सफल उद्धारक हो सकता है।

दूसरे अध्ययन में तेरह क्रिया स्थानों का स्पष्टीकरणपूर्वक वर्णन किया गया है।

तीसरे अध्ययन में आहार, चतुर्थ में प्रत्याख्यान विषयक सूक्ष्म विवेचन, पाँचवे में अनाचार विषयक विविध मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठे अध्ययन में आर्द्रककुमार का विविध मतावलम्बियों से संवाद तथा अन्त में शुद्ध संयम मार्ग में दीक्षित होने का वर्णन किया है।

सातवें अध्ययन में उदक पेढालपुत्र तथा गौतम स्वामी की चर्चा का वर्णन करके विविध प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग सम्बन्धी सूचना करने वाला यह सूत्रकृतांग सूत्र जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है।

स्व० पूज्य *श्री अमोलक ऋषिजी म०* ने बत्तीस सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया था। वह बत्तीसी वर्तमान में उपलब्ध न होने से उसका संशोधित नवीन संस्करण निकालने का पं. *मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म०* के सदुपदेश से संस्थापित *श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया* ने किया है। उसमें से प्रथम सूत्र आचारांग प्रकाशित हो गया है और यह दूसरा सूत्र प्रकाशित हो रहा है। यह प्रयास सराहनीय है। आशा है ज्ञानालय अगले सूत्रों को भी शीघ्र प्रकाशित करें जनता को आगम-सुधा का आस्वादन कराएगा। ॐ शान्तिः।

लेखकः—

—श्रमण संघ के आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी म.

भिक्षु ) और माहन ( बृहस्पति के मत के अनुयायी नास्तिक ब्राह्मण ) परमार्थ को न जानते हुए, अपने ही मत के कदाग्रही बन कर अरिहंतभाषित शास्त्रों को त्याग कर कामभोगों में आसक्त होते हैं ॥ ६ ॥

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिय
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगासपंचमा ॥७॥

अर्थ—बृहस्पतिमतानुयायी चार्वाक का मत यह है कि–इस जगत् में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और पाँचवाँ आकाश; यही पाँच महाभूत हैं। ( इनसे भिन्न आत्मा आदि कोई भी पदार्थ नहीं है ) ॥ ७ ॥

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥ ८ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त पाँच महाभूत हैं। इनके संयोग से एक ( चेतना ) की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् भूतों का विनाश होने पर उस एक—चेतना का भी विनाश हो जाता है। ऐसा चार्वाकमत का कथन है। तात्पर्य यह है कि चार्वाक मत के अनुसार परलोक से आने वाला, परलोक जाने वाला, सुख-दुःख को भोगने वाला जीव नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। जब उनसे प्रश्न किया जाता है कि यदि जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं है तो मृत्यु किसकी होती है ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—पाँच भूतों का विनाश होने से उस चेतना का विनाश हो जाता है। चार्वाक की इस मान्यता का निराकरण आगे किया जायगा ॥८॥

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ ॥९॥

अर्थ—जैसे एक ही पृथ्वी समूह नदी, समुद्र, पर्वत, ग्राम, नगर आदि नाना रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् एक आत्मा रूप ही है, किन्तु अनेक रूपों में दिखाई देता है।

चार्वाक चेतन तत्त्व की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न करके एक मात्र जड़तत्त्व को ही स्वीकार करता है। इससे बिलकुल विपरीत आत्माद्वैतवादी एक आत्मा की ही सत्ता अंगीकार करता है। वह कहता है कि आत्मा के अतिरिक्त जड़ तत्त्व तो कोई है ही नहीं, परन्तु आत्मा भी एक ही है अनेक नहीं। प्रत्येक शरीर में अलग–

में अंगीकार करता है, दूसरे को अंगीकार कराता है अथवा परिग्रह अंगीकार करने वाले को भला जानता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है ॥ २ ॥

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं जीवों का हनन करता है, अथवा दूसरों से हनन करवाता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है, वह उन हनन किये जाने वाले जीवों के साथ अपनी आत्मा का वैर बढ़ाता है ।

प्रथम गाथा में परिग्रह और आरंभ को बन्धन रूप बतलाया गया । उसी का द्वितीय और तृतीय गाथा में वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहि मुच्छिए ॥४॥

अर्थ—अज्ञानी जीव जिस कुल में उत्पन्न होता है और जिनके साथ निवास करता है, उन माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि में ममता धारण करता हुआ पीड़ित होता है और अन्यान्य–नवीन–नवीन पदार्थों में आसक्त होता रहता है ॥४॥

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीवियं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्टई ॥ ५ ॥

अर्थ—बन्धन का स्वरूप दिखलाने के पश्चात् अब यह दिखलाते हैं कि क्या जान कर बंधन को तोड़ना चाहिए ? धन–वैभवादिक तथा भाई–भगिनी आदि कोई भी सजीव–निर्जीव पदार्थ बचाने में समर्थ नहीं है । यह जीवन भी अल्प तथा अस्थिर है । ऐसा जान कर जो आरंभ–परिग्रह का परित्याग करता है, वह कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥ यह स्वसमय का कथन हुआ ।

## परसमयवक्तव्यता

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

अर्थ—इस अध्ययन में स्वसमय की वक्तव्यता के साथ परसमय की वक्तव्यता भी सन्निविष्ट है । अतएव यहाँ स्वसमय की वक्तव्यता प्रदर्शित करके अब परसमय की वक्तव्यता दिखलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—कोई–कोई श्रमण ( शाक्य आदि

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

अर्थ—तज्जीवतच्छरीरवादी के मत के अनुसार न पुण्य है, न पाप है। इस लोक के अतिरिक्त दूसरा लोक भी नहीं है। शरीर का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा का या आत्मा के परलोकगमन का तथा पुण्य-पाप का अभाव मानने वालों को यह उत्तर देना चाहिए कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है और पुण्य–पाप का सद्भाव नहीं है तो जगत् में जो विचित्रता दिखाई देती है, वह नहीं होनी चाहिए। कोई धनवान् कोई दरिद्र, कोई सुरूप कोई कुरूप, कोई सुखी कोई दुखी, कोई रोगी कोई नीरोग, यह विचित्रता शुभ-अशुभ कर्म के विना संभव नहीं है। उस कर्म को भोगने के लिए आत्मा को परलोक में जाना पड़ता है। अतः तुम्हारा मन्तव्य युक्ति संगत नहीं है ॥१२॥

यह तज्जीवतच्छरीरवादी का मत कहा गया।

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जइ ।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥१३॥

अर्थ—**अकारकवादी** का मत प्रदर्शित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं— आत्मा न स्वयं क्रिया करता है और न दूसरे से करवाता है। इस प्रकार वह सभी क्रियाएँ नहीं करता है, अतएव आत्मा अकारक है। ऐसा अकारकवादी सांख्य आदि कहने की धृष्टता करते हैं ॥१३॥ यह अकारकवादी का मत कहा गया ॥

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ।
तमाओ ते तमं जन्ति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

अर्थ—जो लोग ऐसा मानते हैं, अर्थात् आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे कर्त्ता नहीं मानते, उनके मत में चार गति रूप संसार किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् आत्मा यदि शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता नहीं है तो वह कभी नारक, कभी देव, कभी मनुष्य और कभी तिर्यंच योनि कैसे धारण करेगा ? इस प्रकार वे अज्ञानी जन एक अज्ञानान्धकार से निकल कर दूसरे अज्ञानान्धकार को प्राप्त होते हैं—भूतवाद के अज्ञान से अलग होकर भी अक्रियावाद के अज्ञान में फँसे हैं। वे जीव को अकर्त्ता मान कर आरंभ में आसक्त हो जाते हैं, अतएव तम (नरक) में जाते हैं ॥१४॥

अलग आत्माएँ नहीं है।*एक ही आत्मा नाना रूपों में दीख पड़ती है॥ ६॥

एवमेगे त्ति जप्पंति, मन्दा आरंभणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥ १० ॥

अर्थ—यहाँ आत्माद्वैतवाद का निराकरण किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं—कोई-कोई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि एक ही आत्मा है। किन्तु इस जगत् में आरम्भ में आसक्त प्राणी स्वयं पाप करके तीव्र दुःख प्राप्त करते हैं; दूसरे नहीं।

तात्पर्य यह है कि—जो जीव पापकर्म करता है, वह छेदन-भेदन आदि के अनेक दुःख भोगता है, और जो अच्छा आचरण करता है, वह सुखी होता है। यदि समस्त जगत् में एक ही आत्मा हो तो यह भेद कैसे हो सकता है ? या तो सभी जीव समान रूप से सुखी हों या सभी दुःखी हों। किन्तु ऐसा होता नहीं, अतएव सब आत्माएँ अलग-अलग ही हैं॥१०॥

पत्तेयं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिया।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

अर्थ—इस गाथा में तज्जीवतच्छरीरवादी का मत बतलाया गया है। उसका कथन है कि-पाँच भूतों के समुदाय से अर्थात् पाँच भूतों के शरीराकार परिणत होने पर आत्मा की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा है। जगत् में जो अज्ञानी हैं और ज्ञानी हैं, वे अलग-अलग हैं। किन्तु मरने के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता, अतः परलोक में जाने वाला कोई नित्य पदार्थ नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चार्वाक तथा तज्जीवतच्छरीरवादी के मन्तव्य में क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है उसके मत से भूत ही सब क्रियाएँ करते हैं। और तज्जीवतच्छरीरवादी कहता है कि शरीराकार में परिणत भूतों से आत्मा की उत्पत्ति होती है। यही दोनों में अन्तर है॥११॥

---

*जैसा कि कहा है:—एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ १ ॥

अर्थात् एक ही आत्मा सभी भूतों में रहा हुआ, जल में प्रतिबिम्बित विभिन्न चन्द्रों के समान नाना रूपों में दिखाई पड़ता है ॥ १ ॥

वेदन किसे होगा ? विज्ञानस्कंध क्षणिक होने के कारण सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता : अतएव आत्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना ही उचित है ॥ १८ ॥

अगारमावसंता वि, अरण्णा यावि पव्वया ।
इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त सभी मतावलम्बी अपने-अपने दर्शन को मुक्ति का कारण बतलाते हैं—चाहे कोई घर में निवास करता हो—गृहस्थ हो, या वन में निवास करता हो अथवा दीक्षित हो, जो हमारे इस दर्शन को अंगीकार करते हैं, वे सभी दुःखों से छुटकारा पा जाते हैं ॥ १९ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥ २० ॥

अर्थ—वे पंचभूतवादी आदि ज्ञानावरण आदि कर्मों की संधि को न जान कर दुःख से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे दस प्रकार के यति धर्म को नहीं जानते। इस प्रकार के अफलवाद के समर्थक असमंजस वचन बोलने वाले भव-समुद्र को पार नहीं कर सकते ॥२०॥

ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥२१॥

अर्थ—पूर्वोक्त अन्य तीर्थी संधि को जाने बिना ही दुःख से मुक्त होने की क्रिया करते हैं। वे धर्म के स्वरूप को नहीं जानते हैं। अतएव जो ऐसे वादी हैं, वे जन्म-मरण रूप संसार के पार नहीं पहुंच सकते ॥२१॥

ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

अर्थ—पूर्वोक्त अन्य तीर्थी संधि को बिना जाने ही क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं। वे धर्म को नहीं जानते। अतएव जो ऐसे वादी हैं, वे गर्भ को पार नहीं कर सकते हैं ॥२२॥

ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार्वाक आदि अन्य तीर्थी संधि को बिना जाने ही क्रिया करते हैं। वे धर्म को नहीं जानते। अतएव जो ऐसे वादी हैं, वे जन्म को पार नहीं कर सकते ॥२३॥

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसि आहिया ।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

अर्थ—आत्मषष्ठवादियों का मन्तव्य है कि—पाँच महाभूत हैं और छठा आत्मा है। आत्मा नित्य है और लोक भी नित्य है ॥१५॥

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियत्तीभावमागया ॥१६॥

अर्थ—नित्यवादी का कथन है कि—पूर्वोक्त पाँच महाभूत और छठा आत्मा दोनों प्रकार के—सहेतुक या अहेतुक—विनाश॰ से विनष्ट नहीं होते। तथा असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं ॥१६॥

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥ १७ ॥

अर्थ—कोई-कोई अज्ञानी ( बौद्ध ) कहते हैं–क्षणमात्र स्थित रहने वाले पाँच स्कंध ही हैं। उनसे भिन्न या अभिन्न, कारण से उत्पन्न होने वाला आत्मा नामक पृथक् पदार्थ नहीं है।

स्पष्टीकरण—रूप,वेदना, विज्ञान,संज्ञा और संस्कार,ये पाँच स्कन्ध हैं। पृथ्वी, धातु तथा रूप आदि रूपस्कंध है। सुख दुःख आदि का अनुभव वेदनास्कंध है। रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञानस्कंध है। वस्तु का बोधक शब्द संज्ञास्कंध है। पुण्य-पाप आदि धर्मों का समूह संस्कारस्कंध है। इन पाँच स्कंधों के अतिरिक्त आत्मा नहीं है। यह अफलवादियों का मत है ॥ १७ ॥

पुढवी आऊ य तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥ १८ ॥

अर्थ—दूसरे बौद्धों का कथन है कि पृथ्वी, पानी, तेज और वायु यह चार धातु के रूप हैं। यह चारों जब शरीर के रूप में परिणत होते हैं, तब यही जीव कहलाने लगते हैं। अर्थात इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा पदार्थ नहीं है। इनको भी अफलवादी कहना चाहिए। अगर आत्मा न हो तो सुख दुःख रूप फल का

---

॰ डंडे आदि के संयोग से घट आदि का विनाश होना सहेतुक विनाश है और बौद्धमत के अनुसार स्वभाव से क्षण-क्षण में होने वाला विनाश निर्हेतुक विनाश है।

## द्वितीय उद्देशक

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो सिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ ॥ १ ॥

अर्थ—**नियतिवादी** का कथन है-जीव प्रत्येक शरीर में पृथक-पृथक् हैं, यह युक्ति से सिद्ध है। वे सब अलग-अलग ही अपने-अपने सुख-दुःख को भोगते हैं और अलग-अलग ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं; अर्थात् जन्म-मरण करते हैं।॥ १ ॥

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥ २ ॥

अर्थ—जगत् के जीव जो सुख-दुःख भोगते हैं, वह उनका अपना किया हुआ नहीं है और न ईश्वर या स्वभाव आदि द्वारा किया हुआ है। स्वयंकृत होता तो समान रूप से पुरुषार्थ-व्यापार आदि-करने वालों को समान सुख-दुःख की प्राप्ति होती, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसी प्रकार ईश्वर, काल, स्वभाव आदि द्वारा भी सुख-दुःख की उत्पत्ति होना सिद्ध नहींहोता अतएव सैद्धिक ( सिद्धि से उत्पन्न ) अथवा असेद्धिक ( असिद्धि से उत्पन्न ) सुख और दुःख न स्वयंकृत हैं, न अन्यकृत हैं ॥ २ ॥

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया ।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहिअं ॥ ३ ॥

अर्थ—पृथक्-पृथक् जीव जिस सुख-दुःख का वेदन करते हैं, वह न स्वयंकृत है और न अन्यकृत है। जीवों का वह सुख-दुःख नियति (भवितव्यता-होनहार) द्वारा उत्पन्न होता है। ऐसा नियतिवादियों का कथन है ॥ ३ ॥

ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

अर्थ—पूर्वोक्त अन्य तीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं। वे धर्म के स्वरूप को नहीं समझते। अतः जो ऐसे वादी हैं—मिथ्या प्ररूपणा करते हैं, वे दुःख को पार नहीं कर सकते ॥२४॥

ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

अर्थ—अन्य तीर्थी संधि को न जानकर कर्म-बंध से मुक्त होने की क्रिया करते हैं। वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। अतएव मिथ्या सिद्धान्त का कथन करने वाले वे मृत्यु को पार नहीं कर सकते, अर्थात् उन्हें पुनः पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है ॥२५॥

णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोंति पुणो पुणो ।
संसार-चक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करने वाले वादी मृत्यु, व्याधि तथा जरा से परिपूर्ण संसार रूपी चक्र में बार-बार विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं ॥२६॥

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संति णंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणुत्तमे ।२७। त्ति बेमि ॥

अर्थ—जिनों में उत्तम ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर ने ऐसा कहा है कि पूर्वोक्त नास्तिक आदि *(अपने मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के कारण)* उच्च-नीच गतियों में परिभ्रमण करते हुए अनन्तशः-निरन्तर गर्भवास को प्राप्त होंगे ॥२७॥

श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं–मैं तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से ऐसा कहता हूं, अपनी बुद्धि से नहीं।

इति ससमयपरसमयज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

शंका नहीं करते; वह रक्षा के स्थान को शंकायुक्त समझते हैं और पाश वाले स्थान को शंका रहित समझते हैं। इस प्रकार अज्ञान और भय से व्याकुल वे मृग पाश वाले स्थान में ही जा पहुँचते हैं। अब यदि वह मृग पाश के ऊपर से चला जाय अथवा पाश के नीचे से निकल जाय तो उससे बच सकता है! परन्तु मूर्ख मृग इस बात को जानता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जैसे मूर्ख मृग अपने अज्ञान के कारण रक्षा के स्थान को छोड़कर बन्धन स्थान को स्वीकार करता है और वहाँ जाकर फँस जाता है, इसी प्रकार अज्ञानवादी अपने अज्ञान के कारण रक्षा के स्थान अनेकान्तवाद को त्याग कर बन्धन के स्थान रूप एकान्तवाद को शरण लेते हैं। आगे के सूत्र में इसी को स्पष्ट किया गया है ॥ ६-८ ॥

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥ ९॥

अर्थ—अपना अहित करने वाला, अहित प्रज्ञा का धारक, और बन्धन युक्त स्थान में प्राप्त हुआ वह मृग, विषम प्रदेश में प्राप्त होकर तथा पाद बन्धन से बद्ध होकर नाश को प्राप्त होता है। अर्थात् बंधन स्थान में गये हुए उस मृग के पैर पाश में फँस जाते हैं और वह मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥१०॥

अर्थ—इसी प्रकार कोई-कोई मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य श्रमण, शंका के अयोग्य धर्म के अनुष्ठानों में शंका करते हैं और शंका करने योग्य अनुष्ठानों में शंका नहीं करते! ( इस प्रकार मूढ़ता के वशीभूत होकर वे आरंभ आदि में प्रवृत्ति करते हैं, जिससे अनेक अनर्थ होते हैं। ) ॥ १० ॥

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया ॥११॥

अर्थ-वे मूढ, विवेकविकल तथा शास्त्र ज्ञान से रहित अज्ञानवादी आदि अन्यतीर्थी दश प्रकार के क्षमा आदि धर्मों की सच्ची प्ररूपणा में तो शंका करते हैं, परन्तु पाप के कारण आरंभों में शंका नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो ।
नियानियमयं संतं अयाणंता अबुद्धिया ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार सुख-दुःख को नियतिकृत कहने वाले वास्तव में अज्ञानी हैं, फिर भी अपने को पण्डित मानते हैं। सुख और दुःख नियतिकृत भी हैं और अनियतिकृत भी हैं, किन्तु इस सिद्धान्त को नहीं जानते हुए और उन्हें एकान्त रूप से नियतिकृत मानते हुए नियतिवादी बुद्धिहीन हैं ॥ ४ ॥

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥ ५ ॥

अर्थ-इस प्रकार सब पदार्थों को, एकान्त रूप से नियतिकृत ही मानने वाले पार्श्वस्थ बार-बार एक मात्र नियति को ही कर्त्ता कहने की धृष्टता करते हैं। वे अपनी मान्यता के अनुसार परलोक की क्रिया में प्रवृत्ति करते हुए भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

तात्पर्य यह है कि नियति, स्वभाव, काल, आत्मा आदि अनेक कारणों में से अन्य का निषेध करके एक मात्र नियति को ही कारण मानना धृष्टता मात्र है। ऐसी दूषित मान्यता के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते ॥५॥ यह नियतिवादी का मत समाप्त हुआ।

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥ ७ ॥
अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहए ॥ ८ ॥

अर्थ—अब अज्ञानवादी के मत का खण्डन करते हुए पहले मृग के दृष्टान्त से उनकी अज्ञानता प्रदर्शित करते हैं:—

जैसे त्राण रहित चंचल-भयातुर-मृग प्राण बचाने के लिए भागते हुए जहाँ पाश नहीं है वहाँ पाश की शंका करते हैं और जहाँ पाश है वहाँ पाश की

तात्पर्य यह है कि सभी ब्राह्मण और श्रमण अपने अपने मत को सर्वज्ञ-मूलक बतलाते हैं; किन्तु सर्वज्ञ ने किस अभिप्राय से क्या शब्द कहे हैं, सर्वज्ञ का अभिप्राय क्या था, यह बात कोई असर्वज्ञ समझ नहीं सकता। फिर भी सभी तीर्थिक सर्वज्ञ के वचनों को उसी प्रकार दोहराते हैं, जैसे म्लेच्छ, आर्य पुरुष के शब्दों को बिना समझे-बूझे दोहरा देता है। अतएव उन सभी का कथन अप्रामाणिक है।

अज्ञानवादी यह भी कहते हैं कि अज्ञान वर्त्तमान भव में भी श्रेयस्कर है, क्योंकि अज्ञान से अपराध करने वाले को अल्प दोष लगता है, और, जान कर अपराध करने वाले को विशेष दोष होता है। अतः अज्ञान ही अच्छा है ॥१५-१६॥

अन्नाणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

अर्थ—अज्ञानवाद अंगीकार करने पर 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है' ऐसा निर्णय रूप ज्ञान भी *संगत नहीं हो सकता।* अज्ञानवादी तो स्वयं ही नहीं समझ सकता, वह दूसरे को कैसे समझा सकता है? तात्पर्य यह है कि 'अज्ञान ही श्रेष्ठ या श्रेयस्कर है' ऐसा समझने के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के अभाव में वह इस बात को स्वय ही नहीं समझ सकता तो दूसरे को कैसे समझाएगा? अज्ञानवादी यदि ज्ञान से अज्ञान की श्रेष्ठता समझेगा तो उसका अज्ञानवाद असंगत हो जायगा॥ १७॥

वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे णेयाणुगामिए।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ॥ १८॥

अर्थ—दृष्टान्त द्वारा अज्ञानवाद का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जैसे वन में दिशामूढ़ कोई मनुष्य, दूसरे दिशामूढ़ मनुष्य के पीछे-पीछे चलता है, तो वे दोनों ही समीचीन मार्ग को न जानने वाले घोर शोक को प्राप्त होते हैं॥ १८॥

अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए॥ १९॥

अर्थ—जैसे अंधा मनुष्य दूसरे अंधे को मार्ग में ले जाता हुआ, जहाँ जाना है वहाँ न पहुँच कर दूर मार्ग में चला जाता है, अथवा उन्मार्ग में जा पहुँचता है,

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिश्रा ।
श्रप्पत्तिश्रं श्रकम्मंसे, एयमट्ठे मिगे चुए ॥१२॥

श्रर्थ-समस्त लोभ, मान, माया, श्रौर क्रोध का नाश करके श्रर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय करके जीव कर्म रहित होता है, किन्तु मृग के समान श्रज्ञानी जीव यह बात न जानकर इस प्रयोजन से च्युत होता है । श्रर्थात् लोभ श्रादि का त्याग नहीं करता, श्रतः कर्म का श्रभाव भी नहीं कर पाता ॥ १२ ॥

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी श्रणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१३॥

श्रर्थ-जो मिथ्यादृष्टि श्रनार्य पुरुष इस तथ्य को नहीं जानते हैं, वे फंदे में फँसे हुए मृगों की भांति श्रनन्तबार घात-(जन्म-मरण) को प्राप्त करेंगे ॥१३॥

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणंति किंचण ॥१४॥

श्रर्थ—कितने ही ब्राह्मण तथा परिव्राजक श्रादि सब श्रपना श्रपना ज्ञान ही उत्तम बतलाते हैं, किन्तु ( उन सबका ज्ञान परस्पर विरुद्ध है, श्रतः ) समस्त लोक में जो भी प्राणी हैं, वे कुछ भी नहीं जानते—सब ज्ञान से हीन हैं । ( ऐसा श्रज्ञानवादी का मत है । इसी मत को श्रागे श्रौर स्पष्ट किया जाता है ।)॥ १४ ॥

मिलक्खू श्रमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिश्रं तऽणुभासए ॥१५॥
एवमन्नाणिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व श्रबोहिया ॥१६॥

श्रर्थ—श्रज्ञानवादी कहता है—जैसे श्रार्य भाषा से श्रनभिज्ञ म्लेच्छ पुरुष, श्रार्य पुरुष, के कथन को दोहरा देता है; वह उस भाषण के श्रभिप्राय को या हेतु को नहीं जानता है । वह बोले हुए का श्रनुवाद मात्र कर देता है-दोहरा भर देता है । इसी प्रकार ज्ञानहीन ब्राह्मण श्रौर श्रमण श्रपना-श्रपना ज्ञान बतलाते हैं—श्रपने-श्रपने मत को प्रकट करते हैं, किन्तु निश्चित श्रर्थ को नहीं जानते । श्रतः वे सब भी म्लेच्छ के समान बोध से रहित हैं ।

अर्थ-अज्ञानवादी के पश्चात् अब क्रियावादी का मत कहते हैं। यह क्रिया-वादी कर्म की चिन्ता से रहित हैं, अर्थात् कर्मबंध के परमार्थ को नहीं जानते हैं। इसलिये इनका दर्शन संसार की वृद्धि करने वाला है ॥२४॥

जाणं काएणऽणाकुट्टी, अबुहो जं च हिंसति
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं॥२५॥

अर्थ-क्रियावादियों का मत यह है-जो पुरुष जानता हुआ मन से किसी प्राणी की हिंसा करता है, किन्तु काय से हिंसा नहीं करता तथा जो पुरुष नहीं जानता हुआ सिर्फ काय से प्राणी की हिंसा करता है, किन्तु मन में हिंसा नहीं करता, वह सिर्फ स्पर्श रूप कर्मबंध का वेदन करता है। सिर्फ मन से और सिर्फ काय से हिंसा करने वाले का पाप अव्यक्त होता है, अर्थात् जैसे बालू की मुट्ठी दीवाल पर फैंकने से बालू दीवाल को स्पर्श करके अलग हो जाती है-चिपकती नहीं है, उसी प्रकार उक्त कर्म आत्मा को स्पर्श करके अलग हो जाते हैं;-बद्ध नहीं होते हैं ॥२५॥

संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

अर्थ-क्रियावादियों के मत के अनुसार कर्मबन्ध के तीन कारण हैं; जिनसे पापकर्म का उपचय किया जाता है-किसी प्राणी का घात करने के लिए उस पर आक्रमण करना, अन्य को आदेश देकर प्राणी का घात करवाना और प्राणी का घात करने वाले की मन से अनुमोदना करना ॥२६॥

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

अर्थ—यह तीन निबिड कर्म के बंध के कारण हैं, जिनसे पाप-कर्म का बंध किया जाता है। तथा भावों की विशुद्धता से कर्मबंध नहीं होता है और कर्मबंध न होने से मोक्ष प्राप्त होता है॥ २७॥

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

अथवा किसी दूसरे मार्ग में चला जाता है; सही मार्ग में नहीं चल सकता ॥ १६ ॥

एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अधम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

अर्थ—इसी प्रकार कोई-कोई मोक्षार्थी कहते हैं कि-हम धर्म के आराधक हैं, किन्तु वे प्रव्रज्या लेकर षट्काय का मर्दन करते हुए तथा दूसरों को भी इसी प्रकार का उपदेश करते हुए अधर्म का ही आचरण करते हैं। वे संयम को प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थात् मोक्ष के लिए यत्न करने पर भी मोक्ष नहीं पा सकते ॥ २० ॥

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार कोई-कोई दुर्बुद्धि लोग पूर्वोक्त दुर्विकल्पों के कारण ज्ञानी जनों की उपासना नहीं करते। वे अपने ही तर्क-वितर्कों से अपने ही मार्ग-अज्ञानवाद-को सच्चा और अकुटिल मार्ग मानते हैं ॥ २१ ॥

एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

अर्थ-जैसे पींजरे में पड़ा हुआ पक्षी पींजरा तोड़कर बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही तर्क के द्वारा अपने-अपने मत को सिद्ध करने वाले किन्तु धर्म और अधर्म को न समझने वाले अज्ञानवादी अपने दुःख को दूर नहीं कर सकते ।२२॥

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं, ते विउस्सिया॥२३॥

अर्थ-अपने अपने दर्शन की प्रशंसा करने वाले और अन्य दर्शनों की निन्दा करने वाले जो लोग अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं, वे संसार में ही (भ्रमण करते) रहते हैं ॥२३॥

अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिन्तापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं॥२४॥

## तृतीय-उद्देशक

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढी आगंतुमीहियं ।
संहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

अर्थ-जो आहार श्रद्धावान् गृहस्थ ने आने वाले साधुओं के लिए बनाया है, और जो आधाकर्मी आहार के एक कण से भी युक्त है, उस आहार को, हजार घरों का अन्तर होने पर भी जो साधु भोगता है, वह दोनों पक्षों का - साधु और गृहस्थ पक्ष का-सेवन करता है ।

तात्पर्य यह है कि जो साधु पूतिकर्मदोष से दूषित आहार करता है वह द्रव्य से साधु होकर भी भाव से गृहस्थ है । ऐसा आहार चाहे एक घर से दूसरे घर, दूसरे से तीसरे, इस प्रकार हजार घरों तक गया हो तो भी दूषित ही है । गृहस्थ ने अपने लिए आहार बनाया हो और दूसरा साधु के लिए बनाया हो । और साधु के निमित्त बनाये आहार का एक कण भी गृहस्थ के लिए बने आहार में मिल जाय तो वह आहार पूतिकर्म वाला कहलाता है । साधु के लिए वह आहार सर्वथा त्याज्य है ॥१॥

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥

उदगस्स पभावेण, सुक्कंसि घातमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही ॥३ ।

अर्थ-आधाकर्मी आहार के दोषों को न जानने वाले और कर्मबंध या चतुर्गतिक संसार के स्वरूप को जानने में अपण्डित, अर्थात् जीवों को कर्म का बन्ध तथा मोक्ष होता है अथवा नहीं, संसार समुद्र को किस प्रकार पार किया जा सकता

अर्थ—कभी आपत्तिकाल में पिता, पुत्र को मार कर, राग-द्वेष रहित होकर उसका मांस भक्षण करे, और राग-द्वेष से रहित साधु यदि मांस भक्षण करे तो वह कर्म से लिप्त नहीं होता ॥ २८ ॥

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२६॥

अर्थ—अन्य तीर्थियों का उपर्युक्त कथन योग्य नहीं है, क्योंकि जो मन से राग-द्वेष करते हैं, उनका मन शुद्ध नहीं होता है और अशुद्ध मन वाला संवर में प्रवृत्ति करने वाला नहीं होता। अतएव उनका यह कथन मिथ्या है कि केवल मन से पाप करने वाले को कर्म का बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मन कर्म-बंध का प्रधान कारण है और मनोव्यापार से रहित केवल काय व्यापार से वे स्वयं भी कर्मबंध न होना मानते हैं, अतएव मन से राग-द्वेष करने पर कर्म का बंध अवश्य होगा ॥ २६ ॥

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।
सरणंति मन्नमाणा, सेवंति पावगं जणा ॥३०॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त दृष्टियों ( दर्शनों ) को अंगीकार करके कितने ही जन सुखशील तथा मान सन्मान में आसक्त हो रहे हैं। वे अपने दर्शन को शरणभूत मानकर पाप कर्म का सेवन करते हैं ॥ ३० ॥

जहा अस्साविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयइ ॥३१॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥त्तिबेमि।

अर्थ–जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष छेद वाली नौका पर आरूढ़ होकर नदी आदि के पार पहुंचने की इच्छा करता है, किन्तु वह पार तक न पहुंच कर बीच में ही डूब जाता है,इसी प्रकार शाक्य आदि कितने ही मिथ्यादृष्टि और अनार्य श्रमण संसार को पार करना चाहते हैं, किन्तु वे संसार में ही परिभ्रमण करते हैं–संसार को पार नहीं कर पाते ॥३२॥ ऐसा मैं कहता हूँ ॥

इति ससमय-परसमयज्झयणस्स बीओ उद्देसो समत्तो

अर्थ—कोई कहते हैं--हमारे महर्षि ने कहा है कि यह लोक स्वयंभू ने बनाया है। यमराज ने माया बनाई है। इस कारण यह लोक अशाश्वत है।

तात्पर्य यह है कि पहले तो स्वयंभू ने लोक की सृष्टि की; फिर देखा कि भू पर बहुत भार बढ़ जायगा। इस भय से भू-भार को हल्का करते रहने के लिए यमराज की सृष्टि की। यमराज ने माया बनाई। इस माया से जीव मरते हैं। अतएव लोक अनित्य है ॥७॥

माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥ ८ ॥

अर्थ—कोई-कोई ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह चराचर जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मा ने अंडे आदि से तत्त्वों के समुदाय को उत्पन्न किया। ये अज्ञानी सत्य के तत्त्व को न जानते हुए मृषा भाषण करते हैं।

तात्पर्य-पौराणिकों का मन्तव्य है कि- प्रारंभ में जगत् शून्य रूप था, अर्थात् कुछ भी नहीं था। किसी समय ब्रह्मा ने एक अंडा बनाया। धीरे-धीरे अंडा बढ़ा और उसके दो भाग हो गए। इन दो भागों में से एक से ऊर्ध्वलोक बन गया और दूसरे से अधोलोक बन गया। तत्पश्चात् अन्यान्य पदार्थों की उत्पत्ति हुई और जगत् इस प्रकार का हो गया। पौराणिकों का यह कथन उनके अज्ञान का सूचक है। वे अज्ञान के कारण मिथ्या भाषण करते हैं ॥ ८ ॥

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ॥ ९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अन्यतीर्थी लोग अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार लोक को किया हुआ-बनाया हुआ-बतलाते हैं; किन्तु वे तत्त्व को नहीं जानते। तत्त्व यह है कि लोक का कभी विनाश नहीं होता। तात्पर्य यह कि जब लोक अविनाशी है तो न कभी उसकी उत्पत्ति होती है, न कभी विनाश होता है, न कोई उसका कर्त्ता है, न संहर्त्ता है। लोक अनादि और अनन्त है ॥ ९ ॥

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥१०॥

अर्थ—असदनुष्ठान ( अशुभ कर्म ) करने से ही दुःख की उत्पत्ति होती

है, इस बात को न जानने वाला पुरुष, बाढ़ आने पर वैशालिक मत्स्य के समान दुःखी होता है।

जैसे वैशालिक मत्स्य समुद्र में ज्वार आने पर समुद्र में से तरंगों के साथ निकल कर नदी के मुख में जा गिरता है, किन्तु जब पानी सूख जाता है तो कीचड़ में फँसा हुआ वह मत्स्य ढंक तथा कंक नामक पक्षियों द्वारा दुःखी किया जाता है-वह मरण को प्राप्त होता है ॥ २-३ ॥

एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥ ४ ॥

अर्थ—इसी प्रकार वर्त्तमानकालीन सुख की गवेषणा करने वाले कोई-कोई शाक्य आदि श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त करेंगे ॥ ४ ॥

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥ ५ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए अज्ञानों के अतिरिक्त दूसरा अज्ञान यह है-किन्हीं-किन्हीं का कहना है कि यह लोक देवता द्वारा बनाया गया है, अर्थात् जैसे बीज बोकर किसान धान्य उत्पन्न करता है, उसी प्रकार देवता ने इस प्रकार चराचर जगत् को उत्पन्न किया है। और दूसरे कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा ( जगत् के पितामह ) ने बनाया है ॥ ५ ॥

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ ६ ॥

अर्थ—कोई कहते हैं-जीवों तथा अजीवों से युक्त तथा सुख-दुःखमय यह लोक ईश्वर के द्वारा बनाया गया है। सांख्यमत वाले कहते हैं कि यह लोक प्रधान अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की साम्यावस्था रूप प्रकृति से बना है। आशय यह है कि काँटों की तीक्ष्णता के समान यह जगत् स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुआ है ॥ ६ ॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥ ७ ॥

नहीं करते। ये सभी मतावलम्बी अपने-अपने मत को ही उत्तम बतलाते हैं, (किन्तु तत्त्वज्ञ पुरुषों को उनके कथन पर आस्था नहीं करना चाहिए।) ॥ १३ ॥

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥ १४ ॥

अर्थ—कृतवादी शैव आदि कहते हैं--अपने अपने अनुष्ठानों से ही सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। हमारे दर्शन में, इन्द्रियों को वश में करने वाला पुरुष इस लोक में इष्ट कामभोग प्राप्त करता है और परभव में मोक्ष पा लेता है ॥ १४ ॥

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया नरा ॥१५॥

अर्थ—अन्य दर्शनी कहते हैं—हमारे दर्शन के अनुसार अनुष्ठान करके जो सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सब प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक द्वन्द्वों से रहित हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्धि को ही सामने करके वे लोग अपने अभिप्राय में ग्रथित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो ।
कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुर किव्विसिया ॥ १६ ॥ त्ति बेमि ॥

अर्थ—जो संवर से अर्थात् इन्द्रिय विजय से रहित हैं, वे अन्य-दर्शनी इस अनादिकालीन संसार में बार-बार भ्रमण करेंगे। कदाचित् बालतप के प्रभाव से देवगति पाएंगे तो चिरकाल तक असुर कुमार आदि के पर्याय में उत्पन्न होंगे, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६ ॥

इति ससमयपरसमयज्झयणस्स तइओ उद्देसो समत्तो ॥

है—ईश्वर आदि किसी को दुःख नहीं देते। जो लोग दुःख की उत्पत्ति के कारण को नहीं जानते, वे दुःख के विनाश के उपाय (संवर) को कैसे जान सकते हैं ?॥१०॥

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो किड्डापदोसेणं, सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

अर्थ—गोशालक-मतानुयायी त्रैराशिक कहते हैं--आत्मा शुद्ध और पापरहित है, किन्तु बाद में राग-द्वेष के कारण बंध को प्राप्त होता है।

तात्पर्य—त्रैराशिकों का मन्तव्य यह है कि आत्मा मनुष्य भव में पापरहित शुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, किन्तु मुक्तदशा में *राग-द्वेष करने से वहीं कर्म-लिप्त होता है। कर्म के लेप से जब भारी बन जाता है तो संसार में अवतरित होता है। आत्मा की यह अवस्था संसारी और मुक्त से भिन्न तीसरी राशि है। इसी के कारण उन्हें त्रैराशिक कहते हैं॥ ११॥

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।
वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

अर्थ—जो जीव इस मनुष्यभव में संवरयुक्त-व्रत नियम आदि से युक्त होता है, वह पीछे पाप से रहित हो जाता है। तत्पश्चात् जैसे निर्मल जल पुनः मलिन हो जाता है, उसी प्रकार वह निर्मल आत्मा भी पुनः मलिन हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा निर्मल बन कर मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्ष में पुनः मलिन होकर मनुष्यलोक में आता है। मनुष्यलोक में पुन जप तप आदि करके फिर निर्मल होकर मुक्त हो जाता है॥ १२॥

एताणुवीइ मेहावी, बंभचेरे ण ते वसे ।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

अर्थ—इन अन्यतीर्थिकों के संबंध में विचार करके बुद्धिमान् पुरुष यह निश्चय करे कि ये लोग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते या सच्चे संयम का अनुष्ठान

*उस मुक्तदशा को अपने शासन का सन्मान और दूसरों के शासन का अनादर देख कर राग होता है और अपने शासन के अपमान से द्वेष होता है। इसलिए शुद्ध वस्त्र भी जैसे धीरे-धीरे मलिन हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा भी रागद्वेष से मलिन हो जाती है।

हो जाय और उनसे गुरु मंत्र ले लिया जाय तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मगर ऐसा कहने वाले दुःखों से त्राण करने में समर्थ नहीं होते ॥३॥

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

अर्थ—गृहस्थ ने अपने निज के लिए जो आहार बनाया हो, विद्वान साधु उसमें से अपने लिए गवेषणा करे और गृहस्थ द्वारा दिये हुए आहार को ही ग्रहण करने की इच्छा करे। उस आहार में भी साधु गृद्ध न हो, राग-द्वेष न करे और दूसरे का अपमान न करे, अर्थात स्वयं विशिष्ट तपस्वी या श्रुतसम्पन्न हो तो अभिमान करके दूसरों को तुच्छ न समझे ॥ ४ ॥

लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहियं।
विवरीयपण्णसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुयं ॥५॥

अर्थ--किसी किसी का कहना है कि लोकवाद को सुनना-समझना चाहिए ( पाखंडियों अथवा पौराणिकों के वाद को अथवा मनमानी मान्यता को लोकवाद कहते हैं।) किन्तु लोकवाद विपरीत बुद्धि से उत्पन्न हुआ है और अन्य अविवेकी जनों की मान्यता के समान ही मिथ्या है ॥ ५ ॥

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सइ।
अंतवं णिइए लोए, इति धीरोऽतिपासइ ॥६॥

अर्थ—लोकवाद का निरूपण इस प्रकार है—यह लोक अनन्त है, अर्थात इसका नाश नहीं होता-जो इस भव में जैसा है, परभव में भी वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष मरकर पुरुष ही होता है, स्त्री मरकर स्त्री ही होती है। अथवा यह लोक अनन्त है, अर्थात इसकी क्षेत्र संबंधी कोई सीमा नहीं है। यह लोक सदा विद्यमान रहने के कारण शाश्वत है, इसका कभी नाश नहीं होता तथा यह लोक अन्तवान् ससीम है, सप्त द्वीप-समुद्र परिमित है ऐसा व्यास आदि धीर पुरुषों ने कहा है* ॥ ६ ॥

---

*इस गाथा में बतलाये गये लोकवाद के अतिरिक्त अन्य लोकवाद भी प्रचलित हैं, यथा-निपूते की सद्गति नहीं होती, ब्राह्मण देवता हैं, कुत्ते यक्ष हैं, गाय के मारे हुए को गाय मारने वाले को कोई लोक नहीं मिलता; इत्यादि लोकोक्तियाँ, लोकवाद के उदाहरण हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है।

# चतुर्थ उद्देशक

एते जिया भो ! न सरणं, बाला पंडियमाणिणो ।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥ १ ॥

अर्थ—हे शिष्य ! ये अन्य तीर्थिक राग-द्वेष आदि से पराजित हैं, वास्तव में अज्ञानी हैं, किन्तु अपने आपको ज्ञानी मानते हैं। अतः ये किसी के लिए भी शरणभूत नहीं हो सकते। ये बन्धु-बान्धव, पिता-पुत्र आदि के संयोग को त्याग करके भी पचन-पाचन आदि गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु न मुच्छए ।
अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

अर्थ—विद्वान संयमी साधु ऐसे अन्य तीर्थिकों को जानकर उनके साथ परिचय न करे-घनिष्ठता स्थापित न करे। कदाचित् संसर्ग हो जाय तो किसी प्रकार का अभिमान न करता हुआ, किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ, राग-द्वेष से रहित होकर मध्यस्थ भाव से विचरे ॥ २ ॥

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं ।
अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

अर्थ—कई अन्य तीर्थी कहते हैं-परिग्रहवान् और आरंभ करने वाले भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु साधु को चाहिए कि वह परिग्रह से रहित और आरंभ त्यागी पुरुष की ही शरण ग्रहण करे।

तात्पर्य यह है कि जो स्वयं परिग्रह एवं आरंभ से युक्त हैं, वे कहते हैं कि तपश्चर्यादिक और मुंडनादिक करना व्यर्थ है। गुरु की कृपा से परमाक्षर का ज्ञान

वुसिए य विगयगेही, आयाणं सं (सम्म) रक्खए।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे अ अंतसो ।।११।।

अर्थ—दस प्रकार की समाचारी में स्थित, सब पदार्थों में गृद्धि से रहित मुनि ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप आदान की रक्षा करे। तथा चर्या, आसन, शय्या और आहार-पानी में सम्यक् प्रकार से उपयोग सहित प्रवृत्ति करे ॥११॥

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सततं मुणी।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए।।१२।।

अर्थ—चर्या (ईर्या समिति), आसन आदान भंडमात्र निक्षेपणा समिति) तथा भक्त-पान ( एषणा समिति, भाषा समिति, प्रतिष्ठापनी समिति) इन तीन स्थानों में निरन्तर संयमवान् होता हुआ मुनि क्रोध मान माया और लोभ का परित्याग करे।।१२॥

समिए उ सया साहू; पंचसंवरसंवुडे ।
सिएहि असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि॥१३ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—सदैव समितियों से युक्त, पाँच संवरों ( महाव्रतों ) से संवृत तथा गृहस्थों में आसक्ति न रखने वाला साधु मुक्ति के लिए संयम का पालन करे। ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १३ ॥

इति ससमय-परसमयज्झेयणस्स चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

अपरिमाणं वियाणाइ, इहमेगेसिमाहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासइ ॥ ७ ॥

अर्थ—किसी-किसी का कहना है कि क्षेत्र एवं काल संबंधी सीमा से रहित अर्थात् अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता तो होता है, किन्तु सर्वज्ञ कोई नहीं है। सर्वत्र परिमित पदार्थों को ही जानने वाला पुरुष होता है, ऐसा धीर पुरुष देखते हैं ॥ ७ ॥

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तसथावरा ॥८॥

अर्थ—लोकवाद का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जगत में जो कोई भी त्रस प्राणी हैं अथवा स्थावर प्राणी हैं उनके पर्याय में अवश्य ही परिवर्तन होता है। त्रस जीव मर कर स्थावर और स्थावर जीव मर कर त्रस हो जाते हैं। ( जो जैसा है, वह वैसा ही बना रहे तो दान, अध्ययन, ध्यान, जप, तप, नियम, यम आदि सब निष्फल हो जाएंगे। ) ॥ ८ ॥

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंति य ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥ ९ ॥

अर्थ—औदारिक शरीर वाले प्राणी गर्भ, कलल एवं अर्बुद रूप अवस्थाओं से भिन्न बाल, कुमार, तरुण आदि अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। अतएव लोकवादियों का कथन सत्य सिद्ध नहीं होता। सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए। 'सभी जीव जैसे के तैसे रहते हैं, उनका घात करने में क्या हानि है' ऐसा समझ कर किसी की हिंसा करना योग्य नहीं। क्योंकि उक्त मान्यता ही मिथ्या है। इसके अतिरिक्त सभी जीवों को दुःख अप्रिय है ॥ ९ ॥

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१०॥

अर्थ—ज्ञानवान् पुरुष के लिए यही न्याय युक्त है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। उपलक्षण से असत्य न बोले, अदत्त को ग्रहण न करे और परिग्रह न रक्खे। तथा अहिंसा के द्वारा समता को समझे। अर्थात् यह जाने कि जैसे मुझे मृत्यु और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणियों को मृत्यु एवं दुःख अप्रिय है। अतः किसी जीव के प्राणों का हरण नहीं करना चाहिए ॥१०॥

और कोई-कोई गर्भ में ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार आयु क्षीण होने पर प्राणी का जीवन नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

अर्थ—कोई-कोई मनुष्य माता और पिता आदि के मोह में फँस कर संसार में भ्रमण करते हैं। ऐसे जीवों को परलोक में सुगति सुलभ नहीं होती। अतएव इस मोह आदि भय को देख कर सुव्रती मुनि आरंभ से निवृत्त हो जाय ॥३॥

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥ ४ ॥

अर्थ—आरंभ से निवृत्त न होने वाले, संसार में पृथक्-पृथक् स्थानों में स्थित प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए नरक आदि स्थानों में भ्रमण करते हैं। अपने कर्मों का फल भोगे बिना वे मुक्त नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा ।
राया नरसेट्ठि माहणा, ठाणा तेवि चयंति दुक्खिया ॥५॥

अर्थ—देव, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, सरीसृप ( सर्प आदि रेंग-रेंग कर चलने वाले), राजा, मनुष्य, सेठ, ब्राह्मण आदि सभी दुःखित होकर अपने-अपने स्थान का त्याग करते हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई देव हो या मनुष्य हो, यहाँ तक कि तिर्यंच ही क्यों न हो, सभी प्राणियों को प्राणों का त्याग करते समय दुःख होता है ॥ ५ ॥

कामेहि य संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउक्खयंमि तुट्टइ ॥६॥

अर्थ—जैसे ताल वृक्ष का फल बंधन टूटने पर अचानक ही नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार कामभोगों में तथा परिवार के परिचय में आसक्त जीव, आयु का अन्त आने पर मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

## अन्यमार्गासक्त को मोक्ष का अभाव

जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मियमाहणभिक्खुए सिया ।
अभिणूम कडेहिं मुच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

## वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन

## प्रथम उद्देशक

### आदितीर्थंकर का उपदेश

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥ १॥

अर्थ—भरत चक्रवर्त्ती द्वारा तिरस्कृत, भगवान् ऋषभदेव के अट्ठानवे पुत्र जब भरत की फरियाद करने के लिए भगवान् के पास पहुँचे, तब भगवान् ने उन्हें जो बोध दिया यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। अथवा भगवान् महावीर सभी भव्य जीवों को यह उपदेश देते हैं कि—

हे भव्य जीवो! तुम बोध प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं प्राप्त करते हो? जो रात्रि बीत गई है, वह वापिस आने वाली नहीं है। अर्थात् गया समय फिर नहीं आता और संयममय जीवन फिर सुलभ नहीं है॥ १॥

### आयु की अनित्यता

डहरा वुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयंमि तुट्टइ॥ २॥

अर्थ—भगवान् आदिनाथ अपने पुत्रों से कहते हैं–देखो, जैसे बाज पक्षी बटेर को अकस्मात् उठा ले जाता है, उसी प्रकार काल जीव को किसी भी अवस्था में उठा लेता है। कितने ही बाल्यावस्था में मर जाते हैं, कितने ही वृद्धावस्था में मरते हैं

अर्थ—मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, सो बतलाते हैं-हे पुरुष ! तू यतना के साथ समिति पूर्वक विचर। सूक्ष्म प्राणियों वाले मार्ग को यतना के बिना लांघना बहुत कठिन है। अतएव शास्त्र में जो जो अनुशासन हैं-शिक्षाएं हैं, उन्हीं के अनुसार विचरना चाहिए। यही सब तीर्थंकरों का कथन है॥ ११ ॥

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

अर्थ—जिन्होंने पापों का परित्याग कर दिया है, कर्मों का छेदन कर दिया है, जो समीचीन आचार में सावधान हैं जो क्रोध-मान-माया और लोभ का निकंदन करने वाले हैं, जो तीन करण तीन योग से प्राणी की घात नहीं करते और जो सावद्यानुष्ठान से विरत हैं, वे शीतल बने हुए हैं अथवा मुक्त जीवों के समान ही मुक्त हैं॥ १२ ॥

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लोअंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

अर्थ—विविध प्रकार के परीषह और उपसर्ग आने पर मुनि को क्या विचार करना चाहिए सो कहते हैं-सम्यग्ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न मुनि देखे कि अकेला मैं ही इन शीत उष्ण आदि परीषहों से पीड़ित नहीं हो रहा हूँ, किन्तु लोक में अन्यान्य प्राणी भी व्यथा पा रहे हैं। इस प्रकार विचार कर परीषह एवं उपसर्ग से स्पृष्ट होने पर मुनि क्रोध आदि से रहित होकर उन्हें सहन करे॥ १३ ॥

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए देहमणासणाइहिं ।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे लेप वाली दीवाल लेप को हटा कर कृश की जाती है, वैसे ही अनशन आदि तप करके अपने शरीर को कृश करना चाहिए। तथा अहिंसाधर्म का ही पालन करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् ने इसी धर्म की प्ररूपणा की है॥ १४ ॥

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥ १५ ॥

अर्थ—चाहे कोई बहुत शास्त्रों का ज्ञाता हो, चाहे धार्मिक हो, चाहे ब्राह्मण हो या भिक्षु हो, अगर वह मायाचार से किये गये अनुष्ठान में आसक्त है, तो अपने तीव्र कर्मों द्वारा दुःखी होते हैं। अर्थात् कर्म किसी को नहीं छोड़ते ॥७॥

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने, इह भासई धुवं।
णाहिसि आरं कओ परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चई ॥८॥

अर्थ—हे शिष्य ! अब यह देखो कि कई लोग परिग्रह को त्याग करके अथवा संसार के असार स्वरूप को समझकर दीक्षा धारण कर लेते हैं; किन्तु वे संयम का ठीक तरह निर्वाह नहीं कर पाते। ऐसे लोग मोक्ष की बातें तो करते हैं, परन्तु उसे प्राप्त करने का उपाय नहीं करते। तुम ऐसे पुरुषों का शरण लेकर इह-लोक और परलोक को किस प्रकार जान सकोगे ? वे इह-परलोक से भ्रष्ट अन्य-तीर्थी बीच ही में अपने कर्मों द्वारा दुखी किये जाते हैं ॥ ८ ॥

जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥

अर्थ—भले ही कोई नग्न-परिग्रहहीन हो, कृश होकर विचरता हो, अथवा मासखमण की तपस्या करता हो, किन्तु यदि वह माया आदि से युक्त है-कषाय-युक्त है, तो वह अनन्त काल पर्यन्त गर्भवास के दुःख भोगता है। अर्थात् कषायों का क्षय किये बिना द्रव्यक्रिया मात्र से मुक्ति नहीं मिलती ॥ ९ ॥

पुरिसो ! रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

अर्थ—हे पुरुष ! अब तू पापकर्म से निवृत्त हो जा, क्योंकि मनुष्यों का जीवन नाशवान् है-अधिक से अधिक हो तो भी तीन पल्योपम से कम ही है। जो मनुष्य नाशशील जीवन में संसार में आसक्त हैं और कामभोग में मूर्छित हो रहे हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं-हिताहित के विवेक से विकल होते हैं ॥ १० ॥

## मनुष्य का कर्त्तव्य

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाया पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेइयं ॥११॥

हमारा पालन-पोषण करो। माता पिता का पोषण न करने वाला अपना परलोक बिगाड़ता है, अतः तुम हमारा पालन-पोषण करो॥ १६॥

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

अर्थ—कोई-कोई कायर संयमहीन जन माता-पिता आदि में मूर्छित होकर मोह को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अच्छे अनुष्ठान को त्याग देते हैं। असंयमी पुरुषों द्वारा संयम से भ्रष्ट किये हुए वे फिर पाप कर्म करने में लज्जित नहीं होते ॥२०॥

तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणए वीरे महाविहिं, सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥

अर्थ--मोह के वशीभूत होकर मनुष्य पाप-कर्म करने में निर्लज्ज हो जाता है, इस कारण हे पण्डित पुरुष! तुम राग-द्वेष से रहित होकर विचार करो। सत्-असत् के विवेक से युक्त, पाप से विरत और शान्त बनो। वीर पुरुष ही महान् मार्ग-को प्राप्त करते हैं। वह महामार्ग सिद्धि का पथ है और मुक्ति के निकट ले जाने वाला है और ध्रुव-अव्यभिचारी है॥ २१॥

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसा काएण संवुडो।
चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभ च सुसंवुडे चरे ॥२२॥
त्ति बेमि॥

अर्थ—कर्मों को विदारण करने के मार्ग में आया हुआ मन वचन काय को गोपन करके, धन-दौलत तथा ज्ञाति-परिवार, आरंभ आदि का त्याग करके अच्छी तरह संयम का पालन करे। अर्थात् जिसे मुक्ति के महामार्ग की प्राप्ति हुई है, उसे चाहिए कि वह आरंभ परिग्रह का त्याग करके संयमनिष्ठ हो॥ २२॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

इति वेयालीयज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो॥

अर्थ—जैसे पक्षिणी अपने पाँवों पर लगी हुई रज को शरीर को कम्पित करके दूर कर देती है, उसी प्रकार मोक्षार्थी, तपस्वी एवं अहिंसा का पालन करने वाला पुरुष अपने कर्मों का नाश कर डालता है ॥ १५ ॥

## स्वजनादि का उपसर्ग

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठियं तवस्सिणं ।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥१६॥

अर्थ—गृह का त्याग कर देने वाले, एषणा का पालन करने के लिए उद्यत तथा संयमस्थान में स्थित तपस्वी साधु को, उसके पुत्र-पौत्र आदि छोटे और माता-पिता आदि बड़े पारिवारिक जन दीक्षा त्यागने की प्रार्थना करें और भले ही प्रार्थना करते-करते थक जाएँ, तब भी उसे अपने वश में नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥ १७ ॥

अर्थ—साधु के माता-पिता आदि साधु के समीप आकर करुणाजनक वचन बोलें अथवा पुत्र के लिए रुदन करें, तो भी वे संयमपालन में उद्यत और मुक्तिगमन के योग्य उस साधु को गृहस्थवास में स्थापित नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

जइवि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घरं ।
जइ जीविय नावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

अर्थ—भले ही कुटुंबीजन साधु को काम भोग के लिए ललचावें, अथवा बाँध कर घर ले जाएँ, किन्तु साधु यदि असंयममय जीवन की इच्छा नहीं करता तो वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते अथवा उसे गृहस्थ नहीं बना सकते ॥१८॥

सेहंति य णं ममाइणो, मायपिया य सुया य भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं, लोग परं पि जहासि पोसणो ॥१९॥

अर्थ—साधु के प्रति ममता धारण करने वाले उसके माता, पिता, पुत्र और पत्नी साधु को ऐसी सीख देते हैं कि-हे मुनि ! तुम समझदार हो, तुम

अर्थ—चाहे कोई स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि राजा हो, चाहे कोई नौकर का नौकर हो, जो दीक्षा ग्रहण कर चुका है-जिसने मुनि का पद अंगीकार किया है, उसे लज्जा का त्याग करके समभाव से व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् भले ही कोई चक्रवर्ती राजा रहा हो, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने से पूर्व दीक्षित दास के दास को भी आदरपूर्वक वन्दना आदि करे॥ ३॥

## संयम-पालन

सम अन्नयरंमि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए, दविए कालमकासि पंडिए॥ ४॥

अर्थात्—सम्यक् प्रकार से शुद्ध, जीवन पर्यन्त सामायिक छेदोपस्थापना आदि किसी भी संयम में स्थित आत्मज्ञान से युक्त, शुद्ध अध्यवसाय वाला, मुक्तिगमन के योग्य तथा सत्-असत् के विवेक से सम्पन्न मुनि मृत्यु पर्यन्त संयम का पालन करे॥ ४॥

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे परुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ॥५॥

अर्थ—तीन काल का ज्ञाता मुनि दूर अर्थात् मोक्ष अथवा दीर्घकाल का विचार करके-जीव के अतीत काल तथा भविष्यत्-काल को जानकर लज्जा या अभिमान न करे, अर्थात् संसारी जीव ने भूतकाल में अनन्त ऊँची-नीची अवस्थाएँ प्राप्त की हैं और भविष्य में करेगा, ऐसा समझ कर न लज्जा करे न मद करे। कठोर वचनों तथा दंड आदि से स्पृष्ट होकर अथवा खंधक मुनि की तरह सर्वथा मारा जाता हुआ मुनि समताभाव में ही विचरे॥ ५॥

पण्णसमत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे॥६॥

अर्थ—संपूर्ण प्रज्ञावान् (प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ) मुनि सदा कषायों को जीते। समभाव के साथ अहिंसा धर्म का उपदेश करे। संयम की कभी विराधना न करे। अपमानित होने पर क्रोध न करे और सम्मानित होने पर अभिमान न करे॥ ६॥

# द्वितीय अध्ययन

## द्वितीय उद्देशक

## पर–निन्दा

तयसं च जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी न मज्जई।
गोयन्नतरेण ¹माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे सर्प अपनी त्वचा को त्यागने योग्य जान कर त्याग देता है, उसी प्रकार मुनि को कर्म रूपी रज का त्याग कर देना चाहिए। कषाय के अभाव से कर्म का अभाव होता है, ऐसा जान कर साधु को जाति, गोत्र आदि आठ प्रकार का मद नहीं करना चाहिए। दूसरों की निन्दा अकल्याणकारिणी है, ऐसा जान कर किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ १ ॥

जे परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तई महं[2]।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जई ॥२॥

अर्थ—जो दूसरे की अवज्ञा करता है, वह संसार में बहुत काल तक परिभ्रमण करता है। अतः परनिन्दा पाप का कारण है–अधोगति में ले जाने वाली है, ऐसा जान कर मुनि को मद नहीं करना चाहिए, अर्थात् मैं दूसरों से उत्कृष्ट हूँ, दूसरे मुझसे हीन हैं, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥ ३ ॥

---

¹पाठान्तर–जे विऊ। ²-चिरं।

अर्थ—आसक्ति रूपी भाव कीचड़ को लांघना संसारी जीवों के लिए बहुत कठिन है। इस बात को जानकर तथा राजादिक के द्वारा किये जाने वाले वन्दन-पूजन को कर्म के उपशम का फल जानकर मुनि को गर्व नहीं करना चाहिए। इस गर्व रूप सूक्ष्म शल्य का त्याग करना बड़ा कठिन है। विद्वान् मुनि को चाहिए कि वह परिचय का त्याग कर दे ॥ ११ ॥

एगे चर ठाणमासणे, समणे एग समाहिए सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

अर्थ—साधु द्रव्य से एकाकी और भाव से राग-द्वेष रहित होकर विचरे। वह अकेला ही कायोत्सर्ग करे, अकेला ही शय्या-आसन का सेवन करे और धर्म ध्यान करे। तपस्या में पराक्रम करे तथा वचन का और मन का गोपन करे ॥ १२ ॥

## मुनि के लिए सहिष्णुता

णो पीहे ण यावपंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए ।
पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥ १३ ॥

अर्थ—साधु को सूने घर में रहने का अवसर आवे तो वह उस घर के द्वार को न खोले और न बन्द करे। कोई प्रश्न करे तो उत्तर में सावद्य भाषा का प्रयोग न करे ( जिनकल्पी या अभिग्रहधारी हो तो निरवद्य भाषा भी न बोले। ) उस घर को साफ न करे और तृण आदि न बिछावे ॥ १३ ॥

जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाइं मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥१४॥

अर्थ—विचरते-विचरते जहाँ सूर्य अस्त हो जाय वहीं रह जाय। अनुकूल तथा प्रतिकूल शय्या आदि परीषह को सहन करे, किन्तु आकुल-व्याकुल न हो। उस स्थान पर डांस-मच्छर आदि हों, सिंह आदि भयानक प्राणी हो, अथवा सर्प आदि हों, तो भी वहीं रह कर उनके परीषह को सहन करे ॥ १४ ॥

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया ।
लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥ १५ ॥

बहुजणणमणंमि संवुडो, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।
हर एव सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं ॥७॥

अर्थ—बहुत जनों द्वारा नमनीय-प्रशंसित धर्म में समाधिवान् समस्त धनधान्य आदि बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह में अनासक्त मुनि तालाब की तरह सदैव निर्मल रहकर भगवान् महावीर के धर्म को प्रकाशित करे ॥ ७ ॥

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया ।
जो मोणपदं उवट्ठिए, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

अर्थ—संसार में बहुत से प्राणी सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रस-स्थावर देव-नारक आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित हैं। उन सब प्राणियों को समभाव से देखने वाला, संयम में उपस्थित हुआ तथा विवेकवान् मुनि उनकी हिंसा से निवृत्त हो ॥ ८ ॥

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं । ६॥

अर्थ—श्रुत चारित्र रूप धर्म का पारगामी तथा आरंभ से अत्यन्त दूर रहने वाला ही मुनि कहलाता है। इससे विपरीत ममता रखने वाले मरण समय में परिग्रह के लिये शोक करते हैं, किन्तु उस परिग्रह को प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि परिग्रह में लोलुप पुरुष जब मरने लगता है तब उसे अपने परिग्रह के वियोग की कल्पना से शोक होता है; मगर शोक करने पर भी वह परिग्रह छूट ही जाता है—उसके साथ नहीं जाता ॥ ६ ॥

इहलोगदुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं ।
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ? ॥१०॥

अर्थ—धन-धान्य और स्वजन आदि रूप परिग्रह इस लोक में दुःख देने वाला है और परलोक में भी दुःख देने वाला है इसे समझो। वह नाशशील है—अनित्य है। ऐसा जानकर कौन विवेकवान् पुरुष गृहवास करेगा ? ॥ १० ॥

महयं परिगोव जाणिया, जावि य वंदणपूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥११॥

अर्थ—जो मुनि सचित्त जल को पीने से घृणा करता है, जो परलोक सम्बन्धी सुखों की अभिलाषा नहीं करता, जो कर्म बंधन करने वाली क्रियाओं से दूर रहता है और जो गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करता, तीर्थंकर भगवान् ने उसी को सामायिक चारित्रवान् कहा है ॥ २० ॥

ण य संखयमाहु जीवियं, तहवि य बालजणो पगब्भइ ।
बाले पावेहिं मिज्जति, इति संखाय मुणी न मज्जइ ॥२१॥

अर्थ—काल-पर्याय से टूटा हुआ प्राणियों का जीवन फिर नहीं जोड़ा जा सकता, ऐसा भगवान् ने कहा है। तथापि अज्ञानीजन धृष्टता के साथ पाप करता है। वह अज्ञानी जीव. पापी कहलाता है। अतएव मुनि को मद नहीं करना चाहिए, अर्थात् दूसरे पाप कर्म करने वाले हैं और मैं धर्म कर रहा हूँ इस प्रकार अहंकार नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए ॥ २२ ॥

अर्थ—बहुत कपट-क्रिया करने वाले और मोह से घिरे हुए लोग अपनी स्वच्छन्दता से ही नरक आदि में परिभ्रमण करते हैं। साधु पुरुष ऐसा जान कर मायारहित होकर प्रवृत्ति करे और मन वचन काय से शीत-उष्ण आदि परीषहों को सहन करे ॥ २२ ॥

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसे जुआ खेलने में कुशल और किसी से पराजित न होने वाला जुआरी, जुआ खेलता हुआ कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, कलि, त्रेता और द्वापर नामक स्थानों को ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् एक, दो, तीन का दाव छोड़ कर चार का ही दाव ग्रहण करता है, उसी प्रकार ज्ञानी जन लोक में उत्तम तथा कल्याणकारी प्रधान धर्म को ही ग्रहण करता है ॥ २३ ॥

इह लोगंमि ताइणा, वुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥ २४ ॥

अर्थ—सूने गृह में रहा हुआ महामुनि तिर्यंच संबंधी, मनुष्य संबंधी तथा देवता संबंधी तीन प्रकार के उपसर्गों को सहन करे। भय से रोम मात्र भी खड़ा न होने दे ॥ १५ ॥

णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुविंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥ १६ ॥

अर्थ—उक्त स्थान में पूर्वोक्त उपसर्गों से पीड़ित होने पर साधु जीवन की भी परवाह न करे; उपसर्ग सहन करके मान-बड़ाई की भी इच्छा न करे। इस प्रकार शून्य गृह आदि में स्थित मुनि को भयानक उपसर्ग सहन करना सरल हो जाता है ॥१६॥

उवणीयतरस्स ताइणो, भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसकी आत्मा में ज्ञान आदि गुण विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं, जो अपना और पर का उपकार करता है और जो स्त्री पशु एवं पंडक से रहित स्थान का सेवन करता है, ऐसे ही मुनि को भगवान् ने सामायिक चारित्रवान् कहा है। ऐसे चारित्रवान् मुनि को परीषह आने पर भयभीत नहीं होना चाहिए ॥ १७ ॥

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

अर्थ—जो उष्ण जल को पीता है अथवा उष्णजल को ठंडा किये बिना ही पीता है, जो श्रुत-चारित्र रूप धर्म में स्थित है, जो असंयम से लज्जित होता है, ऐसे मुनि का राजा आदि के साथ संसर्ग होना हितकर नहीं है। इससे शास्त्रानुकूल आचरण करने वाले मुनि के भी मन में असमाधि उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायति बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

अर्थ—जो कलह शील है और जो प्रकट रूप से कठोर भाषा का प्रयोग करता है, उसका अर्थ-संयम या मोक्ष-नष्ट हो जाता है। इस कारण पंडित पुरुष कलह न करे ॥ १९ ॥

सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिन्नस्स लवावसप्पिणो।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजति ॥२०॥

धनोपार्जन के उपाय न बतावे। संयम का ही आचरण करे और किसी वस्तु पर ममता न करे॥ २८॥

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोसपगास माहणे।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिं सुज्झोसियं धुयं॥ २६॥

अर्थ—साधु को माया, लोभ, मान और क्रोध नहीं करना चाहिए। जिन महापुरुषों ने कर्मों का नाश करने वाले संयम का भलीभाँति सेवन किया है, वही उत्तम विवेकवान् कहलाये हैं और वही धर्म में लीन हैं॥ २६॥

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ॥३०॥

अर्थ—मुनि किसी भी पदार्थ पर राग न करे, ज्ञान आदि से युक्त हो अथवा आत्महित में उद्यत रहे, मन एवं इन्द्रियों का संवर करे, धर्म की ही कामना करे, तपश्चरण में पराक्रमी बने, इन्द्रियों को वशीभूत करे और इस प्रकार से संयम का पालन करे; क्योंकि संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव को आत्मकल्याण ( का अवसर ) दुर्लभ होता है॥ ३०॥

ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा॥३१॥

अर्थ—समस्त जगत् को जानने वाले ज्ञातनन्दन श्री वर्धमान भगवान् ने सामायिक आदि का जो कथन किया है, उसे निश्चय ही जीवों ने पहले नहीं सुना है। अगर सुना भी है तो उसका यथार्थ रूप से-जैसा चाहिए वैसा-आचरण नहीं किया है। ( इसी कारण संसारी जीवों को आत्महित की प्राप्ति कठिन है। )॥ ३१॥

एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघमाहियं॥३२॥
त्ति बेमि॥

अर्थ—जैसे जुआरी एक दो आदि शेष स्थानों को छोड़ कर कृत स्थान-चार के दाव को ही ग्रहण करता है, उसी प्रकार इस लोक में प्राणी मात्र के त्राता सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्ररूपित सर्वोत्तम धर्म को ही ग्रहण करना चाहिए। यही धर्म हित कारी है और उत्तम है ॥ २४ ॥

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्म इइ मे अणुस्सुयं ।
जंसि विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥ २५ ॥

अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-मैंने श्रीवीर प्रभु से सुना है कि मनुष्यों के लिए इन्द्रिय-विषयों को जीतना कठिन है। किन्तु जो महापुरुष इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर संयम में प्रवृत्त हैं, वही वास्तव में काश्यप भगवान् के अर्थात् महावीर स्वामी अथवा ऋषभदेव भगवान् के धर्म के अनुयायी हैं ॥ २५॥

जे एय चरंति आहियं, नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारंति धम्मओ । २६ ॥

अर्थ—महान् महर्षि ज्ञातपुत्र ( महावीर ) के द्वारा प्ररूपित धर्म का जो आचरण करते हैं, वही पुरुष उत्थित ( धर्म में प्रवृत्त ) हैं और वही पुरुष समुत्थित ( सम्यक् प्रकार से-कु-मार्ग का त्याग करके उत्थित ) हैं। वे ही धर्म से च्युत होते हुए परस्पर में एक दूसरे को धर्म में प्रेरित या प्रवृत्त करते हैं ॥ २६ ॥

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवधिं धुणित्तए ।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥ २७ ॥

अर्थ—पूर्व काल में-गृहस्थावस्था में-भोगे हुए कामभोगों का स्मरण मत करो। उपधि अर्थात् माया को अथवा आठ कर्मों को नष्ट करने की इच्छा करो। मन को मलिन बनाने वाले शब्द आदि इन्द्रिय विषयों के जो वशीभूत नहीं हैं, वही महापुरुष कल्याणकारिणी आत्मिक समाधि को जानते हैं ॥ २७ ॥

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए ॥ २८ ॥

अर्थ—जिनभाषित उत्तम धर्म को जान कर मुनि गोचरी आदि के लिए जाते समय विकथा न करे, कोई प्रश्न करे तो निमित्त आदि न बतावे, वृष्टि तथा

# द्वितीय अध्ययन

## तृतीय-उद्देशक

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जइ, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरति आदि कर्मास्रव के कारणों का निरोध कर देने वाले भिक्षु को अज्ञान से जो कर्म बँध गया है, वह सत्तरह प्रकार के संयम से क्षय को प्राप्त होता है। इस प्रकार नये कर्म को रोक देने वाला और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने वाला पण्डित पुरुष मृत्यु को लांघ कर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १ ॥

जे विन्नवणाहिऽज्झोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

अर्थ—जो महापुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते हैं और कामभोगों को रोग के समान देखते हैं, वे संसार से तिरे हुए पुरुषों के समान हैं, अर्थात् संसार में रहते हुए भी संसार से अतीत हैं। निश्चय समझो कि स्त्री का त्याग करने के पश्चात् ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥२॥

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंति राइणिया इहं।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा। ३ ॥

अर्थ—जैसे व्यापारियों द्वारा लाये हुए उत्तम रत्न आदि पदार्थों को राजा आदि ही धारण कर सकते हैं, उसी प्रकार आचार्य आदि द्वारा उपदिष्ट छठे रात्रिभोजन सहित पाँच महाव्रतों को महापुण्यवान् पुरुष ही धारण करते हैं; अन्य लोग धारण नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

अर्थ—आत्महित की प्राप्ति बहुत कठिन है ऐसा मानकर तथा यह वीतराग प्रणीत धर्म सर्व श्रेष्ठ है ऐसा जानकर सम्यग्ज्ञान आदि से सम्पन्न, गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने वाले और पापों का परित्याग करने वाले बहुसंख्यक जीवों ने इस संसार को पार किया है। ऐसा मैं कहता हूँ ॥ ३२ ॥

इति वेयालीयज्झयणस्स बीओ उद्देसो समत्तो ॥

अर्थ—इस संसार में जीवन को ही देखो–वह क्षण-क्षण में नष्ट हो रहा है। सौ वर्ष की आयु वाला मनुष्य भी अतिचिन्ता के कारण तरुण अवस्था में ही मृत्यु के वशीभूत हो जाता है। या इस काल में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, मगर वह सागरोपम की तुलना में बहुत अल्प है। इसलिए इस जीवन को अल्पकालीन वास समझो। ऐसी स्थिति में क्षुद्र मनुष्य ही कामभोगों में आसक्त होते हैं ॥८॥

जे इह आरंभनिस्सिया, आयदंड एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

अर्थ—इस लोक में जो मनुष्य आरंभ में आसक्त, आत्मा को दंडित करने वाले और प्राणियों की घात करने वाले हैं, वे चिरकाल के लिए नरक आदि पाप-लोक में जाएंगे। कदाचित् बालतप के कारण देवगति पाएंगे तो भी किल्विषी देव होंगे ॥ ९ ॥

ण य संखयमाहु जीवितं, तहवि य बालजणो पगब्भइ।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोयमागते ? ॥ १० ॥

अर्थ - सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि टूटा हुआ जीवन फिर नहीं साँधा जा सकता, तथापि अज्ञानी जन धृष्टता करते हैं और कहते हैं कि हमें वर्त्तमान कालीन सुख से प्रयोजन हैं। कौन परलोक देखकर आया है ? अर्थात् परलोक के सुख के लिए वर्त्तमान सुखों को त्यागना उचित नहीं है ! ॥ १० ॥

अदक्खु व दक्खुवाहियं, तं सद्दहसु अदक्खुदंसणा !
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

अर्थ—हे अन्धे के समान ज्ञान-दृष्टि हीन पुरुष ! तू सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आगम में श्रद्धा कर। यह समझ ले कि अपने द्वारा उपार्जित मोहनीय कर्म के प्रभाव से जिसकी दृष्टि रुक गई है, वह सर्वज्ञ प्ररूपित आगम पर श्रद्धा नहीं करता ॥११॥

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुले पाणेहिं संजए ॥१२॥

अर्थ—दुखी जीव बार-बार मोह को प्राप्त होता है, अतएव साधु पुरुष को चाहिए कि वह अपनी स्तुति और पूजा का त्याग कर दे अर्था मान-सन्मान को

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥ ४ ॥

अर्थ—इस जगत् में जो मनुष्य सुखशील हैं, ऋद्धि, रस और साता गौरव से युक्त हैं, कामभोग में मूर्छित हैं, वे इन्द्रियलम्पट कायर जनों के समान विषयों के सेवन में धृष्टता करते हैं। वे कहने पर भी तीर्थंकरप्ररूपित समाधि को नहीं समझ पाते ॥ ४ ॥

वाहेण जहाववच्छिए, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे निर्बल बैल गाड़ीवान के द्वारा चाबुक आदि मार-मार कर प्रेरित किया हुआ भी कठिन मार्ग को पार नहीं कर सकता। वह पराक्रमहीन तथा बलहीन होने के कारण विषम मार्ग में कष्ट पाता है; किन्तु भारवहन करने में समर्थ नहीं होता ॥ ५ ॥

एवं कामेसणं विऊ, अज्जसुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वावि अलद्धु कण्हुई ॥ ६ ॥

अर्थ—इसी प्रकार कामभोग की गवेषणा करने में कुशल पुरुष सोचता रहता है कि आज विषयभोगों को छोड़ दूँगा या कल छोड़ दूँगा; परन्तु वह छोड़ नहीं पाता। अतएव कामभोगों की कामना ही नहीं करनी चाहिए और प्राप्त हुए कामभोगों को अप्राप्त के समान समझना चाहिए ॥ ६ ॥

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयति, से थणति परिदेवति बहु ॥ ७ ॥

अर्थ—मृत्यु के पश्चात् दुर्गति न हो, ऐसा विचार कर विषयों से अपने आपको दूर करना चाहिए और अपनी आत्मा को शिक्षा देना चाहिए कि-हे आत्मन्! असाधु ( अनुचित ) कर्म करने वाले को दुर्गति में गये बाद शोक करना पड़ता है, हाय-हाय करनी पड़ती है और विलाप करना पड़ता है। ( अतएव तुझे पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और कामभोग से विरक्त हो जाना चाहिए) ॥७॥

इह जीवियमेव पासहा, तरुणे वाससयस्स तुट्टइ ।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया । ८॥

अर्थ—इस संसार में जीवन को ही देखो—वह क्षण-क्षण में नष्ट हो रहा है। सौ वर्ष की आयु वाला मनुष्य भी अतिचिन्ता के कारण तरुण अवस्था में ही मृत्यु के वशीभूत हो जाता है। या इस काल में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, मगर वह सागरोपम की तुलना में बहुत अल्प है। इसलिए इस जीवन को अल्पकालीन वास समझो। ऐसी स्थिति में क्षुद्र मनुष्य ही कामभोगों में आसक्त होते हैं ॥८॥

जे इह आरंभनिस्सिया, आयदंड एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

अर्थ—इस लोक में जो मनुष्य आरंभ में आसक्त, आत्मा को दंडित करने वाले और प्राणियों की घात करने वाले हैं, वे चिरकाल के लिए नरक आदि पाप-लोक में जाएंगे। कदाचित् बालतप के कारण देवगति पाएंगे तो भी किल्विषी देव होंगे ॥ ९ ॥

ण य संखयमाहु जीवितं, तहवि य बालजणो पगब्भइ।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोयमागते ? ॥ १० ॥

अर्थ - सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि टूटा हुआ जीवन फिर नहीं साँधा जा सकता, तथापि अज्ञानी जन धृष्टता करते हैं और कहते हैं कि हमें वर्त्तमान कालीन सुख से प्रयोजन हैं। कौन परलोक देखकर आया है ? अर्थात् परलोक के सुख के लिए वर्त्तमान सुखों को त्यागना उचित नहीं है ! ॥ १० ॥

अदक्खु व दक्खुवाहियं, तं सद्दहसु अदक्खुदंसणा !
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

अर्थ—हे अन्धे के समान ज्ञान-दृष्टि हीन पुरुष ! तू सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आगम में श्रद्धा कर। यह समझ ले कि अपने द्वारा उपार्जित मोहनीय कर्म के प्रभाव से जिसकी दृष्टि रुक गई है, वह सर्वज्ञ प्ररूपित आगम पर श्रद्धा नहीं करता ॥११॥

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं।
एवं सहितेऽविपासए, आयतुले पाणेहिं संजए ॥१२॥

अर्थ—दुखी जीव बार-बार मोह को प्राप्त होता है, अतएव साधु पुरुष को चाहिए कि वह अपनी स्तुति और पूजा का त्याग कर दे अर्था मान-सन्मान की

आकांक्षा न करे। ऐसा करने वाला ज्ञान आदि से सम्पन्न साधु सब प्राणियों को अपने ही समान देखे ॥ १२ ॥

गारं पिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥ १३ ॥

अर्थ—जब गृहस्थवास में रहने वाला पुरुष भी अनुक्रम से धर्म को सुन कर और श्रावकधर्म को धारण करके, जीवों की यतना करता हुआ तथा प्राणी मात्र पर समभाव रखता हुआ देवलोक में जाता है तो फिर महाव्रतधारी मुनि का तो कहना ही क्या है ॥ १३ ॥

सोचा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे, उञ्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥ १४ ॥

अर्थ—भिक्षु को वीतराग देव के अनुशासन–उपदेश–को सुन कर सत्य संयम में उद्योग करना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति मात्सर्य भाव का त्याग करना चाहिए और बयालीस दोषों को टाल कर शुद्ध भिक्षा लाना चाहिए ॥ १४ ॥

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥ १५ ॥

अर्थ—साधु सब हेय-उपादेय पदार्थों को जान कर संवर का आचरण करे। मन वचन काय का गोपन करके, ज्ञानादि से युक्त होकर स्व और पर के विषय में यतनाशील हो तथा मोक्ष का अभिलाषी होकर विचरे ॥ १५ ॥

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥ १६ ॥

अर्थ—अज्ञानी जन धन आदि अचित्त वस्तुओं को, पशुओं को तथा ज्ञातिजनों ( द्विपदों ) को शरणभूत मानता है। वह समझता है कि यह सब मेरे हैं, मैं इनका रक्षण करूँगा और ये मेरी रक्षा करेंगे, परन्तु ये सब उसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गती य आगती, विदूमंता सरणं न मन्नइ ॥ १७ ॥

अर्थ—असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त दुःख को जीव अकेला ही भोगता है। उपक्रम ( अतिचिन्ता आदि ) के कारणों से या आयु कर्म के समाप्त होने पर जब मृत्यु होती है तो अकेला ही परलोक जाता है और अकेले का ही परलोक से आगमन होता है। अतएव विवेकवान् पुरुष जगत् के किसी भी पदार्थ को शरणभूत नहीं मानते हैं॥ १७॥

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिदुता ॥१८॥

अर्थ—ससार के सब प्राणी अपने अपने कर्म के उदय से ही एकेन्द्रिय आदि नाना अवस्था में अवस्थित हैं तथा अव्यक्त और व्यक्त दुःख से पीड़ित हैं। वे शठ जीव जन्म जरा और मरण के दुःख भोग रहे हैं और भय से आकुल-व्याकुल होकर संसार-भ्रमण कर रहे हैं॥ १८॥

इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं।
एवं सहिएऽहियासए, आह जिणो इणमेव सेसगा ॥१९॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष इस अवसर को पहचाने, अर्थात् मनुष्य भव, सत्कुल में जन्म, आर्य देश, धर्म की प्राप्ति आदि के अनुकूल अवसर पाकर धर्म की आराधना करे। वीतराग देव द्वारा प्ररूपित बोधि की प्राप्ति होना सहज नहीं है—यह अवसर चला गया तो न जाने कब बोधि प्राप्त होगी ! इस प्रकार ज्ञानी पुरुष को विचार करना चाहिए। श्री ऋषभदेव भगवान् ने अपने पुत्रों को यही उपदेश दिया था और शेष तीर्थंकरों ने भी यही कहा है॥ १९॥

अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वता।
एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

अर्थ—हे मुनियो ! भूतकाल में जो तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे, उन सभी सुव्रती महापुरुषों ने इन्हीं गुणों का कथन किया है—यही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। काश्यप अर्थात् श्री ऋषभदेवजी तथा श्री महावीर स्वामी के अनुगामी जो हुए हैं, उनका भी यही कथन है। तात्पर्य यह है त्रिकाल के ज्ञाता तीर्थंकर भगवंतों का तत्वोपदेश सदैव एक रूप होता है, उसमें परस्पर विरोध की सम्भावना नहीं की जा सकती। मतभेद छद्मस्थों में होता है, सर्वज्ञों में नहीं। अतएव मोक्ष मार्ग की यह प्ररूपणा अनादिकाल से ऐसी ही चली आ रही है॥२०॥

आकांक्षा न करे। ऐसा करने वाला ज्ञान आदि से सम्पन्न साधु सब प्राणियों को अपने ही समान देखे॥ १२॥

गारं पिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे सलोगयं॥ १३॥

अर्थ—जब गृहस्थवास में रहने वाला पुरुष भी अनुक्रम से धर्म को सुन कर और श्रावकधर्म को धारण करके, जीवों की यतना करता हुआ तथा प्राणी मात्र पर समभाव रखता हुआ देवलोक में जाता है तो फिर महाव्रतधारी मुनि का तो कहना ही क्या है॥ १३॥

सोचा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे, उञ्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे॥ १४॥

अर्थ—भिक्षु को वीतराग देव के अनुशासन-उपदेश-को सुन कर सत्य संयम में उद्योग करना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति मात्सर्य भाव का त्याग करना चाहिए और बयालीस दोषों को टाल कर शुद्ध भिक्षा लाना चाहिए॥ १४॥

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए, आयपरे परमायतट्ठिते॥ १५॥

अर्थ—साधु सब हेय-उपादेय पदार्थों को जान कर संवर का आचरण करे। मन वचन काय का गोपन करके, ज्ञानादि से युक्त होकर स्व और पर के विषय में यतनाशील हो तथा मोक्ष का अभिलाषी होकर विचरे॥ १५॥

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ॥ १६॥

अर्थ—अज्ञानी जन धन आदि अचित्त वस्तुओं को, पशुओं को तथा ज्ञातिजनों ( द्विपदों ) को शरणभूत मानता है। वह समझता है कि यह सब मेरे हैं, मैं इनका रक्षण करूँगा और ये मेरी रक्षा करेंगे, परन्तु ये सब उसकी रक्षा नहीं कर सकते॥ १६॥

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं न मन्नइ॥ १७॥

## उपसर्ग परिज्ञा नामक तीसरा अध्ययन

### प्रथम उद्देशक

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सति ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१॥

अर्थ—जैसे शिशुपाल अपने आपको शूरवीर मानता था, परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ महारथी ( कृष्ण वासुदेव ) को संग्राम में जूझते देख कर क्षोभ को प्राप्त हुआ, इसी प्रकार कितने ही क्षुद्र लोग अपने को शूरवीर समझते हैं, परन्तु जब तक वे अपने विजेता को नहीं देखते, तभी तक उनका सामर्थ्य रहता है। १ ॥

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥२॥

अर्थ—संग्राम उपस्थित होने पर अपने आपको शूरवीर मानने वाले, किन्तु वास्तव में कायर पुरुष भी युद्ध के अग्रभाग में चले जाते हैं परन्तु जिस विकट संग्राम में ( वीर सुभटों की चहल पहल से व्याकुल ) माता अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र का भी भान भूल जाती है, ऐसा संग्राम छिड़ने पर विजेता शत्रु के द्वारा छेदन-भेदन किये जाने पर दीन बन जाते हैं ॥ २ ॥

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया-अकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

अर्थ—इसी प्रकार परीषहों और उपसर्गों से स्पृष्ट न हुआ तथा भिक्षाचर्या में अकुशल नवदीक्षित साधु तभी तक अपने को शूर समझता है और कहता है कि इस दीक्षा के पालने में क्या रक्खा है, जब तक वह संयम का पालन नहीं

तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाणसंवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो संपइ जे अ अणागयावरे ॥ २१ ॥

अर्थ—मन वचन और काय से प्राणियों का हनन नहीं करना चाहिए। सदैव आत्मकल्याण में लीन रहकर तथा निदान रहित होकर संवर से युक्त रहना चाहिए। इस धर्म का आचरण करके अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। ( यहाँ प्राणातिपात-विरमण रूप प्रथम महाव्रत का ग्रहण किया है, उससे शेष चार महाव्रतों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए, क्योंकि असत्य, स्तेय, मैथुन एवं परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग किये बिना पूर्ण अहिंसा की आराधना संभव नहीं है। ) ॥ २१ ॥

एवं से आहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ २२ ॥ त्ति बेमि ॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवान्, सर्वोत्कृष्ट दर्शन के धारक तथा सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन के धारक, इन्द्र आदि देवों द्वारा पूजनीय, ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने विशाला नगरी में यह धर्मोपदेश फरमाया था, अथवा वैशालिक अर्थात् भगवान् ऋषभदेव ने यह धर्मतत्त्व कहा है।

तात्पर्य यह है कि 'वैशालिक' शब्द से यहाँ भगवान् आदिनाथ तथा भगवान् महावीर—दोनों को ग्रहण किया है। वैशालिक का अर्थ इस प्रकार किया गया है:—

विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा ।
विशालं वचनं यस्य, तेन वैशालिको जिनः ॥

अर्थात्—जिनकी माता विशाला थीं, जिनका कुल विशाल था तथा जिनका प्रवचन विशाल था, वे जिन वैशालिक कहलाते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

इति वेयालीयज्झयणस्स तइओ उद्देसो समत्तो ॥

## द्वितीय अध्ययन समाप्त

# उपसर्ग परिज्ञा नामक तीसरा अध्ययन

## प्रथम उद्देशक

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सति ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१॥

अर्थ—जैसे शिशुपाल अपने आपको शूरवीर मानता था, परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ महारथी ( कृष्ण वासुदेव ) को संग्राम में जूझते देख कर क्षोभ को प्राप्त हुआ, इसी प्रकार कितने ही क्षुद्र लोग अपने को शूरवीर समझते हैं, परन्तु जब तक वे अपने विजेता को नहीं देखते, तभी तक उनका सामर्थ्य रहता है । १ ॥

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥२॥

अर्थ—संग्राम उपस्थित होने पर अपने आपको शूरवीर मानने वाले, किन्तु वास्तव में कायर पुरुष भी युद्ध के अग्रभाग में चले जाते हैं परन्तु जिस विकट संग्राम में ( वीर सुभटों की चहल पहल से व्याकुल ) माता अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र का भी भान भूल जाती है, ऐसा संग्राम छिड़ने पर विजेता शत्रु के द्वारा छेदन-भेदन किये जाने पर दीन बन जाते हैं ॥ २ ॥

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया-अकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

अर्थ—इसी प्रकार परीषहों और उपसर्गों से स्पृष्ट न हुआ तथा भिक्षाचर्या में अकुशल नवदीक्षित साधु तभी तक अपने को शूर समझता है और कहता है कि इस दीक्षा के पालने में क्या रक्खा है, जब तक वह संयम का पालन नहीं

करता है। (संयम-पालन का अवसर आने पर बहुत-से गुरुकर्मा पुरुष, युद्ध में गये कायर नर की तरह भाग छूटते हैं।) ॥ ३ ॥

जया हेमंतमासम्मि, सीतं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥ ४॥

अर्थ—जब हेमन्त मास-शीतकाल में सर्वांग में शीत का स्पर्श होता है, उस समय मन्द जीव उसी प्रकार विपाद को प्राप्त होते हैं, जैसे राज्य से भ्रष्ट हुए क्षत्रिय विपाद का अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु की तीव्र गर्मी से पीड़ित होकर तथा प्यास से पीड़ित होकर नव-दीक्षित साधु उदास हो जाता है। उस समय कितने ही मन्द अधीर पुरुष उसी प्रकार विपाद को प्राप्त होते हैं, जैसे जल के अभाव में या अल्प जल में मच्छ विपाद को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढो जणा ॥६॥

अर्थ—शीत और उष्ण परीपह का वर्णन करने के पश्चात् यहाँ याचना परीषह तथा आक्रोश परीषह का वर्णन किया गया है:-सदैव दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु को ही ग्रहण करना साधु के लिए बड़ा दुःख है। याचना करना भी महान् कष्ट है। इतने पर भी कई अविवेकी पुरुष साधु को देखकर कहते हैं-ये बेचारे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भुगत रहे हैं, अभागे हैं! ॥ ६ ॥

एते सद्दे अचायंता, गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामम्मिव भीरुया ॥७॥

अर्थ—जैसे भीरुजन संग्राम में विपाद को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ग्राम या नगर में रहे हुए, पूर्वोक्त शब्दों को सहन करने में असमर्थ मंदमति प्रव्रजित पुरुष भी विपाद को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

अर्थ—भिक्षा के लिए गये हुए साधु को जब कोई कुत्ता आदि क्रूर प्राणी काट लेता है, तब मंद साधु इस प्रकार विषाद करता है जैसे प्राणी अग्नि के छूने से पीडित हो जाते हैं ( यह वध-परीषह का वर्णन किया गया ) ॥ ८ ॥

अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागता ।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥६॥

अर्थात्—साधु के द्वेषी कोई-कोई साधु को सामने देखकर ऐसे कठोर वचन बोलते हैं कि यह साधु जो भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते हैं सो अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोग रहे हैं ॥ ६ ॥

अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥ १० ॥

अर्थ—कोई पुरुष जिनकल्पी आदि साधुओं को देख कर ऐसे वचनों का प्रयोग करते हैं-'यह नंगे हैं, दूसरों के भोजन के इच्छुक हैं, मुंडित हैं, खुजली से इनके अंग सड़ गये हैं, सूखे पसीने से ( मैल से ) भरे हुए हैं। अशोभनीय और असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं ॥ १० ॥

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥ ११ ॥

अर्थ—इस प्रकार साधु और सन्मार्ग के द्वेषी, स्वयं अज्ञानी और मिथ्यात्व रूप मोह से आच्छादित मूर्ख पुरुष अंधकार से निकल कर पुनः अंधकार में जाते हैं-कुमार्गगामी होते हैं ॥ ११ ॥

पुट्ठो य दंसमसगेहिं, तणफासमचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥ १२ ॥

अर्थ—दंश-मशक परीषह से पीड़ित हुए तथा तृणादिक के स्पर्श को सहन करने में असमर्थ नवदीक्षित कायर सोचने लगता है कि-यह दुष्कर अनुष्ठान परलोक के लिए किया जा रहा है, परन्तु परलोक तो मैंने देखा नहीं है ! हाँ, इस कष्ट के कारण मरण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है ॥ १२ ॥

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विद्धा व केयणे ॥ १३ ॥

अर्थ—केशलोंच से संताप पाने वाले तथा कामविकार पर विजय पाने में असमर्थ मूर्ख पुरुष दीक्षा धारण करके ऐसे दुःखी होते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछली दुःख भोगती है ॥ १३ ॥

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥ १४ ॥

अर्थ—जिससे आत्मा दंड का भागी होता है, ऐसे आचार का सेवन करने वाले, मिथ्यात्व के कारण विपरीत भावना वाले तथा राग-द्वेष से युक्त कई अनार्य जन साधु को पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ १४ ॥

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥ १५ ॥

अर्थ—कोई-कोई अनार्य पुरुष, अनार्य देश के समीप-सीमा पर विचरने वाले सुव्रतधारी साधु को 'यह जासूस है, चोर है' इस प्रकार कह कर रस्सी आदि से बाँध लेते हैं और कटुक वचन कह कर भर्त्सना करते हैं ॥ १५ ॥

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरति बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

अर्थ—उसी अनार्य देश की सीमा पर जब वे अनार्य जन साधु को डंडे से, मुक्के से, बिल्वफल से या खड्ग आदि से मारते हैं, तब वह अपने ज्ञातिजनों-बन्धु-बान्धवों को स्मरण करता है, अर्थात् यहाँ मेरे स्वजन-संबंधी होते तो मुझे यह कष्ट न होता-वे मेरी रक्षा करते, ऐसा सोचता है। जैसे क्रोधित होकर घर से निकल जाने वाली स्त्री को मार्ग में चोर आदि लूटें तो वह अपने घर वालों को स्मरण करती है, उसी प्रकार मंद साधु परीषह आने पर अपने स्वजनों का स्मरण करते हैं ॥ १६ ॥

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंविता, कीवा वसगया गिहं ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—जैसे बाणों से विंधा हुआ हस्ती संग्राम में से भाग जाता है इसी प्रकार हे-शिष्यो ! इन पूर्वोक्त सब कठोर और दुस्सह परीषहों से पीड़ित होकर असमर्थ साधु संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥

ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १७ ॥

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विद्धा व केयणे ॥ १३ ॥

अर्थ—केशलोंच से संताप पाने वाले तथा कामविकार पर विजय पाने में असमर्थ मूर्ख पुरुष दीक्षा धारण करके ऐसे दुःखी होते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछली दुःख भोगती है ॥ १३ ॥

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥ १४ ॥

अर्थ—जिससे आत्मा दंड का भागी होता है, ऐसे आचार का सेवन करने वाले, मिथ्यात्व के कारण विपरीत भावना वाले तथा राग-द्वेष से युक्त कई अनार्य जन साधु को पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ १४ ॥

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥ १५ ॥

अर्थ—कोई-कोई अनार्य पुरुष, अनार्य देश के समीप-सीमा पर विचरने वाले सुव्रतधारी साधु को 'यह जासूस है, चोर है' इस प्रकार कह कर रस्सी आदि से बाँध लेते हैं और कटुक वचन कह कर भर्त्सना करते हैं ॥ १५ ॥

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरति बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

अर्थ—उसी अनार्य देश की सीमा पर जब वे अनार्य जन साधु को डंडे से, मुक्के से, बिल्वफल से या खड्ग आदि से मारते हैं, तब वह अपने ज्ञातिजनों-बन्धु-बान्धवों को स्मरण करता है, अर्थात् यहाँ मेरे स्वजन-संबंधी होते तो मुझे यह कष्ट न होता-वे मेरी रक्षा करते, ऐसा सोचता है। जैसे क्रोधित होकर घर से निकल जाने वाली स्त्री को मार्ग में चोर आदि लूटें तो वह अपने घर वालों को स्मरण करती है, उसी प्रकार मंद साधु परीषह आने पर अपने स्वजनों का स्मरण करते हैं ॥ १६ ॥

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंविता, कीवा वसगया गिहं ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—जैसे बाणों से विंधा हुआ हस्ती संग्राम में से भाग जाता है इसी प्रकार हे-शिष्यो ! इन पूर्वोक्त सब कठोर और दुस्सह परीषहों से पीड़ित होकर असमर्थ साधु संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥

ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १७ ॥

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥ १३ ॥

अर्थ—केशलोंच से संताप पाने वाले तथा कामविकार पर विजय पाने में असमर्थ मूर्ख पुरुष दीक्षा धारण करके ऐसे दुखी होते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछली दुःख भोगती है ॥ १३ ॥

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥ १४ ॥

अर्थ—जिससे आत्मा दंड का भागी होता है, ऐसे आचार का सेवन करने वाले, मिथ्यात्व के कारण विपरीत भावना वाले तथा राग-द्वेष से युक्त कई अनार्य जन साधु को पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ १४ ॥

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहिं य ॥ १५ ॥

अर्थ—कोई-कोई अनार्य पुरुष, अनार्य देश के समीप-सीमा पर विचरने वाले सुव्रतधारी साधु को 'यह जासूस है, चोर है' इस प्रकार कह कर रस्सी आदि से बाँध लेते हैं और कटुक वचन कह कर भर्त्सना करते हैं ॥ १५ ॥

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरति बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

अर्थ—उसी अनार्य देश की सीमा पर जब वे अनार्य जन साधु को डंडे से, मुक्के से, बिल्वफल से या खड्ग आदि से मारते हैं, तब वह अपने ज्ञातिजनों-बन्धु-बान्धवों को स्मरण करता है, अर्थात् यहाँ मेरे स्वजन-संबंधी होते तो मुझे यह कष्ट न होता-वे मेरी रक्षा करते, ऐसा सोचता है। जैसे क्रोधित होकर घर से निकल जाने वाली स्त्री को मार्ग में चोर आदि लूटें तो वह अपने घर वालों को स्मरण करती है, उसी प्रकार मंद साधु परीषह आने पर अपने स्वजनों का स्मरण करते हैं ॥ १६ ॥

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंविता, कीवा वसगया गिहं ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—जैसे बाणों से विंधा हुआ हस्ती संग्राम में से भाग जाता है इसी प्रकार हे-शिष्यो ! इन पूर्वोक्त सब कठोर और दुस्सह परीषहों से पीड़ित होकर असमर्थ साधु संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥

ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १७ ॥

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥ १३ ॥

अर्थ—केशलोंच से संताप पाने वाले तथा कामविकार पर विजय पाने में असमर्थ मूर्ख पुरुष दीक्षा धारण करके ऐसे दुखी होते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछली दुःख भोगती है ॥ १३ ॥

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥ १४ ॥

अर्थ—जिससे आत्मा दंड का भागी होता है, ऐसे आचार का सेवन करने वाले, मिथ्यात्व के कारण विपरीत भावना वाले तथा राग-द्वेष से युक्त कई अनार्य जन साधु को पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ १४ ॥

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥ १५ ॥

अर्थ—कोई-कोई अनार्य पुरुष, अनार्य देश के समीप-सीमा पर विचरने वाले सुव्रतधारी साधु को 'यह जासूस है, चोर है' इस प्रकार कह कर रस्सी आदि से बाँध लेते हैं और कटुक वचन कह कर भर्त्सना करते हैं ॥ १५ ॥

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरति बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

अर्थ—उसी अनार्य देश की सीमा पर जब वे अनार्य जन साधु को डंडे से, मुक्के से, बिल्वफल से या खड्ग आदि से मारते हैं, तब वह अपने ज्ञातिजनों-बन्धु-बान्धवों को स्मरण करता है, अर्थात् यहाँ मेरे स्वजन-संबंधी होते तो मुझे यह कष्ट न होता-वे मेरी रक्षा करते, ऐसा सोचता है। जैसे क्रोधित होकर घर से निकल जाने वाली स्त्री को मार्ग में चोर आदि लूटें तो वह अपने घर वालों को स्मरण करती है, उसी प्रकार मंद साधु परीषह आने पर अपने स्वजनों का स्मरण करते हैं ॥ १६ ॥

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंविता, कीवा वसगया गिहं ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—जैसे बाणों से विंधा हुआ हस्ती संग्राम में से भाग जाता है इसी प्रकार हे-शिष्यो ! इन पूर्वोक्त सब कठोर और दुस्सह परीषहों से पीड़ित होकर असमर्थ साधु संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥

ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १७ ॥

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

# तीसरे अध्ययन का
# द्वितीय उद्देशक

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खूणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

अर्थ—प्रथम उद्देशक में प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन करने के पश्चात् अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं। ये अनुकूल उपसर्ग सूक्ष्म होते हैं–बाहर से दिखाई नहीं देते। साधुजन बड़ी कठिनाई से इन्हें जीत पाते हैं। कई पुरुष इन उपसर्गों के आने पर विषाद को प्राप्त होते हैं और वे अपनी आत्मा को संयम में प्रवृत्त नहीं रख सकते-संयम-पालन में असमर्थ हो जाते हैं ॥ १ ॥

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोस णे ताय ! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय ! जहासि णे ॥२॥

अर्थ—साधु को देख कर, उसके माता-पिता आदि स्वजन उसे घेर कर रोने लगते हैं और कहते हैं–तात ! हमने तुम्हारा पालन पोषण किया है, अब वृद्धावस्था में तुम हमारा पालन-पोषण करो। हे तात ! किस कारण से तुम हमारा परित्याग करते हो ? ॥ २ ॥

पिआ ते थेरओ तात ! ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा तात ! सोयरा किं जहासि णे ? ॥३॥

अर्थ—परिवार के लोग साधु से कहते हैं- तात ! तुम्हारे यह पिता बूढ़े हैं। तुम्हारी यह बहिन छोटी-सी है। तात ! तुम्हारे यह सगे सहोदर भाई हैं। फिर तुम क्यों हम सब को त्यागते हो ? ॥ ३ ॥

मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय ! जे पालंति य मायरं ॥४॥

अर्थ—हे पुत्र ! माता और पिता का पालन-पोषण करो। ऐसा करने से ही तुम्हारे परलोक की सिद्धि होगी। अपने वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण करना ही लौकिक सदाचार है ॥ ४ ॥

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते ताय ! खुड्डया ।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥

अर्थ—हे तात ! एक-एक करके उत्पन्न हुए, तुम्हारे यह मधुर बोली बोलने वाले पुत्र अभी नन्हें-नन्हें हैं। तुम्हारी पत्नी नवयौवना है। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे त्याग देने से वह दूसरे के पास चली जाय ॥ ५ ॥

एहि ताय ! घरं जामो, मा य कम्मेसहा वयं ।
बितियं पि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥ ६ ॥

अर्थ—हे तात ! आओ, घर चलें। तुम घर का कोई काम--काज मत करना। हम तुम्हारा काम कर देंगे। एक बार तुम घर से निकल आये हो, अब दूसरी बार घर चलो, हम तुम्हारा सब काम कर देंगे। चलो, हम सब घर चलें ॥६॥

गंतु ताय ! पुणो गच्छे, ण तेणासमणो सिया ।
अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ॥ ७ ॥

अर्थ—हे तात ! एक बार घर चल कर--अपने स्वजनों से मिल कर, फिर आ जाना। ऐसा करने से साधुपन नहीं चला जायगा। अगर तुम घर के काम--काज में इच्छा-रहित होओगे और अपनी इच्छा के अनुसार वर्तोगे तो कौन तुम्हें रोक सकता है ? अथवा—जब वृद्धावस्था आने पर निष्काम हो जाओगे और संयम की साधना करोगे तो तुम्हें कोई नहीं रोकेगा ॥ ७ ॥

जं किंचि अणगं तात ! तंपि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहाराइ, तंपि दाहामु ते वयं ॥ ८ ॥

अर्थ—हे तात ! तुम्हारे ऊपर जो ऋण था, उस सब को भी हमने बराबर कर दिया है-बाँट लिया है या चुका दिया है। तुम्हारे व्यवहार के लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होगी, वह भी हम तुम्हें देंगे ॥ ८ ॥

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीयसमुट्ठिया ।
विबद्धो नाइसंगेहिं, ततोऽगारं पहावइ ॥ ९ ॥

अर्थ—इस प्रकार करुणाजनक शब्दों से दीनता दिखलाते हुए बन्धु-बान्धव साधु को शिक्षा देते हैं। तत्पश्चात् उन स्वजनों के संग से बंधा हुआ गुरुकर्मी वह साधु दीक्षा का त्याग करके घर चला जाता है ॥ ९ ॥

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे जंगल में उत्पन्न हुए वृक्ष को लताएँ जकड़ लेती हैं, उसी प्रकार स्वजन-वर्ग साधु के चित्त में असमाधि ( अशान्ति ) उत्पन्न करके बंधन में फँसा लेता है ॥ १० ॥

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वावि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति सुयगो व्व अदूरए ॥ ११ ॥

अर्थ—स्वजन-संबंधी जनों के फंदे में पड़े हुए उस दीक्षात्यागी पुरुष के पीछे-पीछे उसके स्वजन इस प्रकार चलते हैं, जैसे नवीन पकड़े हुए हाथी की खातिरदारी की जाती है। जैसे ताजा ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पास ही रहती है, उसी प्रकार वे स्वजन भी उसके पास ही रहते हैं ॥ ११ ॥

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहिं मुच्छिया ॥ १२ ॥

अर्थ—मनुष्यों के लिए माता-पिता आदि स्वजनों का मोह, अथाह समुद्र के समान दुस्तर होता है। इस ममता के कारण असमर्थ पुरुष क्लेश के भागी होते हैं ॥ १२ ॥

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥ १३ ॥

अर्थ—संसार के सभी संग कर्म के आस्रव के द्वार हैं, ऐसा जान कर भिक्षु को उनका त्याग कर देना चाहिए। सर्वज्ञ देव द्वारा प्ररूपित सर्वोत्तम धर्म को सुन कर असंयम रूप जीवन की इच्छा नहीं करनी चाहिए॥ १३॥

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं॥ १४॥

अर्थ—अब काश्यप भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इन आगे कहे हुए आवर्त्तों को ( चक्करों को ) जानना चाहिए। ज्ञानी जन इन आवर्त्तों से बचे रहते हैं और मूढ़ जन इनमें फँस कर दुःखी होते हैं॥ १४॥

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खुयं साहुजीविणं॥ १५॥

अर्थ—चक्रवर्त्ती आदि राजा, मंत्री, पुरोहित आदि ब्राह्मण तथा अन्य क्षत्रिय आदि साधुवृत्ति से जीवन यापन करने वाले मुनि को भोग भोगने के लिए आमंत्रित करते हैं॥ १५॥

हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी! पूजयामु तं।॥ १६॥

अर्थ—वे कहते हैं:-"हे महर्षि! आप इन हाथी, घोड़े, रथ या यान में बैठें। आप मानसिक खेद दूर करने के लिए विहार ( क्रीड़ास्थल या उद्यान ) में चलें। आप इन प्रशंसनीय भोगों को भोगें। हम आपकी पूजा करते हैं॥ १६॥

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो! पूजयामु तं॥१७॥

अर्थ—वह राजा आदि कहते हैं-हे आयुष्मन् श्रमण! आप चीनांशुक आदि वस्त्रों को, कपूर आदि गंध को, केयूर आदि आभूषणों को नवयुवती स्त्रियों को तथा रुईदार तकिया आदि से युक्त पलंग का उपभोग कीजिए। इन सब वस्तुओं से हम आपका सत्कार करते हैं॥ १७॥

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खु भावम्मि सुव्वया!
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा॥१८॥

अर्थ—हे सुव्रतवान् ! साधु-पर्याय में आपने जो महाव्रत आदि नियम पाले हैं, वे सब गृहस्थवास में रहने पर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं ॥ १८ ॥

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणि कुओ तव ।
इच्चेव णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं ॥१९॥

अर्थ—हे मुनि ! आपको संयम का पालन करते बहुत समय हो गया है। अब भोग भोगने पर भी आपको कैसे दोष लग सकता है ? इस प्रकार भोगों के लिए आमंत्रित करके लोग साधु को उसी प्रकार फाँस लेते हैं, जैसे धान्य के कण डालकर शूकर को शिकारी फंदे में फाँस लेते हैं ॥ १९ ॥

चोइया भिक्खायरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥ २० ॥

अर्थ—जैसे चढ़ाव आने पर (गाड़े के भार से पीड़ित) दुर्बल बैल शिथिल पड़ जाते हैं, उसी प्रकार साधु का आचार पालने के लिए आचार्य आदि के द्वारा प्रेरित किये हुए शिथिल साधु, संयम का निर्वाह करने में विषाद का अनुभव करते हैं—संयम का त्याग कर देते हैं ॥ २० ॥

अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि जरग्गवा ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसे चढ़ाव वाले मार्ग में बूढ़ा बैल कष्ट पाता है, उसी प्रकार संयम का पालन करने में असमर्थ और तपस्या से पीड़ित हुए मंद जीव संयम मार्ग में क्लेश का अनुभव करते हैं ॥ २१ ॥

एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं ॥ २२ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से भोगों को भोगने का निमंत्रण पाकर विषय भोग के साधनों में आसक्त, स्त्रियों में लोलुप तथा काम में मूर्छित कितने ही मूढ़ पुरुष संयम-पालन के लिए प्रेरित करने पर गृहवास में चले गये हैं ॥ २२ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स बीओ उद्देसो समत्तो ॥

# तृतीय अध्ययन

## तृतीय-उद्देशक

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ॥ १ ॥
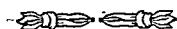
अर्थ—संग्राम के अवसर पर भीरु पुरुष आत्म-रक्षा के लिए पीछे की ओर गड्ढा, गहन स्थान और छिपा स्थान देखता है। वह सोचता है-कौन जाने किसका पराजय होगा ? अतएव पहले से छिपने का स्थान देख रक्खेंगे तो प्राण बचा सकेंगे ॥ १ ॥

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहइ ॥ २ ॥

अर्थ—बहुत से मुहूर्तों में कोई एक मुहूर्त ऐसा होता है, अथवा एक मुहूर्त्त में कोई ऐसा समय होता है, जब विजय या पराजय होती है। संभव है, हमें पराजित होकर भागना पड़े; ऐसा सोचकर डरपोक पुरुष पहले ही छिपने का स्थान देख लेता है ॥ २ ॥

एवं तु समणा एगे, अबलं नचाण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अवकप्पंतिमं सुयं ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे संग्राम भूमि में गया कायर पुरुष पहले से ही छिपने का स्थान देख रखता है, उसी प्रकार कोई-कोई कायर श्रमण जीवन पर्यन्त संयम पालने में अपने को अशक्त जानकर भविष्यत् कालीन भय की कल्पना करके व्याकरण ज्योतिष आदि शास्त्रों को अपनी रक्षा का साधन बनाते हैं। अर्थात् वे

ज्योतिष आदि किसी ऐसे शास्त्र को सीख रखते हैं, जिससे संयम त्यागने के पश्चात् आजीविका चल सके ॥ ३ ॥

को जाणइ विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥ ४ ॥

अर्थ—कायर श्रमण सोचता है–मैं स्त्री सेवन से अथवा सचित्त पानी का उपभोग करने से संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा, यह कौन जानता है ? मेरे पास कोई पूर्वोपार्जित धन नहीं है, जो संयम से भ्रष्ट होने पर काम आ सके। उस समय किसी के पूछने पर मैं हस्तविद्या, धनुर्वेद या व्याकरण आदि बतलाकर अपना निर्वाह करूँगा ॥ ४ ॥

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥ ५ ॥

अर्थ—मैं संयम का पालन कर सकूँगा या नहीं, ऐसा संशय करने वाले कायर श्रमण, संग्राम के समय छिपने का स्थान खोजने वाले भीरु पुरुष के समान, संयम के पथ को न जानते हुए यही सोचते हैं कि यह व्याकरण आदि मेरे काम आएगा ॥ ५ ॥

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

अर्थ—जो पुरुष लोक में विख्यात और शूरवीरों में अग्रगण्य हैं, वे संग्राम के अवसर पर पीछे की ओर नहीं देखते। वे सोचते हैं–मृत्यु से बढ़ कर और क्या होगा ! ॥ ६ ॥

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

अर्थ—इसी प्रकार गृहस्थी के बंधनों को त्याग कर तथा सावद्य क्रियाओं को त्याग कर जो वीर भिक्षु संयम पालने के लिए उद्यत हुआ है, वह मोक्षमार्ग में ही प्रवृत्ति करता है ॥ ७ ॥

तमेगे परिभासंति, भिक्खुयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥ ८ ॥

अर्थ—कायर पुरुष के अन्तःकरण में किस प्रकार विषाद उत्पन्न होता है, यह बतलाया जा चुका। अब यह बतलाते हैं कि अन्यतीर्थी लोग सच्चे साधु के विषय में क्या कहते हैं ? सूत्रकार कहते हैं-संयम के मार्ग पर चलने वाले भिक्षु के विषय में कोई-कोई अन्यतीर्थिक आक्षेप करते हैं, किन्तु आक्षेप करने वाले वे लोग समाधि से दूर हैं ॥ ८ ॥

संबद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया ।
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥ ९ ॥

अर्थ—गोशालकमतानुयायी जो निन्दा करते हैं, उसे बतलाते हैं। वे कहते हैं-आपका व्यवहार गृहस्थ के समान है । जैसे गृहस्थ माता-पिता आदि में आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार आप भी परस्पर में आसक्त हैं। आप बीमार साधु के लिए आहार लाते हैं और उसे देते हैं ॥ ९ ॥

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा ।
नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा ॥ १० ॥

अर्थ—वे अन्यतीर्थी यह भी कहते हैं--आप लोग राग से युक्त हैं और परस्पर एक दूसरे के अधीन-वशीभूत हो रहे हैं अतएव आप सन्मार्ग से तथा सद्-भाव से च्युत हैं और संसार से पार नहीं हो सकते हैं ॥ १० ॥

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खू मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से निन्दा करने वाले को मोक्षमार्ग में कुशल भिक्षु इस प्रकार उत्तर देवे कि -ऐसा कहते हुए आप दो पक्षों का सेवन करते हैं, अर्थात् आप स्वयं सदोष आचार का सेवन करते हैं और फिर भी अपने पक्ष का समर्थन करते हैं, अतः आपको अपने पक्ष से राग है और निर्दोष साधु की निन्दा करके द्वेष प्रकट कर रहे हैं। अथवा सचित्त जल, बीज, वनस्पति आदि का सेवन करने के कारण गृहस्थ के समान हैं और साधु का भेष धारण करने के कारण साधु हैं, इस प्रकार से दो पक्षों का सेवन करते हैं। अथवा इस प्रकार निन्दा करके आप दुष्पक्ष ( असत्पक्ष ) का सेवन करते हैं ॥ ११ ॥

तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि या ।
तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं ॥ १२ ॥

अर्थात्—आप लोग गृहस्थ के कांसे आदि के पात्रों में भोजन करते हैं तथा रोगी साधु के लिए गृहस्थों द्वारा भोजन मँगवाते हैं। गृहस्थ सचित्त बीज उदक आदि का मर्दन करके आहार बनाता है और आप उसे भोगते हैं, अतः आपको भी दोष लगता है । आप उद्दिष्ट आदि दूषित आहार का भी सेवन करते हैं ॥ १२ ॥

लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिया असमाहिया ।
नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झति ॥ १३ ॥

अर्थ—आप लोग षट्काय के जीवों की विराधना, औद्देशिक आहार का सेवन, मिथ्यात्व तथा मुनियों की निन्दा से होने वाले तीव्र कर्मबंध से लिप्त हैं, विवेक से हीन तथा शुभ भाव से रहित हैं। घाव को अधिक खुजाना अच्छा नहीं है। ऐसा करने से विकार बढ़ता है ॥ १३ ॥

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥ १४ ॥

अर्थात्—सत्य अर्थ का निरूपण करने वाले तथा हेय-उपादेय तत्वों के ज्ञाता मुनि उन्हे इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि आपका मार्ग युक्ति-संगत नहीं है। आप बीमार साधु को आहार लाकर देने आदि का जो दोष बतलाते हैं सो बिना विचारे ही ऐसा वचन बोलते हैं ॥ १४ ॥

एरिसा जा वई एसा, अग्गवेणुव्व करिसिता ।
गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥ १५ ॥

अर्थ—साधु को गृहस्थ द्वारा लाया आहार करना श्रेयस्कर है; किन्तु साधु द्वारा लाया आहार करना श्रेयस्कर नहीं आपका यह वचन बांस के अग्रभाग के समान दुर्बल है; क्योंकि यह युक्ति से शून्य है अर्थात् गृहस्थों के द्वारा लाया हुआ आहार सदोष होता है और साधुओं के द्वारा लाया हुआ निर्दोष ॥ १५ ॥

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभाण विसोहिया ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पगप्पियं ॥ १६ ॥

अर्थ—साधुओं को दान देने का अधिकार नहीं है, दान तो केवल गृहस्थों की ही विशुद्धि करने वाला है, साधुओं की नहीं—साधु तो अपने ही अनुष्ठान से शुद्ध होते हैं। ऐसा आप कहते हैं, परन्तु पहले जो तीर्थंकर हो गये हैं, उन्होंने ऐसा धर्म नहीं कहा है अर्थात् सर्वज्ञ ऐसा उपदेश नहीं देते कि साधु गृहस्थ का लाया आहार भोगे किन्तु साधु द्वारा यतनापूर्वक लाया हुआ आहार न भोगे ॥ १६ ॥

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए ।
ततो वायं निराकिच्चा, ते भुज्जो वि पगब्भिया ॥ १७ ॥

अर्थ—अन्यतीर्थी जब किसी भी युक्ति से अपने पक्ष की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होते तब वाद को त्याग करके भी धृष्टता पूर्वक बोलते हैं (कि हेतु या अनुमान आदि से धर्म की परीक्षा करने में क्या रक्खा है ? हमारे धर्म के अनुयायी बहुत हैं राजा-महाराजा आदि भी उसे स्वीकार करते हैं, अतः हमारा धर्म ही कल्याणकारी है। उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि बहुतेरे अज्ञानी जनों द्वारा मान्य होने से ही धर्म सच्चा नहीं हो जाता। सैकड़ों अज्ञानियों से एक ज्ञानी पुरुष अधिक श्रेष्ठ है।) ॥ १७ ॥

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

अर्थ—जैसे पहाड़ी म्लेच्छ शस्त्र आदि से युद्ध करने में असमर्थ होने पर पहाड़ का शरण अंगीकार करते हैं, उसी प्रकार राग और द्वेष से जिनका अन्तःकरण व्याप्त है, ऐसे मिथ्यात्व से ग्रसित अन्यतीर्थिक जब वाद में पराजित हो जाते हैं, तब असभ्यवचनों का तथा मारपीट आदि का सहारा लेते हैं ॥ १८ ॥

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणन्ने नो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥ १९ ॥

अर्थ—अन्यतीर्थिकों के साथ वाद करने वाला साधु आक्रोश आदि न करे, किन्तु अपनी मनोवृत्ति को शान्त रख कर प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से अपने पक्ष का समर्थन करे साधु को वही कार्य और वही भाषण करना चाहिए जिससे दूसरा उसका विरोधी न बने, अर्थात् दूसरे का चित्त दुखी न हो ॥ १९ ॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥ २० ॥

अर्थ—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित धर्म को स्वीकार करके साधु, रुग्ण मुनि की ग्लानिरहित होकर, अपनी समाधि के अनुसार वैयावृत्य करें ॥ २० ॥

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ २१ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—समीचीन धर्म के स्वरूप को जान कर, सम्यग्दृष्टि तथा क्रोध के उपशम से शीतल बना हुआ साधु उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति होने तक संयम की आराधना करता रहे ॥

ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २१ ॥

इति उवसग्गपरिण्णाज्झयणस्स तइओ उद्देसो समत्तो ॥

# तीसरे अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥ १ ॥

अर्थ—परमार्थ को न जानने वाले कितनेक पुरुष कहते हैं कि प्राचीन समय में तपे हुए तप रूपी धन का संचय करने वाले ( तारागण आदि ) महापुरुषों ने सचित्त जल का परिभोग करके सिद्धि प्राप्त की है। उनका यह कथन सुन कर मंद जीव संयम में कष्ट का अनुभव करने लगता है या सचित्त जल का उपयोग करने लगता है ॥ १ ॥

अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिया ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे[1] रिसी ॥ २ ॥
आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥ ३ ॥
एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥ ४ ॥

अर्थ—कई लोग साधु को सन्मार्ग से च्युत करने के लिए कहते हैं—विदेह जनपद के राजा नमी ने आहार का उपभोग न करके सिद्धि प्राप्त की और रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके सिद्धि पाई। बाहुक ने सचित्त जल पीकर मुक्ति प्राप्त की थी और नारायण नामक ऋषि ने अचित्त जल पीकर मोक्ष पाया था।

---

[1] 'तारागणे' ऐसा भी पाठ है।

असिल, देवल, महर्षि द्वैपायन तथा पाराशर ऋषि ने सचित्त जल, बीज और हरितकाय का उपभोग करके मोक्ष पाया था।

प्राचीन काल में यह महापुरुष लोकविख्यात और प्रधान थे। इनमें से कितने ही जिनागम में भी ऋषि माने गये हैं। इन्होंने सचित्त बीज तथा जल का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी ऐसा मैंने ( भारत आदि पुराणों में ) सुना है ॥ २-३-४ ॥

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥ ५ ॥

अर्थ—इस प्रकार खोटी-खोटी बातों को सुन कर कई मूर्ख जन भार से पीड़ित गधे की भांति संयम पालन में दुःख का अनुभव करने लगते हैं। जैसे लकड़ी के टुकड़ों के सहारे चलने वाला पैर रहित पुरुष, अग्नि का भय होने पर भागते हुए मनुष्यों के पीछे चलता है, किन्तु आगे जाने में असमर्थ होकर आखिर वहाँ नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार सयम में दुःख मानने वाला मनुष्य मोक्ष तक न पहुँच कर संसार में ही जन्म-मरण के दुःख भोगता है ॥ ५ ॥

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जति ।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं ॥ ६ ॥

अर्थ—कितने ही शाक्य आदि श्रमण तथा लोंच आदि परीषहों को सहन करने में असमर्थ लोग कहते हैं-सुख से सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् इस लोक में सुख भोगने से परलोक में भी सुख प्राप्त होता है; दुःख भोगने से सुख नहीं मिलता। इस प्रकार कह कर वे जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित श्रेष्ठ और कल्याणकारी मार्ग का त्याग कर देते हैं ॥ ६ ॥

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेण लुंपहा बहुं ।
एतस्स उ अमोक्खाए, अयोहारिव्व जूरह ॥ ७ ॥

अर्थ—सुख से सुख मिलता है, ऐसी भ्रान्ति में पड़े लोगों को सन्मार्ग दिखलाने के लिए सूत्रकार कहते हैं-आप लोग जिनशासन की अवगणना करके थोड़े से-तुच्छ-सुख के लिए बहुत-अनन्त, अक्षय, अव्याबाध-सुख का नाश न करें अपने इस असत् पक्ष का त्याग नहीं करेंगे तो सोना आदि छोड़ कर लोहा ढोने वाले वणिक् की तरह आपको भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ ७ ॥

पाणाइवाए वट्टंता, मुसावादे असंजता ।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥ ८ ॥

अर्थ—सुख से ही सुख प्राप्त होता है, ऐसा मानने वाले लोग प्राणातिपात करते हैं, मृषा भाषण करते हैं, अदत्तादान करते हैं, मैथुन और परिग्रह का भी सेवन करते हैं। इस प्रकार वे संयमी नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि सुख से सुख मानने वाले सभी पापों में प्रवृत्त होकर संयमहीन बन जाते हैं ॥ ८ ॥

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिनशासन से विमुख, स्त्री-परीषह को जीतने में असमर्थ, अनार्य कर्म करने वाले कई अज्ञानी और पार्श्वस्थ ( उत्तम अनुष्ठान से दूर ) आगे कही जाने वाली प्ररूपणा करते हैं, अर्थात् ऐसे लोगों के कथन को आगे दिखलाते हैं। ९॥

जहा गंडं पिलागं वा परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥ १० ॥

अर्थ—अनाचारी अन्यतीर्थी कहते हैं-जैसे पकी फुंसी अथवा फोड़े को दबा कर मवाद निकाल देने से मुहूर्त्त मात्र में आराम हो जाता है, उसी प्रकार समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने में क्या दोष हो सकता है ? ॥१०॥

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥ ११ ॥

अर्थ—अन्यतीर्थी कहते हैं-जैसे भेड़ बिना हिलाये जल पी लेती है:—वह अपनी प्यास बुझा लेती है और दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाती, इसी प्रकार समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री का सेवन करने से किसी को पीड़ा नहीं होती और अपनी तृप्ति हो जाती है। अतएव ऐसा करने में दोष कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥ ११ ॥

जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे पिंग ( कपिंजल ) पक्षिणी जल को बिना हिलाए-डुलाए पी लेती है, इसी प्रकार समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ भोग करने में कैसे दोष हो सकते हैं ? ऐसा कई अन्यतीर्थी कहते हैं ॥ १२ ॥*

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसे पूतना नामक डाकिनी बच्चों के प्रति लोलुप होती है, उसी प्रकार स्त्रीसंभोग को निर्दोष बतलाने वाले हीनाचारी, मिथ्यादृष्टि और अनार्य पुरुष कामभोगों में अत्यन्त आसक्त रहते हैं। अथवा जैसे गाडर ( भेड़ ) अपने बच्चे में अत्यन्त आसक्त होती है। *इसी प्रकार वे अनार्य अन्यतीर्थिक कामभोगों में आसक्त होते हैं ॥ १३ ॥

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउंमि जोव्वणे ॥१४॥

*१०,११,१२ इन तीनों गाथाओं के उत्तर में निर्युक्तिकार कहते हैं:—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा ॥ १ ॥
जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम तओ न व मरेज्जा ? ॥ २ ॥
जहा नाम सिरिघराओ, कोई रयणाणि घेत्तूणं ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य तलवार से किसी का सिर काट कर पराङ्मुख हो जाय तो क्या इस प्रकार उदासीन होने से वह अपराधी नहीं रहेगा ? ॥ १ ॥

कोई मनुष्य यदि जहर का घूँट लेकर उसे पी जाय और फिर चुपचाप रहे तथा उसकी इस क्रिया को कोई देखे नहीं, तो क्या दूसरों के द्वारा न देखे जाने से ही वह मरेगा नहीं ? ॥ २ ॥

कोई मनुष्य किसी धनाढ्य के भण्डार से बहुमूल्य रत्नों को चुरा कर पराङ्मुख हो जाय तो क्या वह चोर समझा जा कर पकड़ा नहीं जायगा ? ॥ ३ ॥

* संतान प्रेम की परीक्षा करने के लिए सब पशुओं के बच्चे निर्जल कूप में डाल दिये गये। अन्यान्य पशु-माताएं अपने-अपने बच्चों की चिल्लाहट सुनती और रोती हुई कूप के किनारे खड़ी रहीं। मगर भेड़ से नहीं रहा गया। वह अपत्यस्नेह से प्रेरित होकर उस कूप में कूद पड़ी। अतः सिद्ध हुआ कि भेड़ अपनी सन्तान पर सब से अधिक ममताशील होती है।

अर्थ—जो मनुष्य भविष्यत् काल के नरक आदि दुर्गतियों के दुःख को नहीं देखते और सिर्फ वर्तमानकालीन सुख की ही गवेषणा करते हैं, वे बाद में आयु और यौवन के क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं ॥ १४ ॥

जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविश्रं ॥ १५ ॥

अर्थ—जिन पुरुषों ने अपनी यौवनावस्था में धर्म के विषय में उद्यम किया है, उन्हें वृद्धावस्था में या मृत्यु के अवसर पर पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। वे बन्धनों से मुक्त धीर पुरुष असंयममय जीवन की इच्छा नहीं करते ॥ १५ ॥

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।
एवं लोगंसि नारीश्रो, दुत्तरा श्रमईमया ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसे तीव्र वेग से बहने वाली और विषम तट वाली वैतरणी नदी को पार करना बहुत कठिन है, उसी प्रकार विवेकहीन पुरुषों के लिए स्त्रियाँ दुस्तर हैं ॥ १६ ॥

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कया ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन्होंने स्त्री के संयोग को त्याग दिया है और शरीर की विभूषा शृंगार को भी छोड़ दिया है, वे पुरुष सभी अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीत कर संवर रूप समाधि में स्थित हुए हैं ॥ १७ ॥

एते श्रोघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंति सयकम्मुणा ॥१८॥

अर्थ—जैसे व्यापार करने वाले वणिक नाव के द्वारा समुद्र को पार करते हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों को जीतने वाले महापुरुष संसार-सागर को, जिसमें पड़े हुए प्राणी अपने कर्मों के प्रभाव से पीड़ित हो रहे हैं, पार कर जाते हैं ॥ १८ ॥

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ॥१९॥

अर्थ—सुव्रतवान् भिक्षु पूर्वोक्त कथन को जानकर समिति पूर्वक विचरे। वह मृषावाद का त्याग करे और अदत्तादान का भी त्याग करे। ( इसी प्रकार मैथुन एवं परिग्रह को भी त्यागे ) ॥ १६ ॥

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥२०॥

अर्थ—ऊर्ध्व दिशा में, अधोदिशा में और तिर्छी दिशा में सर्वत्र जो कोई भी त्रस और स्थावर जीव हैं; उनकी हिंसा का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शान्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है; ऐसा प्रभु ने कहा है ॥ २० ॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेणं पवेइयं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥

अर्थ—काश्यप भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को अंगीकार करके साधु को रोगी साधु की, ग्लानि रहित होकर तथा समाधियुक्त होकर यथा शक्ति वैयावृत्य करना चाहिए ॥ २१ ॥

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥
—त्ति बेमि ॥

अर्थ—जिन प्ररूपित धर्म को समीचीन समझ कर सम्यग् दृष्टि पुरुष कषायों का उपशम करके शीतल बने। उपसर्गों को सहन करके मोक्ष प्राप्त होने तक संयम का पालन करे ॥ २२ ॥

ऐसा मैं तीर्थंकर भगवान् के कथनानुसार कहता हूँ ॥

इति उवसग्ग-परिण्णाज्झयणस्स चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

## तीसरा अध्ययन समाप्त

# स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन

## प्रथम उद्देशक

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष माता पिता भाई आदि के संयोग का त्याग करके ज्ञानादि से युक्त होकर मैथुन का त्यागी बन कर एकान्त स्थानों में अकेला विचरूँगा ऐसा विचार करके साधुदीक्षा अंगीकार करता है ( उसको स्त्रियाँ कपट से अपने वश में करने का प्रयत्न करती हैं। ) ॥ १ ॥

सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा ।
उव्वायं पि ताउ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥ २ ॥

अर्थ—विवेकहीन स्त्रियाँ किसी छल-बहाने से उस साधु के समीप आकर कपटपूर्वक-गूढ़ अर्थ वाली बातों से साधु को संयम से भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। वे वह उपाय जानती हैं, जिससे कोई-कोई साधु भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहे वि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥ ३ ॥

अर्थ—स्त्रियाँ किस प्रकार साधु को भ्रष्ट करती हैं, सो बतलाते हैं-वे साधु के पास आकर बहुत नजदीक बैठती हैं और बार-बार कामविकार उत्पन्न करने वाला वस्त्र पहनती हैं। शरीर के जांघ आदि अधोभाग को दिखलाती हैं और बाहु को ऊँचा उठा कर काँख दिखला कर साधु के सम्मुख आती हैं ॥ ३ ॥

सयणासणेहिं जोगेहिं, इत्थिश्रो एगया णिमंतंति ।
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥ ४ ॥

अर्थ—कोई कोई स्त्रियाँ कभी एकान्त में साधु को पलंग आदि पर बैठने के लिए आमंत्रित करती हैं; किन्तु साधु इन सब बातों को अपने लिए नाना प्रकार का बंधन समझे ॥ ४ ॥

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ।
नो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिश्रो होइ ॥ ५ ॥

अर्थ—साधु स्त्रियों पर अपनी दृष्टि न लगावे। मैथुन आदि कुकर्म करने का साहस न करे। उनके साथ ग्राम आदि में विचरण न करे। ऐसा करने से ही आत्मा की रक्षा होती है ॥ ५ ॥

आमंतिय उस्सविया, भिक्खुं आयसा निमंतंति ।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥ ६ ॥

अर्थ—कितनी ही विवेक भ्रष्ट स्त्रियाँ साधु को संकेत करके तथा विश्वास उत्पन्न करके भोग के लिए निमंत्रित करती हैं। किन्तु साधु को चाहिए कि वह इन नाना प्रकार के शब्दों को अपने लिए ज्ञपरिज्ञा से बंधन रूप समझ कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे, अर्थात् ऐसी बातों से दूर ही रहे ॥ ६ ॥

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥ ७ ॥

अर्थ—स्त्रियाँ साधु के चित्त को आकर्षित करने के लिए अनेक उपाय करती हैं। साधु के समीप आकर करुणाजनक वाक्य कह कर विनीत भाव दिखलाती है। मीठी मीठी बातें करती हैं और कामभोग संबंधी तरह-तरह का वार्त्तालाप करके कुकर्म करने की आज्ञा देती है अथवा जब साधु को अपने वश में हुआ समझती हैं तो उसे नौकर के समान समझ कर आज्ञा देती है ॥ ७ ॥

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरं ति पासेणं ।
एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥ ८ ॥

अर्थ—जैसे शिकारी लोग निर्भय होकर अकेले घूमने वाले सिंह को मांस का प्रलोभन देकर बंधन में डाल लेते हैं, उसी प्रकार स्त्रियाँ मन वचन काय को गोपन करके विचरने वाले किसी-किसी अनगार को भी अपने फंदे में फँसा लेती हैं ॥ ८ ॥

अह तत्थ पुणो णमयंति, रहकारो व णेमि अणुपुव्वीए।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुचए ताहे ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे रथकार कारीगर नेमि ( पहिए की पुट्ठी ) को धीरे-धीरे नमाता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ साधु को धीरे-धीरे अपने काबू में कर लेती हैं। जैसे बंधन में बँधा हुआ मृग छूटने के लिए फड़फड़ाता है, मगर छूट नहीं पाता, उसी तरह एक बार बंधन में बद्ध होने पर साधु प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाता है।९॥

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवेगमादाय, संवासो न वि कप्पए दविए ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य विषमिश्रित खीर खाकर बाद में पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार स्त्री के पाश में बँधा हुआ साधु पश्चात्ताप करता है। इस प्रकार के विवेक को ग्रहण करके संयमशील साधु को स्त्री के साथ संसर्ग-संवास नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण से वि निग्गंथे ॥११॥

अर्थ—अतएव साधु, स्त्रियों को विषलिप्त कांटे के समान समझकर उनसे दूर ही रहे। जो साधु स्त्रियों के वशीभूत होकर अकेला गृहस्थ के घर में जाता है और धर्म कथा सुनाता है, वह वास्तव में साधु ही नहीं है ॥ ११ ॥

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष स्त्री-संसर्ग रूप निन्दित कर्म में आसक्त रहते हैं—अकेली स्त्री को धर्म कथा आदि सुनाते हैं, वे कुशीलवानों में से एक हैं। अतः उत्कृष्ट तपस्या करने वाला साधु भी स्त्रियों के साथ विहार न करे ॥ १२ ॥

अवि धूयराहिं सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहि या कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

अर्थ—साधु को अपनी पुत्री, पुत्र वधू, धाय माता, दासी या बड़ी उम्र की अथवा छोटी उम्र की कुमारी के साथ भी परिचय नहीं करना चाहिए। अर्थात् कोई भी स्त्री क्यों न हो, साधु उसके साथ घनिष्ठता स्थापित न करे ।१३॥

अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगया होइ ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥ १४ ॥

अर्थ—किसी समय एकान्त स्थान में साधु को स्त्री के साथ बैठे या बातें करते देख कर उस स्त्री के परिवार वालों को या शुभचिन्तकों को बुरा लगता है। वे सोचने लगते हैं कि जैसे दूसरे लोग कामभोगों में गृद्ध हैं, उसी प्रकार यह साधु भी कामासक्त है! कभी क्रोध के वशीभूत होकर वे कहते हैं-'तुम इसके मनुष्य हो अतः तुम्हें ही इसका भरण—पोषण करना चाहिए' अथवा यह कहते हैं-'हम तो सिर्फ इसका पालन—पोषण करने वाले हैं, इसके पति तो तुम्हीं हो! तुम्हारे पास ही यह बैठी रहती है!' ॥ १४॥

समणं पि दट्ठुदासीणं तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति ॥ १५ ॥

अर्थ—राग-द्वेष से रहित उदासीन साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त में देख कर कोई-कोई गृहस्थ कुपित हो जाते हैं और वे स्त्री के दोषों की शंका—सभावना करने लगते हैं। वे सोचते हैं-यह स्त्री घर वालों से बचा कर साधु को आहार देती है या साधु के लिए ही स्वादिष्ट आहार बनाती है, इत्यादि ॥ १५॥

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति, आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

अर्थ—मन वचन काय के शुभ व्यापार रूप समाधियोग से भ्रष्ट साधु ही स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं। अतएव साधु को अपनी आत्मा के कल्याण के लिए जिस स्थान पर स्त्री रहती हो वहाँ नहीं जाना चाहिए ॥ १६ ॥

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया[1] य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरियं कुसीलाणं ॥ १७ ॥

अर्थ—बहुत-से लोग गृह-त्याग करके भी मिश्रभाव का सेवन करते हैं, अर्थात् साधु और गृहस्थ-दोनों के मिश्रित आचार का सेवन करते हैं। वे अपने उस मिले-जुले आचरण को ही मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। परन्तु कुशीलों के वचन में ही बल होता है, कार्य में नहीं। अर्थात् आचारहीन जन बढ़-बढ़ कर बातें करने में समर्थ होते हैं, आचरण करने में समर्थ नहीं होते ॥ १७ ॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति य णं तहाविऊ, माइल्ले महासढेऽयं ति ॥ १८ ॥

अर्थ—कुशील पुरुष सभा में-धर्मोपदेश के अवसर पर अपने को और अपने आचार को निर्दोष कहता है, किन्तु एकान्त में पाप का सेवन करता है। किन्तु हाव-भाव चेष्टा आदि को जानने वाले समझ जाते हैं कि यह मायाचारी है, धूर्त है। तात्पर्य यह है कि एकान्त में किया हुआ पाप भी प्रकट हो ही जाता है। वह छिपाने से छिपता नहीं। चेहरा अन्तः करण की भावना को प्रकट कर देता है ॥ १८ ॥

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठो वि पकत्थति बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

अर्थ—द्रव्यलिंगी अज्ञानी साधु आचार्य आदि के पूछने पर भी अपने अनाचार को नहीं कहता। दूसरा कोई उसे प्रेरणा करता है तो वह अपनी प्रशंसा करता है और अपने अनाचार का अपलाप करता है। आचार्य आदि उपदेश करते हैं कि तुम मैथुन का सेवन मत करना, तो वह ग्लानि को प्राप्त होता है-सुने को अनसुना कर देता है ॥ १९ ॥

ओसिया वि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेय-खेयन्ना ।
पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥२०॥

अर्थ—जो मनुष्य स्त्री का पालन-पोषण कर चुके हैं-जो भुक्त भोगी हैं, जो पुरुष 'स्त्री मायाचारिणी होती है' इस बात को जानते हैं और जो विशिष्ट

[1] "पण्णता" इति पाठान्तरः ।

बुद्धि से युक्त हैं, ऐसे भी कोई-कोई पुरुष स्त्रियों के अधीन बन जाते हैं और उनके सामने दास की तरह व्यवहार करते हैं ॥ २० ॥

अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते ।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥२१॥

अदु कण्णनासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ।
इति इत्थ पावसंतत्ता, न य बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

अर्थ—परस्त्री का सेवन करने वालों के हाथ-पैर काटे जाते हैं या चमड़ा और मांस काटा जाता है, उन्हें आग में तपाया जाता है अथवा बसूला आदि से छील कर नमक छिड़का जाता है।

पापी पुरुष कान का काटा जाना, नाक का काटा जाना यहाँ तक कि कंठ का काटा जाना सहन कर लेते हैं, मगर उनके मुख से यह नहीं निकलता कि अब आगे यह पाप नहीं करेंगे ! ॥ २१-२२ ॥

सुतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदेति हु सुयक्खायं ।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

अर्थ—स्त्रियों का संसर्ग बुरा है, यह हमने सुना है, कई लोग ऐसा कहते हैं और वैशिक काम शास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है कि 'अब मैं ऐसा नहीं करूँगी' इस प्रकार कह कर भी स्त्रियाँ अपकार करती हैं ॥ २३ ॥

अन्नं मणेण चिन्तेन्ति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ।२४॥

अर्थ—स्त्रियाँ मन से कुछ और सोचती हैं, वचन से कुछ और कहती हैं तथा क्रिया से कुछ और ही करती हैं। वास्तव में स्त्रियाँ बहुत मायाचारिणी होती हैं, ऐसा जानकर साधु उन पर विश्वास न करे ॥ २४ ॥

जुवती समणं बूया, विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता ।
विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥२५॥

अर्थ—कदाचित् विचित्र आभूषणों और वस्त्रों को धारण करने वाली कोई युवती स्त्री साधु से कहे कि मैं गृहस्थी के बंधनों से विरत हो गई हूँ; अब मैं संयम का पालन करूँगी। अतएव हे भय से त्राता मुनि! आप मुझे धर्म का उपदेश सुनाइए॥ २५॥

अदु साविया-पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा॥ २६॥

अर्थ—कोई-कोई स्त्री, मैं श्राविका हूँ, मैं श्रमणों की साधर्मिणी हूँ, ऐसा बहाना करके साधु के पास आती है। परिणाम यह होता है कि जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा पिघल जाता है, उसी प्रकार स्त्री के समीप रहने से विद्वान् पुरुष भी शीतल विहारी ( शिथिलाचारी ) हो जाता है॥ २६॥

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति॥ २७॥

अर्थ—जैसे आग से छुआ हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के साथ संवास करने से साधु भी शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है॥ २७॥

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगेवमाहिंसु।
नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेसत्ति॥ २८॥

अर्थ—कई अनाचारी साधु मोह के उदय से पाप कर्म करते हैं, किन्तु आचार्य आदि के पूछने पर कहते हैं-मैं पाप कर्म नहीं करता हूँ, यह स्त्री तो मेरी पुत्री के समान है-बाल्यावस्था में यह मेरी गोदी में सोई हुई है॥ २८॥

बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी॥ २९॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष की यह दूसरी मूर्खता है कि वह पाप कर्म करके भी उससे इंकार करता है। ऐसा करके वह दुगुना पाप करता है, अर्थात् पापाचरण करके उसे छिपाने के लिए मिथ्या भाषण करके अपने पाप को दुगुना कर लेता है। वह जगत् में पूजा-सत्कार का अभिलाषी बन कर असंयम की इच्छा करता है॥२९॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥ ३० ॥

अर्थ—सुन्दर रूपवान् आत्मज्ञानी साधु को कोई-कोई स्त्रियाँ आमंत्रित करत हुई कहती हैं-हे षट्काय के रक्षक ! आप मेरे घर आकर वस्त्र, पात्र, अन्न, पान ग्रहण करें ।

णीवारमेवं, बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥ ३१ ॥ त्ति बेमि

अर्थ—इस प्रकार ( स्त्रियों के द्वारा दिये गये ) समस्त प्रलोभनों को साधु (पक्षियों को) फँसाने के लिए डाले हुए चाँवल के दाने समझे और यह भी समझे कि विषयों के बंधन में बँधा हुआ मूर्ख पुरुष मोह को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ॥

इति इत्थीपरिण्णज्झयणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

## चौथे अध्ययन का

## द्वितीय-उद्देशक

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥ १ ॥

अर्थ—राग-द्वेष से रहित साधु कभी कामभोग में अनुरक्त न हो। कदाचित् मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से भोग की कामना उत्पन्न हो तो भोगजनित विडम्बना का विचार करके पुनः शीघ्र ही विरक्त हो जाय। जो भोगों से विरक्त नहीं होते, उन्हें जो जो विडम्बनाएँ भोगनी पड़ती हैं सो सुनो ( आगे कहते हैं। ) ॥१॥

अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खु कामभतिवट्टं ।
पलिभिंदिया णं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥ २ ॥

अर्थ—स्त्री के वशीभूत हो जाने के पश्चात् उस चारित्र से भ्रष्ट, भोग में आसक्त, कामवासना में संलग्न चित्त वाले साधु को अपने अधीन हुआ जानकर वही स्त्री सिर में पैर की ठोकर मारती है ॥ २ ॥

जइ केसिआ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए ।
केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

अर्थ—कोई-कोई स्त्री कहती है-हे भिक्षो ! यदि केश वाली स्त्री के साथ तुम विहार नहीं कर सकते-विहार करने में लजाते हो, तो मैं इसी जगह अपने केशों को भी नोंच डालूँगी-अन्य आभूषणों को त्याग करने की तो बात ही क्या है ! किन्तु तुम मेरे बिना अन्यत्र विहार न करना, अर्थात् मुझे छोड़ कर विहार न करना ॥ ३ ॥

अह णं से होइ उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—आकृति या चेष्टा आदि से जब स्त्री जान लेती है कि यह साधु मेरे वश में हो गया है तो उससे दास के समान कार्य करवाती है। कहती है-अपने पास तुंबा है, उसे काटने के लिए शस्त्र लाओ, मेरे लिए नारियल आदि अच्छे-अच्छे फल ला दो॥ ४॥

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सति राओ ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे ॥ ५ ॥

अर्थ—शाक पकाने के लिये लकड़ी ले आओ, रात्रि में प्रकाश करने के लिए-दिया जलाने के लिए तेल* लाओ। पात्रों को या पैरों को रंगने के लिये रंग ला दो। मेरे शरीर में दर्द हो रहा है, अतएव यहाँ आओ और मेरी पीठ मल दो॥ ५॥

वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहराहि त्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च मे समणुजाणाहि ॥ ६ ॥

अर्थ—वह स्त्री कहती है-मेरे वस्त्रों की प्रतिलेखना करो ( अर्थात् या मैले हो गये हैं, सो धुलवा दो ) जीर्ण हो गये हैं, इसलिए नये ला दो मेरे लिए अन्न और पानी लाओ। सुगंध और रजोहरण लाओ। मैं केशलोंच नहीं कर सकती, इसलिए चौरकर्म कराने के लिए नाई को बुला लाओ॥ ६॥

अदु अंजणि अलंकारं, कुक्कयं मे पयच्छाहि ।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥ ७ ॥

अर्थ—यहां तक साधुवेष में रहने वालों के उपकरणों के विषय में कथन किया गया। अब गृहस्थ के उपकरणों के संबंध में कहा जाता है। वह स्त्री साधु से कहती है-मेरे लिए सुरमादानी लाओ, गहने लाओ, खुनखुना लाओ। मुझे लोध्र तथा लोध्र के फूल लाकर दो, बांस की एक बांसुरी ला दो और यौवन बनाये रखने के लिए औषध की गोली लाकर दो॥ ७॥

---

*'पज्जोओ वा भविस्सति राओ' का अर्थ यह भी किया गया है कि-रात में उजेला होगा, अतः जंगल में जाकर लकड़ी आदि ले आओ।

कुट्ठं तगरं च अगरुं, संपिट्ठं सम्मं उसिरेणं।
तेल्लं मुहभिलिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए॥ ८॥

अर्थ—वह फिर कहती है–कुष्ट ( कमलकुष्ट ), अगर, तगर आदि सुगंधित द्रव्य कूट कर, उशीर की जड़ी के साथ पीस कर मुझे दो। मुख में लगाने के लिए तैल ला दो। वस्त्राभूषण रखने के लिए एक बांस की पेटी भी ला दो॥ ८॥

नंदीचुण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि।
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि॥ ९॥

अर्थ—स्त्री अपने ऊपर अनुरक्त पुरुष से कहती है–होठ रँगने के लिए नंदी-चूर्ण ला दो। धूप और वर्षा से बचने के लिए छाता लाओ, पाँवों में पहनने को जूता लाओ, शाक आदि काटने के लिए छुरी ले आओ और मेरे वस्त्र नीले रंगवा दो, या वस्त्र रगने को नील लाकर दो॥ ९॥

सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिसु मे विहूणयं विजाणेहि॥ १०॥

अर्थ—शील भ्रष्ट पुरुष से स्त्री कहती है–शाक पकाने के लिए हँडिया ला दो सिर, धोने के लिए आँवला लाओ, जल के लिए पात्र लाओ, तिलक और अंजन लगाने के लिए सलाई लाकर दो, उष्ण काल में हवा करने को पंखा ले आओ॥ १०॥

संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।
आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि॥ ११॥

अर्थ—नाक के बाल उखाड़ने के लिए चींपिया ला दो, केश सँवारने के लिए कंघी लाओ, चोटी बाँधने के लिए ऊन की आंटी लाओ, मुख देखने के लिए दर्पण लाओ और दांत साफ करने के लिए मंजन लाकर दो॥ ११॥

पूयफलं तंबोलयं, सूईसुत्तगं च जाणाहि।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च॥१२॥

अर्थ—स्त्री फिर फरमाइश करती है–मुखवास के लिए सुपारी और पान लाओ, सुई लाओ, डोरा लाओ। रात्रि में बाहर जाते मुझे डर लगता है, इसलिए

पेशाब करने के लिए एक बरतन ले आओ, अनाज साफ करने के लिये सूप चाहिये। ओखली बनवा दो। क्षार गालने के लिए कोई पात्र ला दो॥ १२॥

चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो! खणाहि।
सरपायगं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए॥ १३॥

अर्थ—स्त्री कहती है–हे आयुष्मन्! देवता का पूजन करने के लिए ताँबे का पात्र चाहिए। जल और मदिरा रखने के लिए बरतन ला दो। मेरे लिए पाखाना खुदवा दो-बनवा दो। बच्चे को खेलने के लिए धनुष लाकर दो। एक बछड़ा ला दो जो बच्चे की गाड़ी में जुत सके॥ १३॥

घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए।
वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च॥ १४॥

अर्थ—वह फिर कहती है–अपने छोटे-से कुमार को खेलने के लिए मिट्टी की गुड़िया ले आओ. कपड़े लाओ और गेंद भी ले आओ। देखो वर्षा ऋतु समीप आ गई है, अतः मकान ठीक बनवा लो और अनाज आदि भोजन सामग्री का प्रबंध कर लो॥ १४॥

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा॥ १५॥

अर्थ—स्त्री कहती है–नवीन सूत का बना एक माचा ला दो। इधर-उधर आने-जाने के लिए खड़ाऊँ ला दो। मुझे पुत्रदोहद हुआ है। उसकी पूर्ति के लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ ला दो। इस प्रकार वे उस पुरुष पर ऐसी आज्ञा चलाती हैं, जैसे दास पर आज्ञा चलाई जाती है॥ १५॥

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि।
अहं पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा॥१६॥

अर्थ—पुत्र का जन्म होने पर जो विडम्बना होती है, उसे बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:-गार्हस्थ्य जीवन के फलस्वरूप पुत्र का जन्म होने पर स्त्री झुंझला कर कहती है–या तो इस लड़के को सँभालो या छोड़ दो! मैंने नौ मास तक इसे पेट में रक्खा है। अब मुझसे इसकी बेगार नहीं होती। तुम तो क्षण भर के लिए भी इसे

हीं लेने। इस प्रकार के स्त्री के वचन सुन कर कई पुरुष पुत्र के पोषण में आसक्त हो जाते हैं और ऊंट की तरह भार वहन करते हैं ॥ १६ ॥

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं संठवंति धाई वा।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे धाय रोते बालक को रखती है, उसी प्रकार वह स्त्री-आसक्त पुरुष रात्रि में उठ कर बालक को गोद में लेते हैं। वे लज्जाशील होकर भी निर्लज्ज बन कर धोबी की तरह स्त्री के और बालक के कपड़े धोते हैं ॥ १७ ॥

एवं बहूहिं कए पुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥ १८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अतीत काल में स्त्री की दासता बहुतों ने की है। (बहुत-से कर रहे हैं और करेंगे।) जो पुरुष भोगों के लिए सावद्य कर्म में आसक्त हैं, वे दास, पाश में बंधे मृग या गुलाम के समान हैं, अथवा उनसे भी अधम—गये-बीते हैं।१८

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिआ इमे कामाऽवज्जकरा य एवमक्खाए ॥ १९ ॥

अर्थ—स्त्रियों के संबंध में इससे पूर्व जो कथन किया गया है, उसे जानकर कल्याण की कामना करने वाला पुरुष न तो स्त्रियों के साथ परिचय करे और न सहवास करे। स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले कामभोग पाप के जनक हैं, ऐसा तीर्थकरों और गणधरों का कथन है ॥ १९ ॥

एयं भयं न सेयाय, इइ से अप्पगं निरुंभित्ता।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

अर्थ—स्त्री के सहवास से अनेक भय होते हैं, अतएव स्त्री का सहवास कल्याणकारी नहीं है। साधु को चाहिए कि वह स्त्री का और पशु का अपने हाथ से स्पर्श भी न करे ॥ २० ॥

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी।
मणसा वयसा काएणं, सव्वफासहे अणगारे ॥ २१ ॥

अर्थ—शुद्ध-निर्मल लेश्या वाला, संयम की मर्यादा में स्थित, ज्ञानी साधु परक्रिया का ( विषयोपभोग द्वारा पर का उपकार करना तथा दूसरे से अपने पैर धुलवाना आदि का ) मन से, वचन से और काय से त्याग करे तथा समस्त उपसर्गों एवं परीषहों को सहन करे। जो ऐसा करता है, वही सच्चा साधु है ॥ २१ ॥

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥

अर्थ—पूर्वोक्त उपदेश, कर्म रज को दूर करने वाले तथा मोह को नष्ट करने वाले श्री वीर प्रभु ने फरमाया है। अतएव शुद्ध अन्तःकरण वाला तथा स्त्री के सम्पर्क से रहित साधु मोक्ष की प्राप्ति तक संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे ॥२२॥

इति त्थीपरिण्णज्झयणस्स बीओ उद्देसो समत्तो ॥
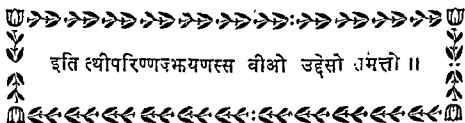
# नरकविभक्तिनामक पाँचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक

पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहं भितावा णरगा पुरत्था ?।
अजाणओ से मुणि ! बूहि जाणं, कहिं नु बाला नरयं उविंति ? ॥१॥

अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी आदि अपने शिष्य वर्ग से कहते हैं—मैंने पहले केवलज्ञानी महर्षि भगवान् महावीर से पूछा था कि नरकों में किस प्रकार का संताप होता है ? हे मुनि ! आप केवलज्ञान से जानते हैं, अतः मुझ अज्ञान को कहिए कि अज्ञानी जीव किस प्रकार नरकलोक को प्राप्त होते हैं ? ॥ १ ॥

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥ २ ॥

अर्थ—जब मैंने यह प्रश्न किया तो महामहिमावान्, केवलज्ञानी, काश्यप-गोत्री भगवान् महावीर ने उत्तर दिया–तुमने जो प्रश्न किया, उसका मैं समाधान करूँगा–ध्यान से सुनो । नरक-स्थान अत्यन्त दुःखरूप हैं, असर्वज्ञ जीवों के लिए वह दुर्ज्ञेय है । उसमें पापी एवं दीन जीव निवास करते हैं ॥ २ ॥

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

अर्थ—इस संसार में जो रुद्र (प्राणियों को भय उत्पन्न करने वाले) अज्ञानी और असंयम-जीवन की इच्छा करने वाले जीव पाप कर्म करते हैं, वे घोर स्वरूप वाले, घोर अंधकार वाले और घोर वेदना वाले नरक में जाते हैं ॥ ३ ॥

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति आयसुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खति सेयवियस्स किंचि ॥ ४ ॥

अर्थ—जो जीव अपने शारीरिक सुख के लिए तीव्र भाव से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जो प्राणियों का उपमर्दन करता है, जो बिना दिये परद्रव्य को ग्रहण करता है, और जो सेवन करने योग्य व्रत प्रत्याख्यान आदि का किंचित् भी सेवन नहीं करता, ( वह जीव नरक में उत्पन्न होता है ) ॥ ४ ॥

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती, अनिव्वते घायमुवेइ बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहो सिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य बहुत प्राणियों की हिंसा करता है और धृष्टता के साथ वचन बोलता है ( जैसे वेद में विहित हिंसा तो हिंसा ही नहीं है, या शिकार खेलना तो राजा का धर्म ही है, इस प्रकार हिंसा करके भी जो धृष्टतापूर्ण वचन कहता है ) तथा जो क्रोध आदि कषायों से कभी मुक्त नहीं होता, वह नरक में जाता है। वह मृत्यु के समय नीचा सिर करके घोर यातना वाले अंधकारमय स्थान को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सद्दे सुणिता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो ॥ ६ ॥

अर्थ—मुद्गरादि से मारो, खड्ग आदि से छेदो, शूल आदि से भेदो, आग से जलाओ, इस प्रकार के परमाधार्मियों के शब्दों को सुनकर नारक जीव भय के कारण संज्ञाहीन हो जाते हैं तथा सोचने लगते हैं-अब हम किस दशा में जाएँ, अर्थात् किधर भागने से हमारी रक्षा होगी ? ॥ ६ ॥

इंगालरासिं जलियं सजोतिं तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठिईया ॥७ ।

अर्थ—जलती हुई अंगारराशि के समान और अग्निमय भूमि के समान अत्यन्त तापमय नरक भूमि में चलते हुए नारक जीव जब जलते हैं तो ऊँचे स्वर से बड़ा ही करुणा पूर्ण रुदन करते हैं। इस प्रकार की यातना सहते हुए वे चिर-काल तक नरक में रहते हैं ॥ ७ ॥

जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा णिसिश्रो जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरंति ते वेयरणिं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥ ८ ॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि-भगवान् ने इस प्रकार कहा-तुमने सुना होगा कि वैतरणी नदी बहुत विषम है। वह छुरे की धार के समान धारा वाली है। उसमें खारा, गरम और रुधिर के समान जल बहता है जैसे आर से प्रेरित और भालों से बींधा जाने वाला मनुष्य विवश होकर भयंकर नदी में कूद पड़ता है, उसी प्रकार के नारक जीव भी परमाधामियों द्वारा सताये जाने पर विषम वैतरणी नदी में कूद पड़ते हैं ॥ ८ ॥

कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइविप्पहूणा ।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलयाहिं, दीहाहिं विद्धूण अहे करंति ॥ ६ ॥

अर्थ—वैतरणी नदी के उस खारे, उष्ण और दुर्गंधमय जल से संतप्त होकर नारक जीव जब ( परमाधामियों द्वारा चलाई जाने वाली ) नौका पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं तो अशोभन कर्म करने वाले वे परमाधामी देव उनके गले में कीलें चुभाते हैं। ऐसा करने से वैतरणी के जल से संतप्त वे नारक स्मृतिहीन हो जाते हैं—किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाते हैं। दूसरे उस नौका पर चढ़े हुए परमाधामी उन्हें लम्बे-लम्बे शूलों और त्रिशूलों से वेध कर नीचे गिरा देते हैं ॥ ६ ॥

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥ १० ॥

अर्थ—परमाधामी देव किन्हीं-किन्हीं नारक जीवों के गले में शिलाएं बाँध कर अथाह जल में डुबा देते हैं। दूसरे परमाधामी नरकों को अत्यन्त गरम बालुका तथा मुर्मुर-अग्नि (भूभुर) में इधर-उधर फेरते और पकाते हैं ॥ १० ॥

असूरियं नाम महाभितावं, अंधं तमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाइ ॥११॥

अर्थ—असूर्य* ( जहाँ सूर्य नहीं है, अर्थात् नरक ) घोर संताप वाला है, घोर अंधकार से परिपूर्ण है। उसको पार करना बड़ा ही कठिन है। वहाँ ऊपर, नीचे और तिर्छे अर्थात् सभी तरफ प्रचण्ड आग जलती रहती है। ( पापी जीव ऐसी नरक भूमि में जाकर उत्पन्न होते हैं। ) ॥ ११ ॥

---

* असूर्य नामक एक विशिष्ट नरक है और यों सभी नरकों को असूर्य कहते हैं।

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥१२॥

अर्थ—अपने पाप-कर्म को न जानने वाला तथा बुद्धिहीन नारक जीव( ऊँट के आकार वाली ) गुफा में अग्नि में पड़ते और जलते हैं। यह नरकभूमि करुणाजनक दुःख का स्थान है, अत्यन्त दुःखप्रद है और पापकर्म से प्राप्त होती है। १२॥

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता,
जहिं कूरकम्माभितविंति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा,
मच्छा व जीवन्तुवजोतिपत्ता ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसे जीवित मछली आग के पास रख दी जाय या आग में डाल दी जाय तो संतप्त होती हुई भी अन्यत्र नहीं जा सकती, उसी प्रकार परमाधामी देव चारों दिशाओं में चार अग्नियाँ जलाकर उन अज्ञानी नारकियों को जलाते हैं। फिर भी नारकी जीवों को वहीं रहना पड़ता है ॥ १३ ॥

संतच्छणं नाम महाहितावं,
ते नारया जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊण,
फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥ १४ ॥

अर्थ—संतक्षण नामक एक महान् संताप उत्पन्न करने वाला नरक है, जहाँ क्रूर कर्म करने वाले परमाधामी हाथों में कुल्हाड़ा लेकर नारकी जीवों के हाथ और पैर बाँध कर उन्हें काठ की तरह छीलते हैं ॥ १४ ॥

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं नेरइए फुरंते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥ १५ ॥

अर्थ—परमाधामी देव, उन नारकी जीवों का रक्त निकाल कर उसी रक्त में उन्हें उलटपलट कर पकाते हैं। उनकी आँतें मल से सूजी रहती हैं। उनका मस्तक

चूर-चूर कर दिया जाता है। जैसे जीवित मछली लोहे के कड़ाह में पकाई जाती हुई तड़फड़ाती है, उसी प्रकार नारकी जीव भी फड़फड़ाते रहते हैं ॥ १५ ॥

नो चेव णं तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ १६ ॥

अर्थ—नारक जीव आग में जल कर भी भस्म नहीं होते हैं। नारक की तीव्र वेदना से भी उनकी मृत्यु नहीं होती। वे नरक की उस घोर वेदना को भोगते हुए, इस लोक में किये हुए पाप के फल से दुःखी होकर व्यथाएँ भोगते रहते हैं ॥ १६ ॥

तहिं च ते लोलणसंपगाढ़े,
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सायं लहई भिदुग्गे,
अरहियाभितावा तहवी तविंति ॥ १७ ॥

अर्थ—नारकी जीवों की हलचल से व्याप्त, दुःखमय नरक में शीत से पीड़ित नारक जीव सर्दी दूर करने के लिए अत्यन्त तीव्र अग्नि के पास जाते हैं, परन्तु वे वहाँ भी साता प्राप्त नहीं कर सकते। वे उस आग में जलने लगते हैं और उस पर भी परमाधामी देव गर्म तेल आदि छिड़क-छिड़क कर उन्हें जलाने लगते हैं ॥ १७ ॥

से सुचइ नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहंति ॥ १८ ॥

अर्थ—जैसे किसी नगर के विनाश के समय हाय-हाय आदि कोलाहल के शब्द होते हैं, उसी प्रकार नरक में नारकियों के करुणाजनक शब्द सुनाई पड़ते हैं। मिथ्यात्व आदि कर्मों के उदय वाले परमाधामी, पापकर्मों के उदय वाले नारक जीवों को बड़े उत्साह के साथ दुःख देते हैं ॥ १८ ॥

पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहिं पुराकएहिं ॥ १९ ॥

अर्थ—पापी परमाधामी नारक जीवों के अंगोपांगों को काट-काट कर अलग कर देते हैं। उन्हें क्यों इतना दुःख दिया जाता है, इसका यथार्थ कारण मैं तुम्हें कहता हूँ। नारक जीवों ने पूर्वभव में अन्य प्राणियों को जैसा दंड दिया है, परमाधामी उसी प्रकार का दंड उन्हें देते हैं और उस दंड का स्मरण दिलाते हैं॥ १९॥

ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥ २० ॥

अर्थ—परमाधामियों द्वारा मारे जाते हुए नारकी जीव घोर कष्ट देने वाले मलमूत्र से व्याप्त दूसरे स्थान में उछल* कर गिरते हैं। वहाँ वे मल-मूत्र का भक्षण करते हैं और चिरकाल तक रहते हैं। अपने पापकर्म के अधीन हुए वे नारक वहाँ कीड़ों द्वारा काटे जाते हैं॥ २०॥

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं; वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

अर्थ—नारकी जीवों के रहने का सम्पूर्ण स्थान सदैव उष्ण रहता है। गाढ़े पाप-कर्म करने से उस स्थान की प्राप्ति होती है। घोर दुःख प्रद होना उस स्थान का स्वभाव है। उस स्थान पर परमाधामी, नारक जीवों के अंगोपांगों को तोड़कर बेड़ी में डाल कर तथा सिर में छेद करके उन्हें अत्यन्त संताप पहुँचाते हैं॥ २१॥

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति ॥२२॥

अर्थ—परमाधामी छुरे से नारकी जीवों की नाक काट लेते हैं, होठ काट लेते हैं और दोनों कान भी काट लेते हैं। एक बित्ते भर जीभ बाहर- निकाल कर उसमें तीखे शूल चुभाकर पीड़ा देते हैं॥ २२॥

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व, राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं, पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ २३ ॥

* ग्रन्थकारों के कथनानुसार नारकी जीव ५०० योजन ऊँचे तक उछलते हैं।

अर्थ--उन अज्ञानी नारक जीवों के शरीर से रक्त झरता रहता है। वे सूखे हुए ताड़ के पत्र के समान शब्द करते हुए रात-दिन रोते रहते हैं। इन्हें आग में तलाया जाता है और क्षार मे खार छिड़क दिया जाता है। अतएव उनके शरीर से रक्त, पीव और मांस झरता रहता है ॥ ३ ॥

जइ ते सुया लोहितपूअपाई, बालागणी तेअगुणा परेणं।
कुंभी महंताहियपोरसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

अर्थ--श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-हे जम्बू! रुधिर और राध को पकाने वाली, नवीन अर्थात् तीव्र अग्नि से युक्त होने के कारण अत्यन्त तापमय, पुरुष प्रमाण से भी बड़े परिमाण वाली तथा रक्त और मवाद से परिपूर्ण कुंभी नामक नरक भूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी ॥ २४ ॥

पक्खिप्प तासुं पययंति बाले, अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते।
तण्हाइया ते तउतंबतत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति ॥ २५ ॥

अर्थ—नरकपाल ( परमाधामी ) उन कुंभियों में पटक कर आर्त्त स्वर से करुणाजनक क्रंदन करते हुए नारकी जीवों को पकाते हैं। प्यास से पीड़ित उन नारकों को नरकपाल जब शीशा और तांबा तपा कर पिलाते हैं तो वे अत्यन्त ही पीड़ित स्वर से रोते-चिलाते हैं ॥ २५ ॥

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से।
चिट्ठंति तत्थ बहुकूरकम्मा, जहा कडं कम्म तहा सि भारे ॥२६॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने इस लोक में अपनी आत्मा के साथ ठगाई की, अर्थात् अल्प सुख के लिए घोर पापकर्म किये, वे सैकड़ों और हजारों बार अधम भव धारण करके नरक में निवास करते हैं। जिसने पूर्वजन्म में जैसे पापकर्म किये हैं, उसको वैसी ही व्यथा भोगनी पड़ती है ॥ २६ ॥

समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहिं कंतेहि य विप्पहूणा।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ।२७। त्ति बेमि।

अर्थ—अनार्य पुरुष पापकर्म उपार्जन करके इष्ट और कमनीय पदार्थों से रहित होकर दुर्गंध से व्याप्त और अनिष्ट स्पर्श वाले तथा मांस आदि से परिपूर्ण नरक में दुःख सहते हुए वास करते हैं ॥ २७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

इति नरयविभत्तिए पढमो उद्देसो समत्तो ॥

अर्थ—पापी परमाधामी नारक जीवों के अंगोपांगों को काट-काट कर अलग कर देते हैं। उन्हें क्यों इतना दुःख दिया जाता है, इसका यथार्थ कारण मैं तुम्हें कहता हूँ। नारक जीवों ने पूर्वभव में अन्य प्राणियों को जैसा दंड दिया है, परमाधामी उसी प्रकार का दंड उन्हें देते हैं और उस दंड का स्मरण दिलाते हैं॥ १६ ॥

ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥ २० ॥

अर्थ—परमाधामियों द्वारा मारे जाते हुए नारकी जीव घोर कष्ट देने वाले मलमूत्र से व्याप्त दूसरे स्थान में उछलकर* कर गिरते हैं। वहाँ वे मल-मूत्र का भक्षण करते हैं और चिरकाल तक रहते हैं। अपने पापकर्म के अधीन हुए वे नारक वहाँ कीड़ों द्वारा काटे जाते हैं॥ २० ॥

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं; वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

अर्थ—नारकी जीवों के रहने का सम्पूर्ण स्थान सदैव उष्ण रहता है। गाढ़े पाप-कर्म करने से उस स्थान की प्राप्ति होती है। घोर दुःख प्रद होना उस स्थान का स्वभाव है। उस स्थान पर परमाधामी, नारक जीवों के अंगोपांगों को तोड़कर बेड़ी में डाल कर तथा सिर में छेद करके उन्हें अत्यन्त संताप पहुँचाते हैं॥ २१ ॥

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति ।।२२।।

अर्थ--परमाधामी छुरे से नारकी जीवों की नाक काट लेते हैं, होठ काट लेते हैं और दोनों कान भी काट लेते हैं। एक बित्ते भर जीभ बाहर-निकाल कर उसमें तीखे शूल चुभाकर पीड़ा देते हैं॥ २२ ॥

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व, राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं, पज्जोइया खारपइद्धियंगा ।। २३ ।।

* ग्रन्थकारों के कथनानुसार नारकी जीव ५०० योजन ऊँचे तक उछलते हैं।

अयं व तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

अर्थ—जले हुए लोहे के गोले के समान जलती हुई साक्षात् आग के समान भूमि पर चलते हुए नारक जलते हैं तो अत्यन्त दीन स्वर से रोते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें तपे हुए जुए में जोत दिया जाता है और गरियाल बैल के समान चाबुक आदि मार-मार कर चलने के लिए बाध्य किया जाता है। उस समय भी वे करुणाजनक रुदन करते हैं॥ ४॥

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं च तत्तं ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति ॥ ५ ॥

अर्थ—नरकपाल, तपे हुए लोहपथ के समान अतीव तप्त तथा रक्त-पीव आदि से लथपथ भूमि पर नारकी जीवों को जबर्दस्ती चलाते हैं। जिस दुर्गम मार्ग पर नारक ठीक तरह नहीं चलते हैं, वहाँ वे डंडे मार-मार कर आगे चलाते हैं। बेचारे नारकी जीव न इच्छानुसार चल सकते हैं और न ठहर ही सकते हैं॥ ५॥

ते संपगाढम्मि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं ॥
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥ ६ ॥

अर्थ—घोर वेदनामय नरक में पड़े हुए नारक जीव नरकपालों द्वारा सामने से गिराई जाने वाली शिलाओं द्वारा कुचले जाते हैं। कुंभी नामक लम्बी स्थिति वाला नरक है, जहाँ पाप कर्म करने वाले जीव खूब ही दुःख भोगते हैं॥ ६॥

कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततो वि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥ ७ ॥

अर्थ—असहाय और अज्ञान नारकी जीव को नरकपाल गेंद के समान आकार वाले नरक में डालकर पकाते हैं। जब वे नारकी भुनकर चने की तरह ऊपर उछलते हैं तो द्रोण काक आदि पक्षियों के द्वारा खाये जाते हैं और इधर-उधर जाते हैं तो सिंह बाघ आदि हिंसक जानवरों द्वारा खाये जाते हैं। (बेचारों को कहीं भी शान्ति नहीं मिलती)॥ ७॥

समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसवेंति ॥ ८ ॥

# पांचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं पुरे कडाइं ॥१॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-अब मैं निरन्तर दुःख देने के स्वभाव वाले ( जहाँ पल भर भी कभी शान्ति नहीं मिलती और जहाँ से सम्पूर्ण आयु भोगे बिना छुटकारा नहीं होता ऐसे ) नरक के विषय में अन्य यथार्थ बातें बतलाऊँगा कि पापाचरण करने वाले विवेकहीन प्राणी किस प्रकार अपने पूर्वोपार्जित पापकर्मों को भोगते हैं ॥ १ ॥

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊण, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, बद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥२॥

अर्थ—नरकपाल नारक जीवों के हाथ और पाँव बाँध कर छुरे और तलवार से उनके पेट चीरते हैं। वे उस अज्ञान नारक के लाठी आदि के प्रहार से आहत शरीर को पकड़ कर उसकी पीठ की चमड़ी को बलात् उधेड़ लेते हैं ॥२॥

बाहू पकत्तंति य मूलओ से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे ॥३॥

अर्थ—नरकपाल, नारकी जीव की भुजाओं को जड़ से काट डालते हैं। उसके मुँह को फाड़कर जलते हुए बड़े-बड़े लोहे के गोले उसमें डालकर जलाते हैं। उसे एकान्त में ले जाकर पूर्वकृत पापों का स्मरण कराते हैं और निष्कारण ही कुपित होकर पीठ में चाबुक से पीटते हैं ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे अग्नि में पड़ा हुआ घृत द्रव-तरल हो जाता है, उसी प्रकार नरकपाल जब बड़ी-बड़ी चिताएं बनाकर करुण विलाप करते हुए नारक जीवों को उनमें फैंक देते हैं तो वे पापी जीव भी गल कर पानी हो जाते हैं ॥ १२ ॥

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्ख धम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभंति ॥ १३ ॥

अर्थ—सदैव जलता रहने वाला एक घर्म स्थान-( उष्ण स्थान ) है, जो गाढ़े पाप करने वालों को प्राप्त होता है और जो स्वभाव से ही अत्यन्त दुःखप्रद है। उस स्थान में हाथ और पाँव बाँध कर नरकपाल जीवों को डंडों से उसी प्रकार मारते हैं, जैसे शत्रु को मारा जाता है ॥ १३ ॥

भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठी, सीसं पि भिंदंति अओघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा फलगं व तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति॥१४॥

अर्थ—परमाधामी लोग लाठियाँ मार-मार कर नारक जीवों की कमर तोड़ देते हैं और लोहे के घनों से मस्तक चूर-चूर कर देते हैं। वे चूर-चूर देह वाले उन नारकियों के शरीर को तपे हुए आरे से इस प्रकार चीरते हैं जैसे लकड़ी का पटिया चीरा जाता है। यही नहीं, इसके बाद वे उबलता हुआ शीशा पीने के लिए विवश किये जाते हैं ॥ १४ ॥

अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरूहित्तु दुवे तयो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥१५॥

अर्थ—नरकपाल उन नारकों को उनके द्वारा पहले किये हुए घोर पापों की याद दिलाते हैं और बाणों का प्रहार करके उनसे हाथी की तरह भार वहन कराते हैं। एक नारकी के ऊपर एक, दो अथवा तीन को चढ़ाकर, क्रोध पूर्वक उसके मर्म स्थान को बेधते हैं ॥ १५ ॥

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विबद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलिं करिंति ॥१६॥

अर्थ—नरकपाल नारक जीवों को जबर्दस्ती रुधिर आदि से लथपथ, काँटों वाली और विस्तृत भूमि पर चलाते हैं। नाना प्रकार से बँधे हुए और वेदना की

अर्थ—यहाँ ऊँची चिता के समान आग के स्थान हैं, जिन्हें प्राप्त करके शोक से संतप्त नारकी जीव करुण रुदन करते हैं। नरकपाल उन नारकों का सिर नीचा करके काट लेते हैं और लोहे के शस्त्रों से शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥ ८ ॥

समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥ ६ ॥

अर्थ—नरक में नारकी जीवों को नीचा मुख करके लटका दिया जाता है और उनके शरीर का चमड़ा उधेड़ लिया जाता है। फिर वे लोहमय मुख वाले पक्षियों द्वारा खाये जाते हैं। नरक की भूमि संजीवनी के समान कहलाती है, क्योंकि वहाँ जीव चिरकाल तक निवास करते हैं और अकाल मृत्यु से रहित हैं—खंड-खंड कर देने पर भी नारकों का शरीर पारे के समान फिर जुड़ जाता है। उस नरक में पापी जीव मुद्गरादि के द्वारा मारे-पीटे जाते हैं ॥ ६ ॥

तिक्खाहि सूलाहि निवाययंति, वसोगयं सावययं व लद्धं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥ १० ॥

अर्थ—नरकपाल नारकी जीवों को तीखे शूलों से इस प्रकार मारते हैं, जैसे वश में पड़े हुए जंगली जानवर को शिकारी मारते हैं। शूल से विंधे हुए भीतर और बाहर से दुखी नारक जीव करुणाजनक रुदन करते हैं—चीखते हैं—चिल्लाते हैं ॥ १० ॥

सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो ।
चिट्ठंति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥११॥

अर्थ—नरक में एक ऐसा महान् घात-स्थान है, जिसमें सदैव काष्ठ आदि ईन्धन के बिना ही अग्नि जलती रहती है। उस नरक स्थान में अत्यंत क्रूर कर्म करने वाले नारकी बाँध दिये जाते हैं और दीर्घ काल तक वहीं निवास करते हैं और यातनाओं से पीड़ित होकर चीखते रहते हैं ॥ ११ ॥

चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥१२॥

अर्थ—नरक में सदा काल भरी रहने वाली 'सदाजला' नदी रूप एक विषम स्थान है, उसमें पिघले हुए लोहे के समान उष्ण जल है और वह क्षार, पीव तथा रुधिर से मलिन है। वह नदी अत्यन्त दुःख देने वाली है। उस नदी में शरणरहित नारकी जीव तैरते और दुःख भोगते हैं॥ २१॥

एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं। २२॥

अर्थ—यह सब पूर्वोक्त दुःख चिरकाल तक नरक में रहने वाले अज्ञानी नारकी को निरन्तर ही भुगतने पड़ते हैं। इन दुःखों से पीड़ित होने वाले नारकी जीव को बचाने वाला वहाँ कोई नहीं होता। वह अकेला ही दुःख को भोगता है॥ २२॥

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं॥२३॥

अर्थ—जिस जीव ने पहले भव में जैसा कर्म किया है, वैसा ही उसे संसार में-अगले भव में-भोगना पड़ता है। जिसने एकान्त दुःखमय नरकभव का उपार्जन किया है, वह दुखी जीव अनन्त दुःखमय नरक भोगता है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव ने जितनी स्थिति वाले और जैसे तीव्र मध्यम या जघन्य अनुभाव वाले कर्मों का बंध किया है, उसे साधारणतया उसी प्रकार का फल भविष्य में भोगना पड़ता है॥ २३॥

एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे॥ २४॥

अर्थ—नरक के इन दुःखों को सुन कर धीर पुरुष समस्त लोक में किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचावे। जीव आदि तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, परिग्रह से रहित होकर कषायों के स्वरूप को जानकर कभी उनके वश में न हो॥ २४॥

एवं तिरिक्खे मणुयासुरेसुं, चतुरन्तऽणंतं तयणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरेज्जा
—त्ति बेमि॥ २५॥

प्रचुरता से मूर्छित हुए उन नारकियों को पाप से प्रेरित नरकपाल टुकड़े-टुकड़े करके फैंक देते हैं ॥ १६ ॥

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥ १७ ॥

अर्थ—नरक में, आकाश में, अत्यन्त दुःखदायी, एक शिला का बना हुआ लम्बा पर्वत है । उसे परमाधामियों ने अपनी विक्रिया से बनाया है । उस पर्वत पर क्रूरकर्मी नारकी जीव हजारों मुहूर्तों से भी अधिक काल तक अर्थात बहुत दीर्घ काल तक मारे जाते हैं ॥ १७ ॥

*संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।*
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥ १८ ॥

अर्थ—रात और दिन खूब तपते हुए तथा नरकपालों द्वारा बाधित किये हुए नारकी जीव रुदन करते रहते हैं । एकान्त रूप से दुःखों की उत्पत्ति के स्थान विस्तृत नरक में पड़े हुए नारकों को जब गले में फाँसी डाल कर मारा जाता है तो आक्रंदन करते हैं ॥ १८ ॥

भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं ।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्व जन्म के वैरी के समान वे परमाधामी रोष के साथ मुद्गर और मूसल लेकर नारकी जीवों के शरीर को तोड़ देते हैं । टूटे हुए अंगोपांगो वाले तथा रुधिर का वमन करने वाले वे नारकी अधोमुख होकर पृथ्वी पर पड़ जाते हैं ॥ १९ ॥

अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सया सकोवा ।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा संकलियाहि बद्धा ॥ २० ॥

अर्थ—नरक में नरकपालों द्वारा विकुर्वित दीर्घकाय शृगाल होते हैं, जो सदैव क्रोधित रहते हैं और बड़े ढीठ होते हैं । वे अत्यन्त घोर पापकर्म करने वाले, समीपवर्त्ती और सांकलों से बँधे नारक जीवों को खा जाते हैं ॥ २० ॥

सया जला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जलं लोहविलीणतत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेंति ॥ २१ ॥

# वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो य परतित्थिश्रा य।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी से जम्बू स्वामी अथवा अन्य कोई मुमुक्षु प्रश्न करता है—श्रमणों ने, ब्राह्मणों ने, गृहस्थों ने तथा अन्यतीर्थिकों ने पूछा है कि वह कौन है जिसने एकान्त रूप से कल्याण करने वाले अनुपम धर्म को भलीभाँति विचार करके कहा है ? ॥ १ ॥

कहं च नाणं कह दंसणं से,
सीलं कहं नायसुतस्स आसी ?
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं,
अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? दर्शन कैसा था ? और यम-नियम रूप शील कैसा था ? हे भिक्षो ! आप यथार्थ रूप से जानते हैं, इसलिए जैसा आपने सुना, समझा या देखा है, सो कहिए ॥ २ ॥

खेयन्नए से कुसले महेसी ( कुसलासुपन्ने ),
अणंतनाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि शिष्यों से कहते हैं-भगवान् महावीर संसार के प्राणियों के दुःख को जानते थे कर्मों को नष्ट करने वाले थे, महान् ऋषि थे-घोर तपश्चरण करने वाले और अतुल परीषहों को सहन करने वाले थे । अथवा आशुप्रज्ञ अर्थात् सर्वत्र सर्वदा उपयोग रखने वाले थे। वह अनन्तज्ञानी और

अर्थ—इसी प्रकार तिर्यंच गति, मनुष्यगति और देवगति भी जाननी चाहिए। यह चातुर्गतिक संसार कहलाता है। इसमें भी तदनुरूप कर्म के विपाक को जानकर ज्ञानी पुरुष जीवन के अन्त तक संयम का पालन करे ॥ २५ ॥

इति नरयविभत्तिए बीओ उद्देसो समत्तो ॥

## पांचवा अध्ययन समाप्त
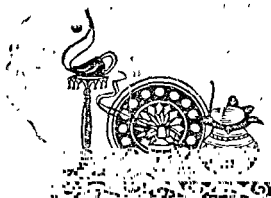
पर विचलित नहीं होते थे। भगवान् सूर्य के सदृश असाधारण ज्योतिर्मान् थे। जैसे जाज्वल्यमान अग्नि अंधकार को नष्ट करके प्रकाश करती है, उसी प्रकार प्रभु महावीर ने अज्ञान-अंधकार का निवारण करके पदार्थों के सत्य स्वरूप को प्रकाशित किया था ॥ ६ ॥

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

अर्थ—काश्यपगोत्रीय, सर्वज्ञ मुनि श्री महावीर स्वामी अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के धर्म के नेता थे, अर्थात् भगवान् ने ऋषभ देव आदि के द्वारा उपदिष्ट धर्म को ही अग्रसर किया था। जैसे देवलोक में इन्द्र समस्त देवों में महान् प्रभावशाली है, उसी प्रकार भगवान् अखिल जगत् में सब से अधिक प्रभावशाली थे ॥७॥

से पन्नया अक्खय सागरे वा, महोदही वावि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥

अर्थ—भगवान् प्रज्ञा से अक्षय सागर के समान थे, किसी भी ज्ञेय पदार्थ में उनका ज्ञान अटकता नहीं था—जो कुछ भी ज्ञातव्य है, उसे वे सम्यक् प्रकार से जानते थे। उनकी प्रज्ञा स्वयंभूरमण समुद्र के समान अपार-असीम थी और समुद्र के जल के समान निर्मल थी। भगवान् समस्त कषायों से रहित थे और जीवन्मुक्त थे। वे इन्द्र के समान देवों के अधिपति थे, देवाधिदेव थे और दिव्य तेज से सम्पन्न थे ॥ ८ ॥

से वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

अर्थ—भगवान् वीर्य से परिपूर्ण वीर्यशाली थे—उनका शारीरिक और आध्यात्मिक बल चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। जैसे सुदर्शन ( मेरु ) पर्वत समस्त पर्वतों में प्रधान है, उसी प्रकार भगवान् समस्त प्राणधारियों में श्रेष्ठ थे। जैसे सुमेरु स्वर्ग निवासी देवों के लिए प्रमोद जनक होता है तथा प्रशस्त वर्ण रस गंध स्पर्श आदि गुणों से युक्त होता है, उसी प्रकार भगवान् भी अनेक असाधारण गुणों से विराजमान थे ॥ ९ ॥

सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते।
से जायणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥१०॥

अनन्तदर्शी थे। वे अनुपम यश से सुशोभित थे और जब भगवान् केवली थे तो जनता के लोचनपथ में स्थित थे। उन भगवान् के श्रुत-चारित्र रूप धर्म को तथा घोर से घोर उपसर्ग होने पर भी चारित्र से चलायमान न होने वाले धैर्य को तुम्हें जानना और समझना चाहिए ॥ ३ ॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने,
दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी भगवान् महावीर ने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा तथा तिर्छी दिशा-पूर्व पश्चिम आदि-में जो त्रस प्राणी हैं और जो स्थावर प्राणी हैं, उन सब को जानकर तथा जगत् के समस्त पदार्थों को द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य जानकर दीपक के समान वस्तुत्व रूप को यथार्थ रूप से प्रकाशित करने वाले धर्म का प्रतिपादन किया है ॥ ४ ॥

से सव्वदंसी अभिभूयनाणी,
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

अर्थ—भगवान् महावीर समस्त-पदार्थों को देखने वाले, केवल ज्ञानी, पूर्ण रूप से विशुद्ध चारित्र का पालन करने वाले, धैर्यवान् और स्वस्वरूप में लीन थे। भगवान् समस्त जगत् में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से अतीत, सातों प्रकार के भय से रहित तथा निष्कर्म होने के कारण (चारों प्रकार के) आयु से रहित थे ॥ ५ ॥

से भूइपण्णे अणिएअ-चारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा,
वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानवान् थे। कहीं भी इच्छानुसार विचरते थे। संसार-सागर को पार करने वाले थे। परीषह और उपसर्ग आने

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाइजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥

अर्थ—समस्त पर्वतों में सुमेरु पर्वत का यश पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित किया गया है। ज्ञातपुत्र श्रमण ( महावीर स्वामी ) इसी पर्वत के समान हैं। जैसे सुमेरु पर्वत अपने असाधारण गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सब से श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १४ ॥

गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयाययाणं ।
तओवमे से जगभूइपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे लम्बे पर्वतों में निषध नामक पर्वत श्रेष्ठ है, तथा वलयाकार पर्वतों में रुचक नामक पर्वत श्रेष्ठ है, इसी प्रकार जगत् के सभी मुनियों में, अद्वितीय ज्ञानवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं, ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है ॥ १५ ॥

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइ ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान् महावीर स्वामी सर्वोत्तम धर्म को प्रकाशित करके सर्वोत्तम ध्यान करते थे। उनका* शुक्लध्यान, अतीव शुक्ल वस्तु के समान शुक्ल था और सर्वथा जल के फेन के समान निर्दोष था। वह शंख और चन्द्रमा के समान एकान्त शुभ्र ध्यान था ॥ १६ ॥

अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥

अर्थ—उन महर्षि-भगवान् महावीर ने ज्ञान, दर्शन तथा शील के प्रभाव से समस्त कर्मों का क्षय करके सर्वोत्तम, प्रधान तथा सादि और अनन्त सिद्धि प्राप्त की ॥ १७ ॥

रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेययंति सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥ १८ ॥

---

*भगवान् को जब ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब वह योगनिरोध काल में सूक्ष्म काय-योग को रोकते हुए शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद जो सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति है, उसे ध्याते थे और जब वे निरुद्धयोग हुए तब चौथा शुक्ल ध्यान का भेद जो व्युपरतक्रिया अनिवृत्त कहलाता है, उसे ध्याते थे। ऐसा टीकाकार कहते हैं।

अर्थ—सुमेरु पर्वत सौ हजार अर्थात् एक लाख योजन ऊँचा है। उसके तीन काण्ड हैं-पृथ्वीमय, सुवर्णमय और वैडूर्यमय। उस पर सब से ऊपर पताका के समान सुशोभित पण्डक वन है। यह निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी पर ऊपर है और एक हजार योजन पृथ्वी के नीचे है ॥ १० ॥

पुट्ठे नभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रइं वेदयंति महिंदा ॥११॥

अर्थ—वह सुमेरु पर्वत पृथ्वी को अवगाहन करके स्थित है और आकाश को स्पर्श करता है। सूर्य आदि ज्योतिष्क देव उसकी परिक्रमा करते हैं। वह तपे हुए सोने के समान वर्ण वाला है और* अनेक ( चार ) नन्दनवनों से युक्त है। महेन्द्रगण उस पर आकर आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् वह स्वर्ग से भी अधिक रमणीय है ॥ ११ ॥

से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥१२॥

अर्थ—वह मेरु अनेक शब्दों से-सुदर्शन, सुरगिरि, मन्दर आदि नामों से प्रसिद्ध है। वह कंचन के समान निर्मल वर्ण वाला है। इस जगत में सर्वश्रेष्ठ है। वह उपपर्वतों के कारण सभी पर्वतों में दुर्गम ( अर्थात् कठिनाई से जिस पर चढ़ा जा सके ऐसा ) है। मणियों और औषधियों से प्रकाशित भूप्रदेश के समान प्रकाशमान है ॥ १२ ॥

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरीए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३॥

अर्थ—वह पर्वतराज पृथ्वी के ठीक मध्य में स्थित है। सूर्य के समान कान्ति वाला जान पड़ता है। वह अपनी अनुपम शोभा से अनेक वर्ण वाला प्रतीत होता है। मनोरम है और अपने तेज से सूर्य के समान दशों दिशाओं को आलोकित करता है ॥ १३ ॥

---

*भूमिभाग में भद्रशाल वन है, उसके ऊपर पाँच सौ योजन चढ़ कर मेखलाप्रदेश में नन्दनवन है, उससे ऊपर पाँच सौ बासठ हजार योजन चढ कर सौमनसवन है, उससे छत्तीस हजार योजन चढ कर शिखर के ऊपर पण्डकवन है। इस प्रकार वह पर्वत चार नन्दनवनों से युक्त विचित्र क्रीड़ास्थल है।

# सातवाँ कुशील परिभाषा अध्ययन

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तणरुक्खबीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ १ ॥

एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥ २ ॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति कायिक, त्रस, अंडज (पक्षी आदि) जरायुज (गाय-भैंस आदि) स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं आदि), रसज (दूध दही घृत आदि रसों से उत्पन्न होने वाले) इन सबको तीर्थंकर भगवान् ने जीवनिकाय कहा है। ये सब प्राणी सुख के अभिलाषी और दुःख के द्वेषी हैं, ऐसा जानना चाहिए और यह भी जानना चाहिए कि इनकी हिंसा करने से आत्मा स्वयं दंडित होता है। इन प्राणियों का घात करके अपने को दंडित करने वाला पुनः पुनः इन्हीं योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले। ३।

अर्थ—पूर्वोक्त त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करने वाला जीव बार-बार एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की योनियों में परिभ्रमण करता है और त्रस-स्थावर काय में उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है। बार-बार जन्म लेकर बहुत क्रूर कर्म करने वाला जो पाप-कर्म करता है, उसके कारण मृत्यु को प्राप्त होता है ॥३

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥ ४ ।

अर्थ—जीव जो कर्म बाँधता है, उसका फल उसे इसी भव में मिलता है अथवा परभव में मिलता है। कोई कर्म एक ही भव में फल देता है तो कोई कर्म

अर्थ—भगवान् क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद को जान कर जीवन के अन्त तक संयम में स्थित रहे थे ।

स्पष्टीकरण अकेली दीक्षा आदि क्रिया से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, इस प्रकार के सिद्धान्त को क्रियावाद कहते हैं । अक्रियावाद में सिर्फ ज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना जाता है। क्रियावादी ज्ञान की आवश्यकता नहीं मानते और ज्ञानवादी क्रिया को व्यर्थ मानते हैं । विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता विनयवाद है । इस लोक और परलोक में अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना अज्ञानवाद है । भगवान् ने इन सब एकान्तों को दूषित जान कर ज्ञान -क्रिया के अनेकान्त को अंगीकार करके संयम की साधना की ॥ २७ ॥

से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

अर्थ—भगवान महावीर ने स्त्री समागम का त्याग किया और साथ ही रात्रि भोजन का भी परित्याग कर दिया । उन्होंने अपने दुःखों-कर्मों का क्षय करने के लिए तपस्या में प्रवृत्ति की । इस लोक और परलोक को जानकर समस्त पापों का पूर्ण रूप से त्याग किया ॥ २८ ॥

सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥ २९॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—अरिहंत भगवान् द्वारा भाषित युक्ति संगत, शब्द एवं अर्थ से शुद्ध धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा करने वाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । कदाचित् कर्म शेष रह जाएँ तो इन्द्र के समान देवों के अधीश्वर होते हैं ॥ २९ ॥

## छठा अध्ययन समाप्त

अर्थ—जो प्रव्रजित या गृहस्थ असंयमी पुरुष अपने सुख के लिए बीजों के जीवों की हिंसा करता है, वह अंकुर आदि की उत्पत्ति एवं वृद्धि का विनाश करता है। ऐसा करने वाला इस पाप के द्वारा अपनी आत्मा को ही दंड का भागी बनाता है। तीर्थंकर देव ने कहा है कि वह पुरुष लोक में अनार्यधर्मी है ॥ ६ ॥

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा*य, चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

अर्थ—वनस्पति का घात करने वालों जीवों में से कोई-कोई तो गर्भ में ही मर जाते हैं, कोई बोलने योग्य होने पर मरते हैं और कोई बोलने योग्य होने से पहले ही मर जाते हैं कोई कोई पाँच शिखा वाले ( झूले वाले ) कुमार की अवस्था में, कोई युवावस्था में, कोई मध्यम अवस्था में और कोई स्थविर ( वृद्ध ) अवस्था में मर जाते हैं। इस प्रकार वनस्पतिकाय की हिंसा करने वाले प्राणी किसी भी अवस्था में मरण-शरण हो जाते हैं ॥ १० ॥

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगन्तदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥ ११ ॥

अर्थ—अहो जीवो ! तुम समझो कि इस संसार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति बहुत कठिन है। तथा नरकगति और तिर्यंच गति के घोर दुःखों को देखो और सोचो कि अज्ञानी जीव को बोध की प्राप्ति नहीं होती। यह लोक ज्वर-ग्रस्त के समान एकान्त दुःखमय है और सुख पाने के लिए पाप-कर्म करने के कारण उलटा दुःख का पात्र होता है ॥ ११ ॥

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहार संपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥

अर्थ—इस संसार में कोई-कोई मूढ़ पुरुष कहते हैं कि [1]नमक खाना त्याग देने से ही मोक्ष मिल जाता है। कोई शीतल जल का सेवन करने से मोक्ष बतलाते हैं और कोई-कोई होम करने से मुक्ति होना कहते हैं ॥ १२ ॥

पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं ।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥ १३ ॥

---

*पाठान्तर—पोरुसा य। [1]नमक पाँच प्रकार का होता है—सैन्धव, सौवर्चल, विड, रौम, सामुद्र।

सैकड़ों भवों में। कोई कर्म जिस रूप में किया गया है, उसी रूप में फल देता है कोई दूसरे रूप में। इस प्रकार संसार में भ्रमण करने वाले जीव तीव्र से तीव्र दुःख भोगते हैं-पूर्वकृत कर्म का फल भोगते समय आर्त्तध्यान करके फिर नवीन कर्म बाँध लेते हैं। इस कारण वे निरन्तर पापकर्म का फल भोगते रहते हैं ॥ ४ ॥

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारंभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसील धम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते ॥ ५ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि जो लोग माता और पिता को अर्थात् अपने समस्त परिवार को त्याग कर साधु-पर्याय ग्रहण करके अग्निकाय का आरंभ करते हैं और जो अपने सुख के निमित्त अन्य प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे कुशील धर्म (बुरे आचरण) वाले हैं ॥ ५ ॥

उज्जालओ पाण निवातएज्जा, निव्वावओ य गणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

अर्थ—अग्नि जलाने वाला प्राणियों की घात करता है और अग्नि बुझाने वाला अग्नि के जीवों की घात करता है। अतएव विवेकवान् पुरुष धर्म का विचार करके अग्नि का आरंभ न करे ॥ ६ ॥

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥ ७ ॥

अर्थ—अग्निकाय का आरंभ करने में पृथ्वीकाय के जीव, जलकाय के जीव, पतंग आदि उड़ने वाले जीव और लकड़ी आदि के सहारे रहे हुए कीट आदि प्राणी विनाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् यह सब प्राणी जल जाते हैं ॥ ७ ॥

हरियाणि भूताणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाई।
जे छिंदति आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥ ८ ॥

अर्थ—हरित काय अर्थात् दूर्वा अंकुर आदि भी जीव हैं (क्योंकि हमारे शरीर की तरह उनका शरीर भी आहार से बढ़ता है, कटने से मुरझाता है।) हरितकाय के ये जीव मूल, स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि में अलग-अलग आश्रित हैं। जो जीव अपने सुख के लिए इनका छेदन करता है, वह धृष्टता के साथ बहुत प्राणियों की घात करता है ॥ ८ ॥

जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥ ९ ॥

अर्थ—शीतल जल यदि पाप कर्म करने वालों के पाप को हरण कर लेता है तो जलचरजीवों–मछली आदि को मारने वाले मच्छीमार आदि को मुक्ति प्राप्त हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव जलस्नान से मुक्ति कहने वाले मिथ्या भाषण करते हैं॥ १७॥

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंता कुकम्मिणंपि ॥१८॥

अर्थ—संध्या समय और प्रातः समय अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग होम करने से सिद्धि की प्राप्ति होना कहते हैं, वे भी मिथ्या भाषी हैं। अगर अग्नि का स्पर्श करने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाय तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुकर्मी जीवों को भी सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए॥ १८॥

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहिं जाणे पडिलेह सातं, विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥ १९॥

अर्थ—जिन्होंने जल-स्नान से अथवा अग्निहोत्र करने से मुक्ति मानी है, उन्होंने परीक्षा करके नहीं देखा, अर्थात् समझ बूझ कर अपनी मान्यता निश्चित नहीं की है। वास्तव में इस प्रकार मुक्ति नहीं मिलती। इस प्रकार की मान्यता वाले अज्ञानीजन संसार परिभ्रमण करेंगे। सभी त्रस और स्थावर जीव सुख चाहते हैं, ऐसा जानकर और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके किसी प्राणी की हिंसा न करे॥१९॥

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥ २०॥

अर्थ—अशुभ कर्मों का उपार्जन करने वाले प्राणी अपने कर्मों के अनुसार पृथक्-पृथक् आक्रन्दन करते हैं, छेदन किये जाते हैं और त्रास को प्राप्त होते हैं। अतएव पापकर्म से विरत ज्ञानवान् साधु अपने मन वचन काय का गोपन करके त्रस–स्थावर जीवों को जान कर उनकी हिंसा से निवृत्त हो।

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं।
जे धोवती लूसयतीव वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥ २१॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है कि जो शिथिलाचारी साधु धर्मलब्ध अर्थात् उद्देशक, क्रीतकृत आदि दोषों से रहित भी आहार का संचय करके उपभोग करता है तथा जो अचित्त जल से भी अंगों का संकोच करके भी स्नान करता

अर्थ—प्रातःकाल में स्नान आदि करने से मोक्ष नहीं मिलता क्योंकि पानी का आरंभ करने से जलकाय के जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार पाँच तरह के लवण का खाना छोड़ देने मात्र से मोक्ष नहीं मिलता। अन्य तीर्थी लोग मद्य, मांस और लहसुन का उपयोग करके मोक्ष से अन्यत्र अर्थात् संसार में ही परिभ्रमण करते हैं॥ १३॥

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥१४

अर्थ—सायंकाल, प्रातःकाल तथा मध्यान्ह रूप तीनों संध्याकालों में जल का स्पर्श-स्नान आदि करते हुए जो लोग जल स्पर्श से मोक्ष कहते हैं, सो ठीक नहीं। यदि जल के स्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति हो तो जल में रहने वाले बहुत से जो जलचर प्राणी हैं, वे भी सिद्ध हो जाने चाहिए॥ १४॥

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥ १५ ॥

अर्थ—जल के स्पर्श से मुक्ति होती तो सदैव जल में रहने वाले मत्स्य, कछुवे, सरीसृप (साँप) मद्गु (जल मुर्गा), उष्ट्र नामक जलचर तथा जल राक्षस (जल मानुस) आदि जीव सब से पहले मुक्त हो जाते। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता और माना भी नहीं जाता। अतः जल से जो सिद्धि की प्राप्ति होना कहते हैं सो अयुक्त है, ऐसा ज्ञानीजनों का कथन है॥ १५॥

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव।
अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥

अर्थ—जल यदि कर्म रूपी मल का हरण करता है तो वह पुण्य को भी हरण कर लेगा? अतएव जल-स्पर्श से मोक्ष मानना कल्पना मात्र है। जैसे जन्मांध पुरुष अंधे नेता का अनुसरण करके कुमार्गगामी होता है और अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानी-जनों का अनुगमन करके प्राणियों का घात करते हैं॥ १६॥

पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सीओदगं तु जइ तं हरिज्जा।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥ १७॥

अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥ २६ ॥

अर्थ—जो अन्न के लिए, पानी के लिए तथा अन्य वस्त्र आदि इस लोक संबंधी पदार्थों के लिए सेवक की तरह जिसको जैसा रुचे वैसा बोलता है, वह पार्श्वस्थ है और कुशील है। जैसे धान्य रहित तुष (भूसा) निस्सार होता है, उसी प्रकार वह भी संयमानुष्ठान रूपी सार से रहित है ॥ २६ ॥

अण्णायपिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥

अर्थ—कुशील का वर्णन करने के पश्चात् अब सुशील साधु का आचरण बतलाते हैं। संयमवान् साधु*अज्ञात कुल में आहार लेकर अपनी देहयात्रा का निर्वाह करे, किन्तु दीनपन धारण न करे। पूजा प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से तपश्चर्या न करे। शब्दों और रूपों में आसक्त न हो तथा समस्त काम भोगों में गृद्धि का त्याग करके विचरे ॥ २७ ॥

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥२८॥

अर्थ—शीलवान् बुद्धिमान् साधु समस्त संगों-संबंधों का त्याग करके, समस्त दुःखों को सहन करता हुआ ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण होता है। वह किसी भी पदार्थ में गृद्ध न होता हुआ अप्रतिबद्ध विहारी होता है अर्थात् न किसी नियत स्थान में रहता है और न कहीं घर बनाकर रहता है। वह प्राणी मात्र को अभय देने वाला होता है और उसका अन्तःकरण कभी विषय विकार से मलिन अथवा व्याकुल नहीं होता ॥ २८ ॥

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥ २९ ॥

अर्थ—साधु संयम का निर्वाह करने के लिए शुद्ध आहार भोगे; पूर्वकृत पापों को दूर करने की अभिलाषा करे और जब परीषह या उपसर्ग का दुःख आ पड़े तो संयम या मोक्ष का विचार करे। जैसे संग्राम के अग्रभाग में रहा हुआ सुभट शत्रु का पराभव करता है, उसी प्रकार साधु कर्म-विकारों का दमन करे ॥२९॥

* "अज्ञातपिण्ड" का टीकाकार "अन्तप्रान्त" अर्थ लिखते हैं।

है, जो वस्त्रों को धोता है तथा शोभा के लिए छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा करता है, वह संयम से दूर है। तात्पर्य यह है कि साधु को निर्दोष आहार का भी संचय नहीं करना चाहिए, सचित्त जल की बात तो दूर, अचित्त जल से थोड़ा भी स्नान नहीं करना चाहिए। शोभा के लिए वस्त्रों को न धोना चाहिए न छोटा-बड़ा करना चाहिए। ऐसा करने वाला ही शुद्ध संयमी है ॥ २१ ॥

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥ २२ ॥

अर्थ—जल का आरंभ कर्मबंध का कारण है, यह जान कर बुद्धिमान् पुरुष जब तक मुक्ति प्राप्त हो तब तक अचित्त जल से जीवन-निर्वाह करे। बीज और कन्द आदि का उपभोग न करे तथा स्नान आदि सावद्य क्रियाओं से एवं स्त्रीसेवन आदि से विरत हो ॥ २२ ॥

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च ।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥ २३ ॥

अर्थ—जो शिथिलाचारी माता, पिता, गृह, पुत्र, पशु और धन का परित्याग करके सुस्वादु भोजन वाले घरों में आहार के लिए दौड़ा जाता है, वह साधुवृत्ति से दूर है-उसमें सच्चा साधुत्व नहीं है, ऐसा तीर्थङ्करों और गणधरों ने कहा है ॥ २३ ॥

कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

अर्थ—जो पेटू पुरुष उत्तम स्वादमय भोजन वाले घरों में भाग-भाग कर जाता है और वहाँ जाकर धर्मकथा सुनाता है, और जो आहार के लिए दूसरों से अपने गुणों का वर्णन करवाता है, वह आचार्यों का सौवाँ-हजारवाँ भाग भी नहीं है। ( जो अपने ही मुख से आप ही अपने गुणों की प्रशंसा करता है, उसकी तो बात ही क्या है ! वह तो और अधिक कुशील है ! ) ॥ २४ ॥

णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव ॥२५॥

अर्थ—जो पुरुष गृह-कुटुम्ब त्याग करके भी दूसरे के भोजन के लिए दीनता धारण करता है और भाट की भाँति गृहस्थ की प्रशंसा करता है, वह चाँवल के कणों में गृद्ध हुए बड़े शूकर की तरह लोलुपता धारण करके शीघ्र ही घात को प्राप्त होता है, अर्थात पुनः पुनः जन्म-मरण करता है ॥ २५ ॥

# आठवाँ वीर्याधिकार-अध्ययन

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चइ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चइ ? ॥ १ ॥

अर्थ—यह जो वीर्य कहलाता है, उसे श्री जिनेश्वर देव ने दो प्रकार का कहा है। अब प्रश्न यह है कि वीर का वीरत्व क्या है ? और किस कारण से वह वीर कहलाता है ? ॥ १ ॥

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया।
एतेहिं दोहि ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया ॥ २ ॥

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-हे सुव्रत ! कोई कोई कहते हैं कि कर्म अर्थात् क्रिया का अनुष्ठान करना वीर्य है और कोई-कोई कहते हैं कि अकर्म वीर्य है। इन सकर्म वीर्य और अकर्म वीर्य रूप दो स्थानकों में ही संसार के सब प्राणी देखे जाते हैं—सबका इन्हीं में समावेश हो जाता है ॥ २ ॥

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥ ३ ॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् ने प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म कहा है। इस प्रमाद के कारण बाल वीर्य और अप्रमाद के कारण पण्डित वीर्य होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमादी जीव का क्रियानुष्ठान बालवीर्य है और अप्रमत्त का क्रियानुष्ठान पंडितवीर्य है ( अभव्यों का बालवीर्य अनादि अनन्त होता है और भव्यों का अनादि सान्त। पण्डितवीर्य तो हमेशा सादि सान्त ही होता है ॥ ३ ॥

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥ ४ ॥

अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥३०॥

अर्थ—जैसे लकड़ी का पटिया दोनों तरफ से छीला जाता हुआ पतला पड़ जाता है और किसी पर राग-द्वेष नहीं करता, उसी प्रकार परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित साधु कष्ट को सहन करे और पण्डितमरण की कामना करे। जैसे धुरी टूट जाने पर गाड़ी आगे नहीं चलती, उसी प्रकार कर्मों का क्षय करके साधु संसार के प्रपंच को प्राप्त नहीं होता; अर्थात् मुक्त हो जाने पर फिर कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता ॥ ३० ॥

## सातवाँ अध्ययन समाप्त

एयं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥ ९ ॥

अर्थ—यह अज्ञानी जीवों का सकर्मवीर्य ( बालवीर्य ) बतलाया गया है। अब पंडित पुरुषों का अकर्म वीर्य मुझसे सुनो ॥ ९ ॥

दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥ १० ॥

अर्थ—मोक्षार्थी पुरुष कषाय रूप बंधन से मुक्त होते हैं और समस्त बन्धनों को छेदकर, पाप-कर्म का त्याग करके पूर्ण रूप से शल्यों को काट फैंकते हैं ॥ १० ॥

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥ ११ ॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् द्वारा कथित सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को ग्रहण करके और बालवीर्य से बारंबार नरक आदि के दुःखों की उत्पत्ति होती है और अशुभ ध्यान की वृद्धि होती है, ऐसा जानकर पण्डित पुरुषों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥ ११ ॥

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ।
अणियते अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥ १२ ॥

अर्थ—उच्च स्थानों पर आसीन प्राणी अपने-अपने विविध स्थानों को त्यागेंगे, इसमें संदेह नहीं। अर्थात् देवलोक में इन्द्र तथा सामानिक देवों का स्थान उच्च माना जाता है, मनुष्यों में चक्रवर्ती वासुदेव बलदेव आदि का स्थान ऊँचा गिना जाता है, किन्तु एक न एक दिन इन स्थानों को अवश्य ही त्यागना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञाति-कुटुम्ब-परिवार तथा मित्रों का सहवास भी अनित्य है—उसका भी अन्त होता ही है ॥ १२ ॥

एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥ १३ ॥

अर्थ—संसार के सभी उच्च पद अनित्य हैं, ऐसा समझ कर बुद्धिमान् पुरुष अपनी ममत्व बुद्धि का त्याग कर दे और समस्त कुतीर्थिकों के धर्मों से दूषित न होनेवाले इस आर्य धर्म-श्रुत-चारित्र रूप धर्म को अंगीकार करे ॥ १३ ॥

अर्थ—उक्त दो प्रकार के वीर्यों में से बाल वीर्य का प्रतिपादन करते हैं। कोई-कोई अज्ञानी जीव प्राणियों की घात करने के लिए खड्ग आदि शस्त्रों का प्रयोग करना सीखते हैं और कोई प्राणियों तथा भूतों की हिंसा करने वाले मंत्रों का अभ्यास करते हैं ॥ ४ ॥

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥

अर्थ—मायावी पुरुष मायाचार-कपट करके कामभोगों का सेवन करते हैं तथा अपने सुख की इच्छा करने वाले वे लोग प्राणियों की घात करते हैं, उनके अंगोपांगों का छेदन करते हैं और उनके उदर आदि को काटते-चीरते हैं ॥ ५ ॥

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरओ परओ वावि, दुहा वि य असंजया ॥ ६ ॥

अर्थ—असंयमी जीव मन वचन और काय से तथा काय की शक्ति न होने पर तंदुल मत्स्य की तरह मन से ही इस लोक के लिए और परलोक के लिए स्वयं जीवघात करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं ॥

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥ ७ ॥

अर्थ—जीव की घात करने वाला पुरुष उस जीव के साथ सैंकड़ों जन्मों तक चालू रहने वाला वैर बाँध लेता है, अर्थात् इस जन्म में जिसकी हिंसा की गई है वह अगले जन्म में हिंसाकारी की घात करता है और बदला लेने के लिए वह फिर उसकी घात करता है। इस प्रकार हिंसा रूप आरंभ पाप को उत्पन्न करता है और अन्ततः आरंभ करने वाला दुःख का भागी होता है ॥ ७ ॥

संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥ ८ ॥

अर्थ—कर्म दो प्रकार का है--साम्परायिक और ईर्यापथिक। कषायपूर्वक किया जाने वाला कर्म साम्परायिक कर्म है और बिना कषाय के जो कर्म हो जाता है वह ईर्यापथिक। जानबूझ कर ( कषायपूर्वक ) स्वयं पाप करने वाले साम्परायिक कर्म का बंध करते हैं। ऐसे राग-द्वेष के पात्र बाल जीव बहुत पापों का उपार्जन करते हैं ॥ ८ ॥

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नंपि य णादए ।
सादियं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥ १९ ॥

अर्थ—प्राणियों के प्राणों का अतिपात (हिंसा) न करे, अदत्त वस्तु को ग्रहण न करे, कपट सहित मिथ्या भाषण न करे, यह जितेन्द्रिय मुनि का धर्म है ॥ १९ ॥

अतिक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥ २० ॥

अर्थ—संयमी मुनि वचन से अथवा मन से भी महाव्रतों के अतिक्रमण की अभिलाषा न करे। ( मन एवं वचन से अतिक्रमण का निषेध करने से कायिक अतिक्रमण का स्वतः निषेध हो जाता है ) बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से संवरयुक्त होकर रहे और सम्यक् प्रकार से संयम का सेवन करे ॥ २० ॥

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

अर्थ—पापों से आत्मा का गोपन करने वाले तथा जितेन्द्रिय पुरुष किसी के द्वारा किये हुए, किये जा रहे या भविष्य में किये जाने वाले पाप का अनुमोदन नहीं करते हैं ॥ २१ ॥

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ २२ ॥

अर्थ—संसार में जो पुरुष व्याकरण तर्क शास्त्र आदि को पढ़ करके भी धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते, किन्तु लोक में विख्यात एवं माननीय होते हैं, तथा जो शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले वीर पुरुष हैं किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित हैं उनका पराक्रम अशुद्ध है और उनकी समस्त क्रियाएँ कर्म बंध का कारण होती हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व के साथ दान, तप आदि जो भी क्रिया की जाती है, वह संसार का ही कारण होती है ॥ २२ ॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसि परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥ २३ ॥

अर्थ—जो पूजनीय पुरुष धर्म के रहस्य को तथा वस्तुतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानते हैं, जो कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ हैं और सम्यग्दर्शन

सह सम्मइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायपावगे ॥ १४ ॥

अर्थ—अपनी शुद्ध बुद्धि से अथवा गुरु आदि से सुनकर धर्म के सार को जानकर संयम में उपस्थित हुआ अनगार पाप का परित्याग करे ॥ १४ ॥

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अन्तरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष अपनी आयु के क्षय का कोई उपक्रम ( कारण ) जाने तो उसी बीच में अर्थात् आयुक्षय से पहले ही समाधिमरण रूप शिक्षा को शीघ्र ही अंगीकार कर ले ॥ १५ ॥

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसे कछुआ अपने अंगों का अपने शरीर में गोपन कर लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष पापों को धर्म ध्यान आदि की भावना से संकुचित करले, अर्थात् समस्त पापों का त्याग करके, संलेखना पूर्वक समाधिमरण से शरीर का त्याग करे ॥ १६ ॥

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।
पावकं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं ॥ १७ ॥

अर्थ—मुनि अपने हाथों और पाँवों का संवरण करे, मन का संवरण करे अर्थात् अशुभ विचार न करे इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष रूप परिणाम का त्याग करे और भाषा संबंधी दोषों का भी त्याग करे। तात्पर्य यह है कि समाधिमरण अंगीकार करके साधु को मन, वचन और काय के व्यापार का पूरी तरह संवर करना चाहिए ॥ १७ ॥

अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।
सातागारवनिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥ १८ ॥

अर्थ—साधु को अणुमात्र भी-थोड़े भी-मान और माया का सेवन नहीं करना चाहिए। मान और माया के अशुभ फल को जानकर ज्ञानी पुरुष, सुखशीलता से दूर रहे और क्रोध के त्याग का निष्कपट भाव से विचरे ॥ १८ ॥

मनुष्य आदि) रसज (दही आदि से उत्पन्न होने वाले) पसीने से पैदा होने वाले (जूँ, खटमल आदि) उद्भिज (खंजरीट, मेढक आदि) त्रसकाय-यह छह काय के जीव हैं। विवेकवान् पुरुष इन छह कायों को सजीव समझे और मन वचन काय से इनका आरंभ-परिग्रह न करे॥ ८-६ ॥

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

अर्थ—मृषावाद करना, मैथुन सेवन करना, अदत्त को ग्रहण करना, परिग्रह रखना, यह सब इस लोक में शस्त्र के समान है, अर्थात् प्राणी को संताप देने वाले हैं और कर्मास्रव के कारण हैं। ज्ञानी पुरुष इन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे ॥ १० ॥

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

अर्थ—माया, लोभ, क्रोध और मान को नष्ट करो, क्योंकि लोक में यह सब कर्मों के आस्रव के कारण हैं। ज्ञानी पुरुष ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनका प्रत्याख्यान करे।

धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणंजणं पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥

अर्थ—हाथ पाँव तथा वस्त्र आदि धोना, रंगना, वस्तीकर्म करना अर्थात् एनीमा आदि लेना, जुलाब लेना, वमन करना, आँखों में अंजन लगाना आदि संयम का उपघात करने वाले कार्य हैं। विद्वान पुरुष ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनका त्याग करे ॥ १२ ॥

गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १३ ॥

अर्थ—सुगंध, कुसुम आदि की माला, स्नान, दंत प्रक्षालन परिग्रह, स्त्री-सेवन तथा हस्तकर्म आदि को संसार का कारण जानकर ज्ञानी पुरुष त्याग दे ॥१३॥

उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं।

अर्थ—परिवार के विषयासक्त जन मृतक पुरुष का दाहसंस्कार करके उसके उपार्जित धन पर अधिकार कर लेते हैं। धन उपार्जन करने के लिए पापकर्म करने वाला वह मृत पुरुष अपने कर्मों से कष्ट पाता है ॥ ४ ॥

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने कर्मों के अनुसार व्यथा पाने वाले जीव की माता, पिता, पुत्रवधू, भ्राता, पत्नी और औरस पुत्र आदि कोई भी बचाने में समर्थ नहीं होते। अर्थात् उसके पापोपार्जित धन पर अधिकार कर लेते हैं और उन धन का उपभोग भी करते हैं, किन्तु उसे पाप-कर्म के फल भोग से नहीं बचा सकते ॥ ५ ॥

एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥ ६ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त अर्थ को समझ कर अर्थात् दुःख भोगने वाले प्राणी को कोई बचा नहीं सकता, इस तथ्य को जानकर तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जानकर भिक्षु को ममता और अहंकार का त्याग करके जिन भाषित धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ६ ॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चाण *णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥ ७ ॥

अर्थ—धन, पुत्र, ज्ञातिवर्ग और परिग्रह को त्याग कर तथा अनन्त अर्थात् जिसका अन्त न हो ऐसे शोक-संताप का त्याग करके किसी भी सांसारिक पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ साधु संयम का पालन करे ॥ ८ ॥

पुढवी आऊ अगणी वाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।
अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया ॥ ८ ॥

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं णारंभी ण परिग्गही ॥ ९ ॥

अर्थ—पृथ्वीकाय, अपकाय अग्निकाय, वायुकाय, तृण वृक्ष बीज आदि वनस्पतिकाय, अंडज (पक्षी आदि), पोतज (हाथी आदि) और जरायुज (गाय,

* "अंतग" ऐसे पाठान्तर का अर्थ होगा:—आन्तरिक।

अर्थ—साधु हरित वनस्पति पर मल-मूत्र का त्याग न करे तथा बीज आदि को हटा कर अचित्त जल से भी आचमन न करे ॥ १६ ॥

परमत्ते अन्नपाणं च, ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २० ॥

अर्थ—साधु को गृहस्थ के पात्र में कदापि भोजन नहीं करना चाहिए और न जल पीना चाहिए । वस्त्ररहित होने पर भी गृहस्थ के वस्त्र का सेवन न करे । इन्हें संसार का कारण जान कर ज्ञानी साधु प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे ॥ २० ॥

आसंदी पलियंके य णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २१ ॥

अर्थ—मांचा-पलंग आदि पर बैठना, गृहस्थ के घर में बैठना, गृहस्थ से कुशलप्रश्न पूछना और पहले की हुई क्रीड़ा आदि का स्मरण करना, इन सब को विद्वान् साधु ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागे ।२१।

जसं कित्तिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २२ ॥

अर्थ—यश, कीर्त्ति, श्लाघा, वन्दन और पूजन तथा समस्त लोक के काम भोगों को विद्वान मुनि ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग देवे ।।२२।।

जे णेहं निव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस आहार और पानी से इस संसार में संयम यात्रा का निर्वाह हो, उस शुद्ध आहार को साधु ग्रहण करे । वह आहार-पानी असंयमी को देना अनर्थकारी है, ऐसा जानकर ज्ञानी साधु असंयत गृहस्थ आदि को न देवे ॥ २३ ॥

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥ २४ ॥

अर्थ—अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, महामुनि तथा बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि से रहित भगवान् महावीर ने इस श्रुत-चारित्र रूप धर्म का उपदेश दिया है ॥ ४ ॥

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।
माइट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥ २५ ॥

अर्थ—साधु के निमित्त बनाया हुआ, मोल लिया हुआ, उधार लिया हुआ, सामने लाया हुआ, पूति कर्म वाला (जिसमें आधाकर्मी का सम्मिश्रण हो) तथा जो किसी अन्य प्रकार से अनेषणीय हो, ऐसे आहार आदि को ज्ञानवान् मुनि ग्रहण न करे ॥ १४ ॥

आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

अर्थ—पुष्टिकारक-विकार वर्धक रसायन आदि का सेवन करना, आँखों में अंजन आंजना, इन्द्रिय विषयों में गृद्ध होना, हिंसा जनक कार्य करना, हाथ-पैर आदि धोना और शरीर में पीठी आदि लगाना, इन सबको विवेकी साधु ज्ञपरिज्ञा से संसार का कारण जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे ॥ १५ ॥

संपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि च ।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १६ ॥

अर्थ—असंयमी मनुष्यों के साथ संसार संबंधी बातें करना, गृहस्थ के गार्हस्थिक कामों की प्रशंसा करना; ज्योतिष आदि से प्रश्नों का उत्तर देना और शय्यातर का आहार लेना, इन सब को ज्ञपरिज्ञा से संसार का कारण जान कर विवेकी मुनि प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देवे ॥ १६ ॥

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १७ ॥

अर्थ—साधु अर्थोपार्जन का उपाय अथवा जुआ खेलना न सीखे, धर्मविरुद्ध भाषा का प्रयोग न करे, हस्तकर्म न करे और निस्सार वाद-विवाद न करे। विद्वान् मुनि ज्ञपरिज्ञा से इन्हें संसार का कारण जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देवे।१७।

पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १८ ॥

अर्थ—पैरों में जूते खड़ाऊ आदि पहनना, छतरी लगाना जुआ खेलना, पंखा करना या चमर ढोरना, परक्रिया ( गृहस्थ आदि से पैर आदि दबवाना ) तथा अन्योन्यक्रिया ( साधुओं का आपस में ही कार्य करना ), इन सब को संसार का कारण जान कर ज्ञानी मुनि त्याग देवे ॥ १८ ॥

उच्चारं पासवणं, हरिएसु न करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णायमज्जे कयाइ वि ॥ १९ ॥

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३० ॥

अर्थ—मुनि को मनोहर कामभोगों में उत्सुक नहीं होना चाहिए, किन्तु यतना के साथ अपने संयम का पालन करना चाहिए। भिक्षाचर्या तथा विहार आदि में प्रमाद नहीं करना चाहिए तथा परीषह और उपसर्ग आने पर अदीनता के साथ उन्हें सहन करना चाहिए ॥ ३० ॥

हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले ।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥

अर्थ—साधु को कोई लकड़ी या मुष्टि आदि से प्रहार करे अथवा दुर्वचन कहकर आक्रोश करे तो क्रोध नहीं करना चाहिए। यही नहीं; वरन् अच्छे मन से सब सहन करना चाहिए; कोलाहल नहीं करना चाहिए ॥ ३१ ॥

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥ ३२ ॥

अर्थ—प्राप्त हुए कामभोगों को भी साधु ग्रहण न करे-स्वीकार न करे। तीर्थंकर भगवान् ने इसी प्रकार विवेक कहा है। अर्थात् जो प्राप्त कामभोगों को भी अस्वीकार कर देता है, वही विवेकी कहा गया है। साधु आचार्य आदि ज्ञानीजनों से आर्यों के योग्य आचरण की अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र की सदैव शिक्षा ग्रहण करता रहे ॥ ३२ ॥

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमंता जिइंदिया ॥ ३३ ॥

अर्थ—साधु को चाहिए कि वह स्वसमय-परसमय के ज्ञाता अर्थात् गीतार्थ तथा सम्यक् तप करने वाले गुरु की शुश्रूषा करता हुआ उपासना करे। जो पुरुष कर्मशत्रुओं को पराजित करने में समर्थ हैं, जो केवलज्ञान के अन्वेषण में संलग्न हैं, जो धैर्यवान् हैं, जितेन्द्रिय हैं, वे ऐसा ही आचरण करते हैं ॥ ३३ ॥

गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥३४॥

अर्थ—गुरुजन भाषण करते हों तो उनके बीच में न बोलें, किसी के मर्म को प्रकाशित न करे-पीड़ा जनक वाक्य न बोले, मायाचारमय वचनों का त्याग करे और बोलने का अवसर हो तो सोच-विचार कर बोले अर्थात् बिना प्रयोजन भाषण न करना ही योग्य है, प्रयोजन हो तो सोच समझ कर बोले ॥ २५ ॥

तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पती ।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥ २६ ॥

अर्थ—चार*प्रकार की भाषाओं में तीसरी मिश्र भाषा है। वह असत्य से मिली हुई होती है। साधु उसका प्रयोग न करे। जिसके बोलने से बाद में पश्चात्ताप करना पड़े, ऐसी भाषा भी नहीं बोलना चाहिए। जिसे लोग छिपाना चाहते हैं उस बात को भी न कहे। यह निर्ग्रंथ भगवान की आज्ञा है ॥ २६ ॥

होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।
तुमं तुमं ति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥ २७ ॥

अर्थ—'अरे मूर्ख' इत्यादि निष्ठुर संबोधन करके बोलना होलावाद कहलाता है। 'हे मित्र, अरे यार' इत्यादि संबोधन करना सखीवाद कहलाता है। 'हे काश्यपगोत्रीय' इत्यादि रूप से खुशामद करके बोलना गोत्रवाद कहलाता है। साधु को इस प्रकार भाषण करना योग्य नहीं। साथ ही तुच्छतासूचक 'तू-तू' आदि जो अमनोज्ञ शब्द हों, उन्हें भी साधु बिलकुल न बोले ॥ २७ ॥

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज ते विऊ ॥ २८ ॥

अर्थ—भिक्षु को कभी कुशील ( हीनाचारी ) नहीं होना चाहिए और न कुशील पार्श्वस्थ आदि का संसर्ग करना चाहिए। कुशीलों का संसर्ग करने से संयम को नष्ट करने वाले सुखभोग की इच्छा रूप उपसर्ग होता है। विद्वान् मुनि इस बात को समझे ॥ २८ ॥

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥ २९ ॥

अर्थ—साधु रोगादिजनित शक्ति के अभाव के सिवाय गृहस्थ के घर में न बैठे, गाँव के बालकों का खेल न खेले बाल-क्रीड़ा न करे और मुनि की मर्यादा का उल्लंघन करके न हँसे ॥ २९ ॥

* सत्य, असत्य, मिश्र और असत्यामृषा भाषा के ये चार प्रकार हैं।

# दसवाँ समाधि-अध्ययन

आघं मईमं अणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाणभूतेसु परिव्वएज्जा ॥१॥

अर्थ—मतिमान् भगवान् महावीर ने केवलज्ञान से जानकर सरल अर्थात् यथार्थ वस्तु स्वरूप का निरूपण करने वाले तथा समाधि (मुक्ति) प्रदान करने वाले धर्म का कथन किया है। तुम उस धर्म को सुनो। साधु संयम का पालन करता हुआ इह-पर लोक के सुखों की अभिलाषा न करे। जीवों का आरंभ न करे और समाधि को प्राप्त होकर संयम का पालन करे॥ १॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥ २ ॥

अर्थ—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक् दिशा में जो भी त्रस तथा स्थावर प्राणी रहे हुए हैं, हाथों से पाँवों से तथा समस्त शरीर से उनकी हिंसा न करे, अर्थात् हाथों-पैरों आदि को इस प्रकार संयम में रक्खे कि किसी प्राणी की हिंसा न हो तथा दूसरे की बिना दी वस्तु को ग्रहण न करे॥ २॥

सुयक्खाय धम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ।३॥

अर्थ—श्रुत-चरित्र रूप धर्म का अच्छी तरह प्रतिपादन करने वाला, जिनभाषित धर्म में शंका न करने वाला और प्राणी मात्र को अपने ही समान समझने वाला तपस्वी मुनि निर्दोष आहार से जीवन निर्वाह करता हुआ विचरे। असंयम रूप जीवन का इच्छुक होकर आस्रवों का सेवन न करे और आगे के लिए धन-धान्यादिक का संचय न करे॥ ३॥

अर्थ—गृह में दीपक न देखने वाले अर्थात् गृहवास में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा समझने वाले जो पुरुष संयम अंगीकार करके *पुरुषों के आश्रयणीय बन जाते हैं, वे धीर पुरुष बन्धनों से पूरी तरह मुक्त होकर असंयम-जीवन की इच्छा नहीं करते ॥ ३४ ।

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए ।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥ ३५ ॥

अर्थ—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में गृद्धि न धारण करता मुनि आरंभ में अनासक्त होकर विचरे । इस अध्ययन में जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे सब जिनागम से विरुद्ध हैं, इसी कारण उनका निषेध किया गया है । मुनि उनका सेवन न करे ॥ ३५ ॥

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणी ॥ ३६ ॥
त्ति बेमि ॥

अर्थ—हित-अहित के विवेक से सम्पन्न मुनि क्रोध, मान, माया तथा लोभ का और ऋद्धि रस तथा साता रूप ¹गौरवों का त्याग करके केवल निर्वाण की ही अभिलाषा करे ॥ ३६ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ।

## नौवाँ अध्ययन समाप्त

*यहाँ देवादि की व्यावृत्ति के लिए ही पुरुष शब्द का ग्रहण किया है, स्त्री की व्यावृत्ति के लिए नहीं । ऐसा टीकाकार कहते हैं ।

¹आत्मा के लिए जो भारस्वरूप है अर्थात् जिससे आत्मा बोझिल बनती है, उसे "गौरव" कहते हैं ।

अर्थ—सब जीवों को समभाव से देखने वाला मुनि किसी पर प्रीतिभाव और किसी पर अप्रीतिभाव धारण न करे। परन्तु कितने ही जीव संयम धारण करने के पश्चात् परीषह अथवा उपसर्ग आने पर दीन हो जाते हैं और ( कुंडरीक की तरह ) प्रव्रज्या त्याग कर पतित हो जाते हैं। कितने ही लोग अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा यश-कीर्ति के कामी बन जाते हैं ॥ ७ ॥

अहाकडं चेव निकाममीणे,
नियामचारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले,
परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष आधाकर्मी आहार आदि की अभिलाषा करता है और ऐसा आहार पाने के लिए खूब भ्रमण करता है, और जो संयम में शिथिल होकर संसार की कीचड़ में फँसता है, जो स्त्रियों में गृद्ध होता है और उनके हाव-भाव विलास आदि में आसक्त होता है और स्त्री के लिए परिग्रह का सचय करता है, वह पापकर्म का संचय करता है ॥ ८ ॥

वेराणुगिद्धे[1] णिचयं करेति,
इओ चुए स इहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं,
चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ॥ ९ ॥

अर्थ—जो पुरुष प्राणियों को परिताप देकर उनके साथ वैर करता है, वह पाप-कर्म का संचय करता है वह यहाँ मर कर घोर विषम नरकादि स्थानों में जन्म लेता है। इस कारण मेधावी जन धर्म की समीक्षा ( विचार ) करके, समस्त दुराचारों से पूरी तरह मुक्त होकर संयम में विचरे ॥ ९ ॥

आयं[2] न कुज्जा इह जीवियट्ठी,
असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।

१ पाठान्तर-आरंभसत्तो-आरंभ में आसक्त। २-पाठान्तर छंदं ण कुज्जा-इंद्रियों के विषयों की अभिलाषा न करे।

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु,
चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते,
दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥ ४ ॥

अर्थ—मुनि स्त्रियों के विषय में समस्त इन्द्रियों का संवर करे तथा बाह्य एवं आन्तरिक सभी संगों से सर्वथा मुक्त होकर विचरे। देखो, संसार में समस्त प्राणी पृथक्-पृथक् अर्थात् भिन्न-भिन्न गतियों एवं योनियों में रहकर पीड़ा पा रहे हैं और संताप भोग रहे हैं ॥ ४ ॥

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे,
आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं,
निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥ ५ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त विभिन्न गतियों एवं योनियों के जीवों को दुःख उत्पन्न करने वाला अज्ञानी जीव उन्हीं पापमय गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण करता है। अज्ञानी जीव स्वयं हिंसा करके पापकर्म का उपार्जन करता है, और दूसरों से हिंसा करवा,करके भी पाप-कर्म उपार्जन करता है। 'उ' का अभिप्राय यह है कि अकेली हिंसा से ही नहीं, बल्कि मिथ्याभाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से भी पाप-कर्म का बंध करता है ॥ ५ ॥

आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रते विवेगे,
पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥ ६ ॥

अर्थ—आदीनवृत्ति वाला अर्थात् कंगालों की भाँति दीनता दिखाने वाला भी पाप का उपार्जन करता है, ऐसा जान कर श्री तीर्थंकर देव ने आहारादि में रति न करने रूप एकान्त समाधि का मार्ग बतलाया है। अतएव तत्त्व का ज्ञाता, समाधि में रहने वाला शुद्धचित्त पुरुष प्राणातिपात से विरत रहे ॥ ६ ॥

सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो,
संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥ ७ ॥

अर्थ--स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन न करने वाला, परिग्रह का संचय न करने वाला, मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष से रहित तथा प्राणी मात्र का रक्षक साधु निस्संदेह समाधि को प्राप्त होता है ।। १३ ।।

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू,
तणाइफासं तह सीयफासं ।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा,
सुब्भिं व दुब्भिं व तितिक्खएज्जा ।। १४ ।।

अर्थ—साधु संयम संबंधी अरति (खेद) तथा असंयम संबंधी रति (प्रेम) का त्याग करके तृणस्पर्श को, शीतस्पर्श को, उष्णस्पर्श को, दंशमशक को तथा सुगंध और दुर्गंध को समभाव से सहे ।

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो,
लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए णवि छायएज्जा,
संमिस्सभावं पयहे पयासु ।। १५ ।।

अर्थ--वचनगुप्ति का धारक ( विचारपूर्वक बोलने वाला ) साधु भावसमाधिमान् कहलाता है । वह शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके संयम का अनुष्ठान करे । साधु स्वयं घर न छावे और न दूसरों से छवावे । घर संबंधी कोई भी लीपना पोतना आदि संस्कार न करे तथा स्त्रियों के साथ सम्पर्क न रक्खे ।। १५ ।।

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया,
अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए,
धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ।। १६ ।।

अर्थ—इस लोक में कितने ही लोग अक्रियावादी है । वे कहते है कि आत्मा अक्रिय है, अर्थात् क्रिया का कर्ता नही है; प्रकृति ही सब क्रियाएँ करती है । जब दूसरे उनसे पूछते हैं कि आत्मा यदि अक्रिय है तो उसे बंध-मोक्ष कैसे होता है ? तब वे मोक्ष का भी उपदेश करते हैं । कहते हैं-हमारे दर्शन से ही मोक्ष होता है । इस प्रकार वे पचन-पाचन आदि में आसक्त होकर और विषयों में गृद्ध होकर मोक्ष के कारणभूत श्रुत-चारित्र धर्म को नही जानते हैं ।। १६ ।।

णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं,
हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥ १० ॥

अर्थ—साधु इस संसार में भोगप्रधान जीवन की अभिलाषा करके धन-संचय न करे और पुत्र कलत्र आदि में आसक्तिहीन होकर विचरे। विचारपूर्वक भाषण करे तथा ( शब्दादि में ) आसक्ति को दूर करके हिंसायुक्त कथा न करे ॥ ! ॥

आहाकडं वा ण णिकामएज्जा,
णिकामयंते य ण संथवेज्जा।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे,
चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणे ॥ ११ ॥

अर्थ—पण्डित साधु आधाकर्मी आहार की वाञ्छा न करे, और जो आधाकर्मी आहार की वाञ्छना करते हों उनकी संगति न करे। निर्जरा का स्वरूप जानता हुआ तपस्या से शरीर को कृश करे तथा शरीर के लिए शोक न करता हुआ संयम का पालन करे॥ ११ ॥

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा,
एवं पमोक्खो न मुसंति पासं।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वि,
अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥ १२ ।

अर्थ--साधु एकत्व भावना का चिन्तन करे कि यह जीव अकेला आया, अकेला जाएगा और अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है। इसका कोई सहायक नहीं है। इस प्रकार की एकत्व भावना से मुक्ति-नि.संगता की प्राप्ति होती है, यह लेशमात्र भी मिथ्या नहीं है। यह एकत्व भावना मोक्ष रूप है, सत्य है और श्रेष्ठ है। अतः जो साधु एकत्व भावना से मुक्त होकर क्षमावान् सत्याग्रही और तपस्वी होता है, वही भाव-समाधि वाला होता है ॥ १२ ॥

इत्थिसु या आरय मेहुणाओ,
परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसु विसएसु ताई,
निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥ १३ ॥

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

अर्थ—जैसे अटवी में विचरण करने वाले क्षुद्र मृग ( पशु ) मृत्यु के भय से सिंह से दूर रहते हुए ही विचरते है, उसी प्रकार मेधावान पुरुष धर्मतत्त्व का भलीभांति विचार करके पाप को दूर से ही त्याग दे ।

संबुज्झमाणे उ णरे मतिमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि । २१ ।

अर्थ—धर्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने वाला मतिमान् पुरुप अपनी आत्मा को पाप कर्म से निवृत्त कर ले । हिंसा से उत्पन्न होने वाले कर्म दुःखदायक होते हैं । वैर की परम्परा को उत्पन्न करते हैं और महान् भयजनक होते हैं, ऐसा जान कर हिंसा का त्याग करे ॥ २१ ॥

मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सय न कुज्जा न य कारवेज्जा, करंतमन्नं पि य णाणुजाणे ॥२२॥

अर्थ—मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाला अथवा आत्महित का अनुगमन करने वाला मुनि मृषाभाषण न करे । मृषाभाषण का त्याग मोक्ष स्वरूप और सम्पूर्ण भाव समाधि रूप है । अतएव मृषावाद को तथा अन्य पापों का मुनि सेवन न करे, दूसरे से सेवन न करावे तथा सेवन करने वाले को अच्छा न जाने ॥ २२ ॥

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ।२३॥

अर्थ—शुद्ध निर्दोप आहार की प्राप्ति होने पर साधु उसमें राग-द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे । सरस एवं स्वादिष्ठ आहार में मूछित न हो और वार-वार उसकी कामना न करे । साधु धैर्यवान् बने, परिग्रह से मुक्त रहे, पूजा-प्रतिष्ठा का इच्छुक न होकर शुद्ध संयम का पालन करे ॥ २३ ॥

णिक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विउस्सेज्ज नियाणछिन्ने ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥२४॥
॥ त्तिबेमि ॥

पुढो य छंदा इह माणवा उ,
किरियाकिरियं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं,
पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥ १७ ॥

अर्थ--संसार में मनुष्य भिन्न-भिन्न अभिप्राय वाले हैं। कोई क्रियावादी हैं, कोई अक्रियावादी है। अर्थात् किसी की मान्यता है कि एक मात्र क्रिया ही फलप्रद होती है, ज्ञान निष्फल है तो कोई कहते हैं-क्रिया नहीं, ज्ञान ही अकेला फलदायक होता है। कितने ही अज्ञानी तत्काल जन्मे बालक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके खाते और आनन्द मानते हैं। इस प्रकार संयमहीन जनों का प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है ॥१७॥

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे,
ममाति से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे,
अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ॥ १८ ॥

अर्थ--पाप से नहीं डरने वाला अज्ञानी जीव अपनी आयु का अन्त नहीं जानता। वह सांसारिक पदार्थों में ममता धारण करता है और दिन-रात (आर्त्तध्यान) चिन्ता में डूबा रहता है। अपने को अजर-अमर समझ कर धन में ही मुग्ध बना रहता है ॥ १८ ॥

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं,
जे बंधवा जे य पिया य मित्ता।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं,
अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं ॥ १९ ॥

अर्थ--हे मुमुक्षु! तू धन और पशु आदि सब पदार्थों का परित्याग कर दे। बन्धु-बान्धव, माता-पिता और मित्रजन वास्तव में तेरा कुछ भी उपकार नहीं कर सकते--तेरे कर्म ही तुझे सुखी या दुखी बनाएंगे। फिर भी मनुष्य इनके लिए रोता है और मूढ़ता को प्राप्त होता है। जब वह मर जाता है, तब दूसरे लोग उसके उपार्जित धन को हरण कर लेते हैं ॥ १९ ॥

# ग्यारहवां मार्ग-अध्ययन

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेण मईमता ।
जं मग्गं उज्जु पाविता, ओहं तरति दुत्तरं ॥ १ ॥

अर्थ—श्री जम्बू स्वामी, सुधर्मा स्वामी से भविष्यकाल के प्रश्नकर्ताओं को लक्ष्य में रख कर प्रश्न करते हैं—मतिमान् माहन महावीर ने मोक्ष का कौन-सा मार्ग बतलाया है, जिस सरल मार्ग को प्राप्त करके जीव इस दुस्तर संसार-सागर को पार करता है ।

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्व-दुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू ! तं णो बूहि महामुणी ॥२॥

अर्थ—जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से फिर कहते हैं—हे महामुनि आप उस सर्वोत्कृष्ट, शुद्ध और समस्त दुःखों से मुक्त करने वाले मोक्ष मार्ग को जिस प्रकार जानते हैं, हे भिक्षो ! वह हमें कहिए ॥२॥

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयरं मागं, आइक्खेज्ज ? कहाहि णो ? ॥३॥

अर्थ—जम्बू स्वामी पुनः कहते हैं-यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे मोक्ष का मार्ग पूछें तो उन्हें मैं कोन-सा मार्ग बतलाऊँ; सो आप बतलाइए ॥३॥

जइ वो केइ पुच्छेज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥४॥

अर्थ—श्री जम्बू स्वामी का प्रश्न सुनकर श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—यदि कोई देव या मनुष्य पूछे तो उन्हें तुम यह मार्ग (जो आगे कहा जा रहा है) बतलाना । उस मार्ग का सार-तत्व मुझसे सुनो ॥४॥

अर्थ—साधु गृहत्याग करके जीवन से निरपेक्ष हो जाय, कायिक ममता का परित्याग कर दे, निदान अर्थात् अपने तपश्चरण–संयम आदि के फल की कामना को छेद डाले। न जीवन की इच्छा करें और न मरण की आकांक्षा करे, अर्थात् पूर्ण सम-भाव में स्थित रहे इस प्रकार संसार से मुक्त होकर विचरे ॥ २४ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

## दसवाँ अध्ययन समाप्त

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष इन षट् काय के जीवों को सब युक्तियों से जान कर तथा सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, ऐसा जान कर किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ॥ ९ ॥

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है, अर्थात् यही ज्ञान का सार है कि वह किसी जीव की हिंसा नही करता । अहिंसा का सिद्धान्त इतना ही जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि जिसने यह जान लिया कि किमी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार पा लिया । अहिंसा-सिद्धांत का सार भी इतने में ही समाविष्ट हो जाता है ॥ १०॥

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तस-थावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

अर्थ–ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिर्यक् दिशा में जो कोई भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उन सब की हिंसा से निवृत्ति करनी चाहिए । यही शान्तिमय मोक्ष या मोक्ष का कारण है ॥११॥

पभू दोसे निराकच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो । १२॥

अर्थ–इन्द्रियों को जीतने में समर्थ साधु मिथ्यात्व आदि दोषों को दूर करके मन वचन काय से जीवन पर्यन्त किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध न करे ॥१२॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥१३ ।

अर्थ–आस्रवद्वारों का निरोध करने वाला, महाप्रज्ञावान् एवं परीषह-उपसर्ग आने पर भी क्षुब्ध न होने वाला साधु दिये हुए आहार को ही ग्रहण करे। सदैव एषणा समिति से युक्त रह कर अनेषणीय आहार आदि को ग्रहण न करे ॥१३॥

भूयाइं च समारम्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेणं पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं ववहारिणो ॥५॥

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं–काश्यपगोत्री अर्थात् भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग को मैं क्रमशः कहता हूँ। जैसे व्यापार करने वाले वणिक् समुद्र को पार करते हैं, उसी प्रकार इस मार्ग का अवलम्बन करने वाले साधकों ने अब से पहले संसार को पार किया है ॥५॥

अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥ ६ ॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं–जिस मोक्ष–मार्ग को ग्रहण करके अतीत काल में अनन्त जीव तिरे हैं, वर्त्तमान काल में तिर रहे हैं और आगामी काल में अनन्त जीव तिरेंगे, उस मोक्षमार्ग को भगवान् महावीर से सुन कर मैं तुम्हें कहता हूँ। हे जीवो ! तुम उसे सुनो ॥ ६ ॥

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥ ७ ॥

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जइ ॥ ८ ॥

अर्थ—पृथ्वी जीव हैं और पृथ्वी के आश्रित भी जीव हैं, और उनका पृथक्–पृथक् अस्तित्व है। अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी में एक ही जीव हो सो नहीं, असंख्यात जीव हैं। इसी प्रकार अप्काय और अग्निकाय में भी अलग-अलग जीव हैं। वायुकाल में भी अलग-अलग जीव है। तृण, वृक्ष और जीव आदि वनस्पति भी जीव हैं। वनस्पतिकाय के अनन्त जीव हैं। इनके अतिरिक्त त्रस प्राणियों का एक अलग काय है। इस प्रकार तीर्थंकर देव ने छह काय कहे हैं। इनके अतिरिक्त संसार में अन्य कोई जीवनिकाय या जीव नहीं है। अर्थात् संसार के समस्त जीवों का इन्हीं छह निकायों में समावेश हो जाता है ॥ ७–८ ॥

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया ॥ ९ ॥

जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥

अर्थ—जो जीवहिंसा द्वारा निष्पादित दान की प्रशंसा करते हैं, वे घात किये गये उन प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं और जो उस दान का निषेध करते हैं, वे उन प्राणियों की जीविका का नाश करते हैं ॥ २० ॥

दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण रूप से आरंभ के त्यागी साधु पूर्वोक्त जीवहिंसा-जनित दान के विषय में, 'पुण्य है' अथवा 'पुण्य नहीं है' यह दोनों बातें नहीं कहते । इस प्रकार कर्म के आस्रव का त्याग करके निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सया जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥२२॥

अर्थ—जैसे सब नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान है, उसी प्रकार निर्वाण ( मोक्ष ) सब गतियों में प्रधान है, इसलिए सदैव यतनावान् तथा जितेन्द्रिय मुनि निर्वाण को साधना करे ॥ २२ ॥

वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा ।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥ २३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय आदि रूप संसार सागर के स्रोत में बहते हुए और अपने-अपने कर्मों से कष्ट पाने वाले प्राणियों के लिए तीर्थंकर भगवान् यह मोक्षमार्ग रूप द्वीप बतलाते हैं । तत्त्वज्ञाता पुरुष इसी मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति होना कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे समुद्र में डूबते प्राणी के लिए द्वीप शरणदाता होता है, उसी प्रकार संसार के दुखी जीवों के लिए सम्यग्दर्शन आदि रूप मोक्षमार्ग शरणदाता है। उसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं । २४ ॥

अर्थ—आत्मगुप्त अर्थात् पापों से आत्मा की रक्षा करने वाला, सदैव इन्द्रिय-दमन करने वाला, संसार के प्रवाह को बंद करने वाला और आस्रव से रहित पुरुष ही शुद्ध, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का उपदेश कर सकता है ॥ २४ ॥

अर्थ—जो अन्न-पानी जीवों को पीड़ा पहुँचाकर, साधु को उद्देश्य करके बनाया गया हो, उसे सुश्रमण ग्रहण न करे ॥१४॥

पूइकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥

अर्थ—पूतिकर्म दोष से दूषित ( जिस आहार में आधाकर्मी आहार का एक भी सीथ मिला हो ) आहार का सेवन न करे, यही संयमवान् पुरुषों का धर्म कहा गया है। इसके अतिरिक्त जिस आहार में अशुद्ध होने की शंका हो जाय, साधु को उसका भी सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥१५॥

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ॥१६॥

अर्थ—ग्रामों या नगरों में श्राद्धों ( श्रावकों ) के निवास स्थान होते हैं। उन स्थानों में रहे हुए साधु से कोई श्रावक ( कूप खुदवाने आदि ) आरंभ वाली क्रियाओं के विषय में पूछे कि इस क्रिया में धर्म है या अधर्म है ? तो पाप से दूर रहने वाला और जितेन्द्रिय साधु हिंसा वाले कार्य का अनुमोदन न करे ॥ १६ ॥

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णं ति नो वए।
अहवा णत्थि पुण्णं ति, एवमेयं महब्भयं ॥ १७ ॥

अर्थ—कूप आदि खुदवाने वाला जब यह प्रश्न करे कि मेरी इस क्रिया में पुण्य है या नहीं है, तो इस प्रकार का वचन सुन कर 'पुण्य है' ऐसा न कहे अथवा 'पुण्य नहीं है' ऐसा भी न कहे, क्योंकि ऐसा कहना महान् भय का कारण है ॥ १७ ॥

दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तस-थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति नो वए। १८।

अर्थ—अन्नदान और जलदान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणियों का हनन होता है, उनकी रक्षा के लिए साधु "पुण्य है" ऐसा न कहे ॥१८॥

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायत्ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ।१९॥

अर्थ—जिन जीवों को दान देने के लिए प्राणियों की हिंसा करके वह अन्न-पानी बनाया जाता है, उनके लाभ में अन्तराय न हो, इस कारण साधु 'पुण्य नहीं है' ऐसा भी न कहे ॥ १९ ॥

अर्थ—जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष छिद्र वाली नाव पर चढ़ कर समुद्र से पार होने की इच्छा करता है, किन्तु बीच में ही डूब जाता है; इसी प्रकार कितने ही मिथ्यादृष्टि और अनार्य श्रमण पूर्ण रूप से आस्रव करते हैं। वे आगामी काल में नरक आदि के महान् भय ( दुःख ) को प्राप्त करेंगे ॥ ३०-३१ ॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ३२ ॥

अर्थ—काश्यप भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस धर्म को ग्रहण करके अत्यंत घोर संसार-सागर को पार करना चाहिए और आत्मकल्याण के लिए संयम का साधन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

विरए गामधम्मेहिं, जे केई जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥३३॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर साधु संसार में जो भी प्राणी है, उन सब को अपनी आत्मा के समान समझता हुआ शक्ति के अनुसार संयम में पराक्रम करता हुआ विचरे ॥ ३३ ॥

अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी ॥ ३४ ॥

अर्थ—विवेकवान् मुनि अति मान और माया को ज्ञपरिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग कर मोक्ष का अन्वेषण करे ॥ ३४ ॥

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥३५॥

अर्थ—मुनि क्षमा आदि दस यतिधर्मों की वृद्धि करे तथा पापधर्म ( पाप की कारणभूत हिंसा आदि क्रियाओं ) को त्यागे। तपस्या में पराक्रम करे और क्रोध तथा मान की वृद्धि न होने दे ॥ ३५ ॥

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥ ३६ ॥

अर्थ—जैसे पृथ्वी समस्त प्राणियों का आधार है, उसी प्रकार भूतकाल में जो तीर्थंकर हो चुके हैं, भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे और वर्तमान काल में जो विद्यमान हैं, उन सब के लिए शान्ति कषायों का उपशम ही आधार है ॥ ३६ ॥

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता, अंत एते समाहिए ॥२५॥

अर्थ—पूर्वोक्त शुद्ध धर्मतत्त्व को न जानने वाले, अज्ञानी होने पर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले, 'हम ज्ञानी हैं' ऐसा मानते हुए भावसमाधि से दूर ही रहते २५ ॥

ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्साय जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्नाऽसमाहिया ॥२६॥

अर्थ—अपने को ज्ञानी मानने वाले वे अज्ञानी बीजों को, सचित्त जल को और अपने निज के उद्देश्य से बनाये आहार का उपभोग करके आर्तध्यान करते हैं और भावसमाधि से दूर हैं ॥ २६ ॥

जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥

अर्थ—जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्गा और शिखी नामक जलाश्रित पक्षी मछली पकड़ने का ध्यान करते रहते हैं और उनका ध्यान कलुषतायुक्त तथा अधम है, इसी प्रकार कोई-कोई मिथ्यादृष्टि और अनार्य श्रमण विषयों की प्राप्ति का ही ध्यान किया करते हैं। वे भी कंक पक्षी के समान पापी और अधम हैं ॥ २७-२८ ॥

सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती ।
उम्मग्गगता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥२९॥

अर्थ – इस संसार में कितनेक दुर्बुद्धि वाले लोग अपने-अपने दर्शन में अनुरक्त होकर शुद्ध मार्ग की विराधना करके तथा जिन प्रणीत मार्ग में जाकर दुःख और जन्म-मरण को प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयइ ॥ ३० ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥ ३१ ॥

# बारहवाँ समवसरण-अध्ययन
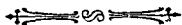
चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरिय अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥ १ ॥

अर्थ—क्रियावाद, अक्रियावाद, तीसरा विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद, यह चार सिद्धान्त है, जिन्हें अन्यतीर्थिक पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं।

जीव आदि पदार्थों में एकान्त अस्तित्व स्वीकार करने वाले क्रियावादी हैं। जीव आदि पदार्थों का एकान्त अभाव मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। विनय करने से ही स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति मानने वाले वैनयिक हैं और अज्ञान को ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी स्वीकार करने वाले अज्ञानवादी कहलाते हैं।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों के ३२ भेद हैं। सब मिल कर ३६३ पाखंडमत होते हैं। सूत्रकार स्वयं आगे इन मतों पर प्रकाश डालेंगे, पश्चादनुपूर्वी से पहले अज्ञानवाद को दिखलाते हैं।।१॥

अण्णाणिया ता कुसला वि संता,
असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना।
अकोविया आहु अकोविएहिं,
अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥ २ ॥

अर्थ—अज्ञानवादी अपने को कुशल समझते हुए भी संशय से रहित नहीं हैं, अतएव वे मिथ्यावादी हैं। वे स्वयं तत्त्व से अनभिज्ञ हैं और अनभिज्ञ जनों को उपदेश देते हैं। वे विचार किये बिना ही मिथ्या भाषण करते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने आपको ज्ञानी मानना और दूसरों को उपदेश देना, मगर अज्ञान को ही कल्याण का कारण एवं श्रेष्ठ समझना तथा समझाना, यह सब असंबद्ध भाषण है। ॥ २ ॥

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहु त्ति उदाहरंता।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भावं विणइंसु णाम ॥ ३ ॥

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥ ३७ ॥

अर्थ—जैसे सुमेरु पर्वत घोर आंधी से भी कंपित नहीं होता, उसी प्रकार व्रत-प्रतिपन्न साधु सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग आने पर भी संयम से पतित न हो ॥ ३७ ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं ॥३८॥ त्तिबेमि ॥

अर्थ—संवर से सम्पन्न, महाप्रज्ञावान् तथा धीर साधु दूसरे द्वारा दिये हुए आहार को ही ग्रहण करे तथा कषायरहित होकर मृत्यु पर्यन्त संयम में स्थिर रहे यह केवली भगवान् का मत है ॥ ३८ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ॥

## ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त

अर्थ—पदार्थों के सत्य स्वरूप को न समझने वाले अक्रियावादी विविध प्रकार के कुशास्त्रों की प्ररूपणा करते है, जिसका अवलंबन करके बहुत-से लोग अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं ॥ ५ ॥

णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा ।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए ॥७॥

अर्थ— बौद्धमत के अन्तर्गत एक *शून्यवादी सम्प्रदाय* है। उसका मत है कि-सूर्य न उगता है और न अस्त होता है। चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है। पानी वहता नही, पवन चलता नही। सपूर्ण विश्व मिथ्या और शून्य रूप है ॥ ७ ॥

जहा हि अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते ।
संतं पि एवमकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना ॥ ८ ॥

अर्थ—जैसे अंधा मनुष्य दीपक साथ में होने पर भी नेत्रहीन होने के कारण घट पट आदि पदार्थों के रूप को नहीं देख पाता, उसी प्रकार प्रज्ञाविहीन यह अक्रियावादी विद्यमान पदार्थों को भी नहीं देखते है ॥ ८ ॥

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च निमित्तदेहं च उप्पाइयं च ।
अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥ ९ ॥

अर्थ—(१) संवत्सर ( ज्योतिष शास्त्र ), (२) स्वप्नशास्त्र ( शुभ-अशुभ स्वप्नों का फल प्रतिपादन करने वाला श्रुत ) (३) लक्षण शास्त्र ( शरीर के स्वस्तिक आदि चिह्नो का फल बताने वाला ), (४) निमित्त (शकुन)शास्त्र, (५) शरीरशास्त्र ( शरीर के तिल मस आदि का फल बताने वाला ), (६) उत्पात ( आकाश में शुभाशुभ बतलाने वाला ), [ (७) भूमिकम्प और (८) अंगस्फुरण; ] इन आठ अंगों वाले अष्टांग शास्त्रों का अध्ययन करके बहुत से लोग भविष्य में होने वाली बातों को जानते है, पर शून्यवादी तो इतना भी नही जानते ! शून्यवाद को स्वीकार करने पर भूत-भविष्यत् का यह ज्ञान नही होना चाहिए ! ॥ ९ ॥

केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं ।
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥१०॥

अर्थ—कोई-कोई निमित्त सत्य होते है तो किसी-किसी निमित्तवेत्ता का ज्ञान विपरीत भी होता है। ऐसा देख कर सच्ची विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या का त्याग करने का ही उपदेश देते है ॥१०॥

अर्थ—सत्य को असत्य मानने वाले और जो अच्छा नहीं है उसे अच्छा कहने वाले यह जो अनेक प्रकार के अर्थात् बत्तीस तरह के वैनयिक हैं, ये पूछने पर केवल विनय को ही मोक्ष का कारण बतलाते है ॥ ३ ॥

**अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं ।**
**लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी ॥४॥**

अर्थ—विनयवादी यथार्थ वस्तुस्वरूप को न समझ कर कहते हैं कि-हमें तो इसी प्रकार अर्थात् विनय करने से ही अपने प्रयोजन की सिद्धि जान पड़ती है । अक्रियवादी कर्मबंध की आशंका करने वाले हैं । वे भूत और भविष्यत् के द्वारा वर्तमान काल का निषेध करके क्रिया का निषेध करते हैं ।

अभिप्राय यह है कि—लोकायतिक तथा शाक्य आदि अनात्मवादी अक्रियावादी हैं । इनके मत में आत्मा का ही अस्तित्व नहीं है; अतएव क्रिया और क्रियाजनित कर्मबंध भी नही है । क्षणिकवाद स्वीकार करने वाले शाक्यमत के अनुसार अतीत और अनागत काल के साथ वर्तमान का कुछ भी संबंध नहीं है, इस कारण कोई क्रिया नहीं हो सकती और जब क्रिया नहीं तो कर्मबंध भी नहीं हो सकता । इस प्रकार यह अक्रियावादी कर्मबंध के भय से क्रिया का ही निषेध करते है ॥ ४ ॥

**सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए,**
**से मुम्मुई होई अणाणुवाई ।**
**इमं दुपक्खं इममेगपक्खं,**
**आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥ ५ ॥**

अर्थ—यह अक्रियावादी नास्तिक जिस बात को स्वीकार करते हैं,उसी का निषेध करने लगते है और इस प्रकार मिश्र पक्ष को अर्थात् सत्ता तथा असत्ता दोनों से मिश्रित विरोधी पक्ष को स्वीकार करते हैं । वे प्रश्न करने वाले को उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण मौन धारण करते है; अर्थात् स्याद्वादी के समक्ष उन्हें कोई उत्तर नहीं सूझता । फिर भी वे कहते हैं कि हमारा मत प्रतिपक्ष से रहित है और दूसरों का मत प्रतिपक्ष से सहित है । वे छल का प्रयोग करके अपने मत को सिद्ध करते हैं और परमत का खंडन करते है ॥ ५ ॥

**ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियवाई ।**
**जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥**

अर्थ-जो राक्षस(व्यन्तर देव) हैं,जो यमलोक में रहने वाले(भवन पति)हैं, जो सुर (वैमानिक) हैं और जो गन्धर्व नामक व्यन्तरदेव हैं, तथा (काय शब्द से) पृथ्वी काय आदि छहों काय हैं, जो आकाशगामी अर्थात् विद्याधर तथा पक्षी आदि हैं और भूमिचर हैं, वे सभी प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार संसार में भ्रमण करते हैं ॥१३

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओ वि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥

अर्थ—जिस संसार को स्वयंभूरमण समुद्र के समान अपार कहा गया है और जिस संसार में विषयों तथा स्त्रियों में गृद्ध जीव स्थावर रूप में भी और त्रस रूप में भी परिभ्रमण कर रहे हैं उस गहन संसार को तुम दुस्तर समझो ॥ १४ ॥

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥

अर्थ—अज्ञानी जीव सावद्य कर्म करने के कारण पूर्वकृत कर्मों का क्षय नहीं कर सकते और धीर पुरुष अकर्म से अर्थात् आस्रव का निरोध करके कर्मों का क्षय करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष लोभ (परिग्रह) और मद (अभिमान) से दूर रहते हैं। वे सन्तोषशील होकर पाप कर्म नहीं करते ॥ १५ ॥

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया,बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥

अर्थ—जो महापुरुष लोभ के त्यागी, संतोषी और पापकर्म से निवृत्त होते हैं, वे पंचास्तिकायमय-लोक के अथवा प्राणीलोक के भूत, वर्त्तमान और भविष्य को यथावस्थित जानते हैं। वे अन्य जीवों को संसार–सागर से पार करने के लिए नेता बनते हैं। उनका कोई-दूसरा नेता नहीं होता। ऐसे ज्ञानी पुरुष ही संसार का अन्त करने वाले होते हैं ॥ १६ ॥

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताहिसंकाइ दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य हवंति एगे ॥१७॥

अर्थः—वे वीतराग ज्ञानी पुरुष पाप का तिरस्कार करते हुए जीवों की हिंसा के भय से न स्वयं पाप करते हैं और न करवाते हैं। वे धीर पुरुष सदैव यतनावान् होते हैं और सदैव संयम का पालन करते हैं। परन्तु कितने ही अन्यतीर्थी ज्ञान मात्र से ही धीर बनते हैं, क्रिया करने से कतराते हैं ॥१७॥

अभिप्राय यह है कि—अक्रियावादी यह आक्षेप करते हैं कि कोई श्रुत सत्य होता है तो कोई मिथ्या भी होता है, अतएव अविश्वसनीय होने के कारण श्रुतमात्र का त्याग कर देना ही उचित है। किन्तु उनका यह तर्क ठीक नहीं है। क्षयोपशम की न्यूनता आदि किसी कारण से किसी के ज्ञान में अन्तर पड़ जाने से सभी का ज्ञान मिथ्या नहीं माना जा सकता। मृगतृष्णा में जल का प्रत्यक्ष यदि भ्रान्त है तो सर्वत्र प्रत्यक्ष को भ्रान्त मान लेना उचित नहीं है। जो श्रुत भ्रान्त है वह श्रुत नहीं, श्रुताभास है। श्रुत और श्रुताभास एक नहीं है। आन्तरिक सत्य जिज्ञासा हो तो तर्क आदि से दोनों का अन्तर समझा जा सकता है। अतएव अक्रियावादियों ने ज्ञान के परित्याग का जो निष्कर्ष निकाला है, वह कल्याणकारी नहीं है।

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं,
तहा तहा (गया) समणा माहणा य।
सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं,
आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥ ११ ॥

अर्थ – यहां क्रियावादियों का मत बतलाया गया है। क्रियावादी ज्ञान का निषेध करके केवल क्रिया से ही स्वर्ग–मोक्ष मानते हैं। शास्त्रकार कहते हैं–कोई–कोई शाक्य आदि श्रमण तथा ब्राह्मण अपने–अपने अभिप्राय के अनुसार लोक का स्वरूप जान कर कहते हैं कि क्रिया के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपनी ही क्रिया से होता है, अन्य की क्रिया से नहीं होता। किन्तु तीर्थंकर भगवान् का कथन है कि मोक्ष ज्ञान और क्रिया–दोनों से होता है; अकेली क्रिया से मोक्ष–प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव! संपगाढा ॥१२॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् तथा गणधर आदि इस लोक में चक्षु के समान हैं और लोक के नायक हैं, अर्थात् जगत् के जीवों को सन्मार्ग पर ले जाने वाले हैं, प्रजा को मोक्ष के मार्ग का उपदेश देते हैं। उनका उपदेश है कि हे मानव! ज्यों–ज्यों मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, त्यों–त्यों संसार शाश्वत होता जाता है, अर्थात् भव–भ्रमण बढ़ता जाता है, जिसमें संसारी जीव निवास करते हैं ॥ १२ ॥

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढो सिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१३॥

अर्थ—साधु मनोज्ञ शब्दों और रूपों में अनुराग न करता हुआ तथा अमनोज्ञ गंधों और रसों में द्वेष न धारण करता हुआ न जीवन की इच्छा करे और न मरने की कामना करे। किन्तु संयम का रक्षक वन कर तथा छल-कपट से रहित होता हुआ विचरे। तात्पर्य यह है कि पाँचों इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में समभाव धारण करके तथा जीवित एवं मरण में भी मध्यस्थ भाव धारण करके निष्कपट भाव से साधु को अपने संयम का पालन करना चाहिए ॥ २२ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ॥

## बारहवाँ अध्ययन समाप्त

डहरे य पाणे, वुड्ढे य पाणे ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

अर्थ--इस अखिल संसार में छोटे शरीर वाले कुन्थवा आदि प्राणी भी हैं और बड़े शरीर वाले हाथी आदि प्राणी भी हैं। उन सब को पण्डित पुरुष अपनी आत्मा के समान समझता है और इस लोक को महान (अनादिनिधन अथवा अनन्त जीवों से व्याप्त) समझता है। ऐसा समझ कर ज्ञानी (संसार में सुख न जानने वाला) पुरुष संयमपरायण मुनि के निकट दीक्षित होता है या विचरता है ॥ १८ ॥

जे आयओ परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं।
तं जोइभूतं च सया वसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥१९॥

अर्थ—जो भिक्षु अपने आपसे अथवा दूसरे से धर्म के तत्त्व को जान कर उपदेश करता है, वही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ होता है। जो भली-भांति सोच-विचार कर धर्मतत्त्व को प्रकाशित करता है, उसी ज्योतिर्मय मुनि के समीप वास करना चाहिए।

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च, जाइं च मरणं च जणोववायं ॥२०॥
अहो वि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवायं ॥२१॥

अर्थ—जो आत्मा को जानता है और जो लोक को भी जानता है, जो गति को जानता है और अनागति को जानता है, जो मोक्ष को जानता है और संसार के स्वरूप को जानता है, जो जन्म, मरण तथा जीवों के नाना गतियों एवं योनियों में उत्पन्न होने को जानता है; जो नरक में होने वाली प्राणियों की पीड़ा को जानता है, जो आस्रव और संवर को जानता है, जो दुःख को और निर्जरा को जानता है, वही पुरुष क्रियावाद का उपदेश करने का अधिकारी है। तात्पर्य यह है कि आत्मा तथा लोक आदि पदार्थों को ठीक-ठीक जाने और माने बिना क्रियावाद का ठीक-ठीक उपदेश नहीं दिया जा सकता ॥ २०-२१ ॥

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे।
णो जीवितं णो मरणाभिकंखी, आयाणगुत्ते-वलया विमुक्के ॥२२॥

॥ त्ति-बेमि ॥

अपने आपको मोक्ष से वंचित करते हैं। वे साधु नहीं हैं, फिर भी अपने को साधु मानते हैं। ऐसे मायाचारी अनन्त जन्म-मरणों को प्राप्त करेंगे ॥४॥

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधेव से दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पावकम्मी ॥५॥

अर्थ—जो क्रोधी होता है और जिसमें जो दोष हो उसे कह देता है, (अर्थात् काने को काना, लँगड़े को लँगड़ा आदि कहता है) जो शान्त हुए कलह को नये सिरे से चेताता है, वह पाप-कर्म करने वाला पुरुष सदैव कलह में पड़ा रहता है तथा पगडंडी के मार्ग से जाने वाले अंधे के समान दुःखों का पात्र बनता है ॥ ५ ॥

जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
ओवायकारी य हरीमणे य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

अर्थ—जो साधु कलहकारी होता है और अन्यायभाषी होता ( न्यायविरुद्ध बोलता ) है, वह समभावी नहीं होता। वह कलह रहित नहीं होता अर्थात् उसे शांति की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जो साधु गुरु की आज्ञा का पालन करता है, पापकर्म करने में लज्जित होता है तथा जीवादि तत्त्वों पर निश्चल श्रद्धा वाला होता है, वह अमायी होता है ॥ ६ ॥

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥७॥

अर्थ—भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनुशासित होने पर भी जो चित्त को प्रसन्न रखता है, अर्थात् क्रुद्ध न होकर पुनः संयम में प्रवृत्त हो जाता है, वही साधु विनय आदि गुणों से सम्पन्न तथा सूक्ष्म भाव को देखने वाला है, वही पुरुषार्थ का साधक, जाति से सम्पन्न और संयम का पालक है। ऐसा साधु वीतराग पुरुष के समान है ॥७॥

जे आवि अप्पं वसुमं ति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता, अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥ ८ ॥

अर्थ—जो अपने आपको बड़ा संयमी और ज्ञानी मान कर परमार्थ ( गौरव ) की परीक्षा किये बिना ही अभिमान करता है, अथवा मैं तपस्वी हूँ, ऐसा मान कर अन्य मनुष्यों को बिंबभूत ( छाया के समान निःसत्व ) समझता है, वह परमार्थ से अनभिज्ञ है ॥ ८ ॥

# तेरहवाँ याथातथ्य अध्ययन

आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं ।
सओ अ धम्मं असओ असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥१॥

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—अब मैं पुनः सम्यक् तत्त्व का निरूपण करूँगा। ज्ञान के प्रकारों को, पुरुषों के आचार-अनाचार को, संत पुरुषों के शील को और असंतों के कुशील को तथा शान्ति (निर्वाण) को और अशान्ति (बंध) को प्रकट करूँगा॥ १ ॥

अहो अ राओ अ समुट्ठिएहिं, तहागएहिं पडिलब्भ धम्मं ।
समाहिमाघातमजोसयंता, सत्थारमेवं फरुसं वयंति ॥ २ ॥

अर्थ—रात-दिन उत्तम अनुष्ठान में प्रवृत्ति करने वाले तथागतों अर्थात् तीर्थंकरों से धर्म को प्राप्त करके भी, उनके द्वारा प्ररूपित समाधि के मार्ग का सेवन न करते हुए जमालि आदि निह्नव उलटे अपने को शिक्षा देने वाले (तीर्थंकर) के लिए ही कठोर वचन बोलते हैं॥ २ ॥

विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा ॥३॥

अर्थ—वे जमालि आदि निह्नव भलीभाँति शोधित जिनमार्ग को परम्परागत व्याख्या से विपरीत व्याख्या करते हैं एवं स्वच्छंद भाव से शास्त्रों का शुद्ध मार्ग से विरुद्ध अर्थ करते हैं। किन्तु जो पुरुष सर्वज्ञ वीतराग के ज्ञान में शंका करके मृषा भाषण करता है, वह उत्तम गुणों का पात्र नहीं होता है॥३॥

जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता
असाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एसंति अणंतघायं ॥४।

अर्थ—जब कोई पूछता है कि तुमने किससे शिक्षा पाई है, तब जो अपने गुरु का नाम छिपाते हैं और किसी दूसरे बड़े आचार्य का नाम बतलाते हैं, वे वास्तव में

जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी, पडिहाणवं, होइ विसारए य।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा ॥१३॥

अर्थ–जो भिक्षु भाषा के गुणों और दोषों को जानता है, प्रिय वचन बोलता है, प्रतिभावान् और विशारद है, अर्थात् अनेक प्रकार से तत्त्व की प्ररूपणा करने में समर्थ है, जिसकी बुद्धि ने तत्त्व में प्रवेश पा लिया है और जिसका हृदय धर्म की वासना से युक्त है, वही सच्चा साधु है। परन्तु वह अपने इन्हीं गुणों का गर्व करके यदि दूसरों का तिरस्कार करता है तो वह साधु विवेकी नहीं है ॥१३॥

एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१४॥

अर्थ—जो साधु प्रज्ञावान् होकर अपनी प्रज्ञा का अभिमान करता है, अथवा जो लाभ के अभिमान से उन्मत्त होकर दूसरे की निन्दा करता है, अर्थात् 'देखो, मुझे ऐसा उत्तम भोजन और वस्त्र मिलता है, दूसरे तो कौवे के समान पेट पालते हैं' इस प्रकार अभिमान करके दूसरों को तुच्छ समझता है, वह बालबुद्धि साधु समाधि प्राप्त नहीं करता ॥ १४ ॥

पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥ १५ ॥

अर्थ—साधु बुद्धि के मद को, तपस्या के मद को, गोत्र के मद को और चौथे आजीविका के मद को दूर करदे। जो ऐसा करता है, वही पण्डित है और वही महान् से महान् है ॥ १५ ॥

एयाइं मयाइं विगिंच धीरा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
से सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥ १६ ॥

अर्थ—धीर पुरुष पूर्वोक्त गोत्र आदि के मदों का त्याग करे। श्रुत और चारित्र रूप धर्म में स्थित पुरुष इन मदों का सेवन नहीं करते। अतएव वे महर्षि सभी प्रकार के गोत्रों से रहित उच्च एवं गोत्र रहित गति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१ ॥

एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोणपयंसि गोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

अर्थ--इस प्रकार अहंकार करने वाला साधु एकान्त रूप से मोह में पड़ कर संसार में भ्रमण करता है। यह समस्त आगमों के आधार भूत सर्वज्ञ भगवान् के मार्ग से बाहर है। जो मान-सम्मान पाकर अभिमान करता है और संयम ग्रहण करके भी ज्ञान आदि का मद करता है, वह वास्तव में परमार्थ से अनजान है ॥ ९ ॥

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्तेण जे थब्भति[१] माणबद्धे ॥१०॥

अर्थ—चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुआ हो, उग्र कुल की सन्तान हो अथवा लेच्छवि क्षत्रिय हो, जो दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् पर का दिया हुआ ही भोजन करता है और जो अपने ऊंचे गोत्र-कुल, वंश, जाति या वर्ण का अभिमान नहीं करता, वही वीतराग के मार्ग का अनुयायी है ॥१०॥

न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए ॥११॥

अर्थ—जाति और कुल का अभिमान करने वाले को उसकी जाति अथवा उसका कुल शरण भूत नहीं हो सकता। सम्यक् प्रकार से सेवन किये हुए ज्ञान और सदाचार के सिवाय अन्य (जाति, कुल आदि) कोई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् दुःख से बचाने की शक्ति जाति या कुल में नहीं, सद्विद्या और सच्चारित्र में ही है। जो मुनि दीक्षित होकर के भी गृहस्थ के कर्म का सेवन करता है, अर्थात् जाति आदि का अहंकार करता है वह संसार को पार नहीं कर सकता ॥११॥

णिक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोअकामी ।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१२॥

अर्थ--जो पुरुष अकिंचन है, अर्थात् धन आदि कुछ भी नहीं रखता, जो भिक्षा लेकर निर्वाह करता है और रूखा-सूखा खाकर जीवित रहता है फिर भी यदि वह अपने गुणों का या जाति कुल आदि का अभिमान करता है और अपनी प्रशंसा की अभिलाषा करता है तो उसके गुण आजीविका के उपाय मात्र ही समझने चाहिए। वह परमार्थ को न समझता हुआ बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है ॥१२॥

---

१ पाठान्तर-थंभमि०

दूर करे 'उन्हें' यह समझावे कि इस लोक और परलोक में भय उत्पन्न करने वाले स्त्री आदि के मनोहर रूपों में आसक्त जीव नाश को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बुद्धिमान् साधु श्रोताओं के अभिप्राय को समझ कर त्रस और स्थावर जीवों के लिए हितकारी धर्म का उपदेश करे ॥२१॥

**न पूयणं चेव सिलोगकामी, पियमप्पियं कस्सइ णो करिज्जा ।**
**सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥**

अर्थ—धर्मोपदेश के बदले में साधु अपनी पूजा और स्तुति की कामना न करे। किसी का प्रिय और किसी का अप्रिय न करे। सब प्रकार के अनर्थों को बचाता हुआ साधु आकुलता से तथा कषाय से रहित होकर धर्म का उपदेश करे ॥२२॥

**आहत्तहीयं समुपेहमाणे, सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।**
**णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, परिव्वएज्जा वलया विमुक्के**
**त्ति बेमि ॥२३॥**

अर्थ—धर्म के यथार्थ स्वरूप को देखता हुआ साधु त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का परित्याग करे। जीवन और मरण की कामना न करे—दोनों में समभाव धारण करे तथा माया से विमुक्त होकर विचरे ऐसा मैं कहता हूँ ॥२३॥

## तेरहवाँ अध्ययन समाप्त

अर्थ—शरीर के संस्कार का त्यागी अथवा प्रशस्त लेश्या वाला तथा धर्म के स्वरूप को जानने वाला साधु ग्राम या नगर में प्रवेश करके एषणा और अनेषणा अर्थात् आहार की शुद्धि और अशुद्धि को जानता हुआ, आहार और पानी में अनासक्त रहता हुआ विचरे ॥ १७ ॥

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तह एगचारी ।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

अर्थ—साधु संयम में अरति और असंयम में रति का त्याग करे । चाहे वह बहुत साधुओं के साथ रहे या एकाकी रहे, जो संयम से विरुद्ध न हो, वही कहे, अर्थात् निरवद्य धर्म का उपदेश करे । साधु को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि जीव अकेला ही जाता है, और अकेला ही आता है । अथवा साधु को ऐसा उपदेश करना चाहिए कि जीव अकेला ही जाता-आता है ॥ १८ ॥

सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

अर्थ—धीर पुरुष धर्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से स्वयं जानकर या गुरु आदि से श्रवण कर जीवों के हितकारी धर्म का उपदेश करे । जो कर्म गर्हित हैं और जो मान-बड़ाई लाभ आदि के उद्देश्य से किये जाते हैं, उनका आचरण न करे ॥१९॥

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं, खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइयारं वघाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

अर्थ—अपने दर्शन के प्रति दुराग्रहशील मिथ्या दृष्टि जन के अभिप्राय को जाने बिना उपदेश दिया जाय तो वह उस उपदेश पर श्रद्धा न करता हुआ क्रोधित भी हो सकता है और उपदेश देन वाले को मार भी सकता है । अतएव साधु को अनुमान से दूसरे के अभिाय को समझ कर ही उपदेश देना चाहिए ॥२०॥

कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे विणइज्ज उ सव्वओ आयभावं ।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाया तसथावरेहिं ॥२१॥

अर्थ—बुद्धिमान् साधु श्रोताओं के कर्म और अभिप्राय (मन्तव्य एवं विचार) को जानकर उन्हें धर्म का उपदेश दे तथा सब प्रकार से उनके मिथ्यात्व आदि को

अर्थ—गुरु के निकट निवास न करने वाला संसार का अन्त नहीं कर सकता, ऐसा जान कर बुद्धिमान् मुनि को सदा गुरु के निकट ही रहना चाहिए। और समाधि की कामना करनी चाहिए। मुमुक्षु के योग्य अनुष्ठान को अंगीकार करके, उसे गच्छ से बाहर नहीं निकलना चाहिए ॥४॥

जे ठाणओ य सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥५॥

अर्थ—गुरुकुल में निवास करने वाला साधु स्थान, शयन, आसन और पराक्रम तथा गमन, आगमन एवं तपस्या आदि के विषय में उत्तम साधु के योग्य प्रवृत्ति करता है, अर्थात् गुरु की सेवा में रहने से साधु की यह सब क्रियाएं शास्त्रानुकूल होती हैं। ऐसा साधु समितियों और गुप्तियों में निष्णात हो जाता है और दूसरों को भी इनका यथार्थ उपदेश करता है ॥५॥

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छतिन्ने ॥६॥

अर्थ—समिति-गुप्ति में निष्णात साधु श्रोत्रसुखद अथवा भयानक शब्दों को सुनकर उनमें राग-द्वेष धारण न करे। भिक्षु निद्रा रूप प्रमाद का सेवन न करे और किसी विषय में शंका होने पर किसी भी उपाय से उसका निवारण करके निःशंक हो जाय ॥६॥

डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए उ, रातिणिएणावि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से ॥७॥

अर्थ—सदैव गुरु के समीप रहने वाले साधु को, यदि कोई उम्र और दीक्षा पर्याय में छोटा, बड़ा, रत्नाधिक अथवा समान उम्र वाला साधु भूल होने पर सुधारने के लिए कहे और वह साधु उस भूल को स्वीकार न करे तो ऐसा करने वाला संसार का अन्तकर्त्ता नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि गुरु के परिवार में रहते हुए कोई भूल प्रमादवश हो जाय तो उसे स्वीकार करना चाहिए, चाहे उसे बतलाने वाला साधु छोटा हो या बड़ा हो अथवा समवयस्क हो ॥७॥

विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥

# चौदहवाँ ग्रन्थ अध्ययन

गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥१॥

अर्थ–इस जिन प्रवचन में पण्डित पुरुष धन-धान्य आदि बाह्य और क्रोध आदि आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके शुद्ध क्रिया रूप शील को सीखता हुआ, दीक्षा अंगीकार करके ब्रह्मचर्य का पालन करे। आचार्य तथा गुरु आदि की आज्ञा का पालन करता हुआ निपुण पुरुष विनय करे और संयम-पालन में तनिक भी प्रमाद न करे ॥१॥

जहा दियापोयमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणा ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं ढंकाइ अव्वत्तगयं हरेज्जा ॥ २ ॥

अर्थ–जो साधु गुरु के उपदेश के बिना ही स्वच्छंद होकर गच्छ से बाहर निकल जाता है और एकाकी विचरण करता है उसे जिन दोषों की प्राप्ति होती है, यह दृष्टान्त पूर्वक बतलाते हैं।

जिसे अभी तक पंख नहीं आये हैं, ऐसा पक्षी का बच्चा अपने घोंसले से बाहर उड़ने की इच्छा करता है परन्तु पंख न होने के कारण उड नहीं सकता। वह ढंक आदि मांसाहारी पक्षियों के द्वारा मारा जाता है।

इसी प्रकार अपुष्ट धर्म अर्थात् नवदीक्षित, अगीतार्थ साधु को गच्छ से बाहर निकला हुआ देख कर अनेक पाखंडी उसे उसी प्रकार हर लेते हैं जैसे बिना पांखों के पक्षी के बच्चे को ढंक आदि पक्षी हर लेते हैं ॥२-३॥

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिंति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥४॥

फैल जाने पर वह मार्ग को जान लेता है (उसी प्रकार जिनवाणी के ज्ञान से सन्मार्ग का बोध हो जाता है ॥ १२ ॥

एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे ।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥१३॥

अर्थ—इसी प्रकार अपुष्ट धर्मा अर्थात् नवदीक्षित अगीतार्थ साधु शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण धर्म को नही जानता है; किन्तु बाद में जिन भगवान् के वचनों का अभ्यास करके धर्म में कुशल हो जाता है, जैसे नेत्रवान् मनुष्य सूर्य का उदय होने पर चक्षु से पदार्थों को देखने लगता है ॥१३॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा ।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥१४॥

अर्थ—ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्छी दिशा में जो त्रस और स्थावर प्राणी है, उन सब में यतनावान् होकर और उन पर किंचित् भी द्वेष न धारण करता हुआ संयम में दृढ होकर विचरे ॥ १४ ॥

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखाइमं केवलियं समाहिं ॥ १५ ॥

अर्थ:—जीवों में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करने वाले आचार्य से उचित अवसर देख कर साधु सूत्र एवं अर्थ की पृच्छा करे और आगम का उपदेश करने वाले आचार्य का सत्कार-सन्मान करे। आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता हुआ केवलि-कथित समाधि को अपने अन्तःकरण में धारण करे ॥१५॥

अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जयेयंति पमायसंगं ॥१६॥

अर्थ—गुरु के उपदेश में भलीभांति स्थित-होकर मन वचन काय से प्राणियों की रक्षा करे, क्योंकि समिति और गुप्ति का पालन करने से ही तीर्थंकरों ने शान्ति की प्राप्ति कही है। उन त्रिलोकदर्शी पुरुषों का यह कथन है कि साधु को फिर कभी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए ॥१६॥

निसम्म से भिक्खु समीहियट्ठं, पडिभाणवं होई विसारए य ।
आयाण अट्ठी वोदाणमोणं, उवेच सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥१७॥

अर्थ—साधु को कोई मिथ्यादृष्टि, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ अर्हत्प्रणीत आगम के अनुसार शिक्षा देवे, अवस्था में छोटा या बड़ा आदमी संयम की प्रेरणा करे अथवा दासी की भी दासी (पानी भरने वाली दासी) धर्म कार्य के उपदेश करे अथवा कोई यह कहे कि ऐसा काम तो गृहस्थ भी नहीं करते और ऐसा कहकर संयम को प्रेरणा करे तो साधु उस पर क्रोधित न हो ॥८॥

ण तेसु कुज्भे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ॥९॥

अर्थ-पूर्वोक्त शिक्षा देने वालों पर साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए, उन्हें लाठी आदि मार कर व्यथा नही पहुंचाना चाहिए और कोई कठोर वचन नही कहना चाहिए जैसा तुम कहते हो, अब मैं वैसा ही करूँगा इस प्रकार कहकर उनकी शिक्षा को स्वीकार करना चाहिए और समझना कि यह शिक्षा मेरे लिए श्रेयस्कर है। उस शिक्षा के पालन में प्रमाद नही करना चाहिए ॥ ९ ॥

वर्णसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तेणेव (तेणावि) मज्भं इणमेव सेयं, जं मे बुहा समणुसासयंति ॥१०॥

अर्थ-जैसे गहन वन में पर्यटन करने वाले मार्ग से अनभिज्ञ पुरुष को, मार्ग जानने वाला प्रजा हितकर मार्ग प्रदर्शित करता है, तो वह उसे अपने लिए हितकारी समझता है, उसी प्रकार साधु को यह जानकार मुझे जो संयम को शिक्षा देते है, वह मेरे लिए कल्याणकारी है ऐसा समझना चाहिए ॥ १० ॥

अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसमुत्ता ।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

अर्थ-जैसे वह मार्ग भूला हुआ पुरुष, मार्ग बतलाने वाले का उपकार मानकर उसका विशेष रूप से सत्कार करता है, इसी प्रकार सन्मार्ग बतलाने वाला साधु भी उपकार मानकर सत्कार करे और उसके उपदेश को हृदय में धारण करे। ऐसा श्री महावीर स्वामी ने कहा है ॥११॥

णेता जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे ।
से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि ॥१२॥

अर्थ-जैसे मार्ग को जानने वाला नेत्र सहित होने पर भी अंधकारमयी रात्रि में देख न सकने के कारण मार्ग नही जान पाता, किन्तु सूर्य का उदय होने पर प्रकाश

# पन्द्रहवां आदान-अध्ययन

जमतीतं पडुप्पन्नं, आगमिस्सं च णायओ ।
सव्वं मन्नति तं ताई, दंसणावरणंतए ॥ १ ॥

अर्थ:—जो पदार्थ भूतकाल में हो चुके है, जो वर्त्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सब को दर्शनावरण (तथा ज्ञानावरण, मोहनीय और और अन्तराय) कर्म का अन्त करने वाला, धर्म का नेता और प्राणीमात्र का रक्षक पुरुष परिपूर्ण रूप से जानता है ॥१॥

अंतए वितिगिच्छाए, जे जाणति अणेलिसं ।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं । २ ॥

अर्थ:-जो पुरुष त्रिकालदर्शी होने के कारण संशय का अन्त करने वाला है, वही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का धारक है । जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर सर्वोत्कृष्ट वस्तु स्वरुप की प्ररूपणा करने वाला है, वह जहाँ-तहाँ अर्थात् अन्यमतों में नही है ॥ २ ॥

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ ३ ॥

अर्थ:-श्री वीतराग प्रभु ने जो जो भाव कहे है, वे सब सत्य हैं । उनका कथन सुभाषित है, क्योकि उसमें पूर्वापर विरोध आदि कोई दोष नही है । अतः मनुष्य सदा काल सत्य से सपन्न होकर प्राणियों के साथ मैत्रीभाव स्थापित करे ॥ ३ ॥

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥ ४ ॥

अर्थ:-त्रस या स्थावर जीवों के साथ विरोध न करना संयमवान् साधु का धर्म है । साधु जगत् के स्वरुप को जान कर शुद्ध धर्म की भावना करे ॥ ४ ॥

अर्थ—साधु सर्वज्ञोक्त आगम का निरन्तर अभ्यास करता रहे और उसीके अनुसार प्रवृत्ति करे—वचन बोले, मर्यादा का उल्लंघन न करे, सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने सम्यग्दर्शन में दोष न लगने दे। जो साधु इस प्रकार आगम का व्याख्यान करना जानता है, वही सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म को कहना जानता है ॥ २५ ॥

अलूसए णो :पच्छिण्णभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययंति ॥ २६ ॥

अर्थ—षट्काया का रक्षक साधु सूत्र के अर्थ को दूषित न करे, नहीं छिपावे और न अन्यथा प्ररूपणा करे। अपने को शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति का विचार रख कर उपदेश करे और गुरु के मुख से जैसा अर्थ सुना हो, वैसा ही प्रकाशित करे। किंचित् मात्र भी अन्यथा न कहे ॥ २६ ॥

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउं तं समाहिं त्ति बेमि।२७।

अर्थ—जो साधु शुद्ध सूत्र का उच्चारण करता है, यथा-योग्य तपश्चरण करता है और उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग तथा अपवाद के स्थान पर अपवादमार्ग की प्ररूपणा करता है, वह आदरणीय वचन वाला होता है। इस प्रकार व्याख्यान करने में कुशल तथा विचार पूर्वक आचरण करने वाला पुरुष ही तीर्थंकर-भाषित समाधि-धर्म का कथन करने का अधिकारी होता है ॥ २७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

## चौदहवाँ अध्ययन समाप्त

अर्थ—तीर्थंकर और गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का अन्त कर सकते हैं। गणधरों आदि का यह भी कहना है कि मनुष्यभव की प्राप्ति होना बहुत कठिन है॥ १७॥

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे॥ १८॥

अर्थः—इस मनुष्य जन्म से भ्रष्ट हुए जीव को फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होना कठिन है तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण की परिणति भी दुर्लभ है। वास्तव में धर्मप्राप्ति के अनुकूल लेश्या की प्राप्ति होना कठिन है॥ १८॥

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ?॥ १९॥

अर्थः—जो वीतराग महापुरुष प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम और शुद्ध धर्म की प्ररूपणा करते हैं और उसी तरह स्वयं आचरण करते हैं, वे अनुपम आत्माओं के स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। उनके फिर जन्म लेने की कथा ही क्या है! अर्थात् एक वार मोक्ष होने के पश्चात् फिर वे कभी जन्म नही लेते॥ १९॥

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा॥ २०॥

अर्थः—पुनरागमन–रहित रूप से मोक्ष में गये हुए ज्ञानी पुरुष किसी भी समय कैसे जन्म ले सकते है? अर्थात उनके जन्म लेने का कर्म रूप कारण नही रहता और बिना कारण वे जन्म नही लेते। सब प्रकार की कामनाओं से रहित तीर्थंकर गणधर आदि महापुरुष जगत् के सर्वोत्कृष्ट नेत्र (पथप्रदर्शक) है॥ २०॥

अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया॥ २१॥

अर्थ.—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित संयम रूप स्थान प्रधान-सर्वोत्तम है। उस स्थान को प्राप्त करके कई ज्ञानी जन निर्वाण प्राप्त करते है और ससार का अन्त करते है॥ २१॥

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं चाऽवि ण कुव्वति॥ २२॥

अर्थ—संयम एवं वीतरागभावित धर्म में निपुण साधु मन, वचन और काय से किसी भी जीव के साथ विरोध न करे। ऐसा करने वाला पुरुष ही चक्षुष्मान्—परमार्थदर्शी कहलाता है॥ १३ ॥

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टति ॥१४॥

अर्थ—जो पुरुष भोग की इच्छा का अन्त कर डालता है, वह सब मनुष्यों के लिए चक्षु के समान सन्मार्गदर्शक बन जाता है। जैसे छुरे का अग्रभाग ही चलना है अथवा चक्र का अन्तिम भाग ही चलता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का अन्त ही दुःख रूप संसार का क्षय करता है। तात्पर्य यह है कि जैसे छुरा की धार नष्ट हो जाने पर छुरा कार्यकारी नहीं रहता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के अभाव में शेष कर्म विशेष कार्यकारी नही होते, अर्थात् संसारवर्धक नहीं रहते। मोह के अभाव में शेष कर्म सरलता से ही नष्ट हो जाते हैं और सिद्धि की प्राप्ति होती है। अतः मोहकर्म को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ १४ ॥

अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इहा।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा ॥१५॥

अर्थ—धीर पुरुष अन्त–प्रान्त आहार का सेवन करते हैं, इसी कारण वे संसार का अन्त करने में समर्थ होते हैं अतएव मनुष्यलोक में आकार जीवों को धर्म की आराधना करके मुक्तिगामी होना चाहिए॥ १५ ॥

णिट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥ १६ ॥

अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं–मैंने तीर्थंकर देव से ऐसा सुना है कि संयम का पालन करने वाले मनुष्य या तो कृतकृत्य–मुक्त–हो जाते हैं या देवगति प्राप्त करते हैं। मनुष्य के सिवाय अन्य गति के जीवों को ऐसी गति नहीं मिलती॥ १६ ॥

अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहियं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥ १७ ॥

# सोलहवां गाथा-अध्ययन

अहाह भगवं-एवं से दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खु त्ति वा, णिग्गंथे त्ति वा ।

पडिआह-भंते ! कहं नु दंते वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खु त्ति वा, णिग्गंथे त्ति वा ? तं नो बूहि महामुणी !

इति विरए सव्वपावकम्मेहिं पिज्जदोसकलह-अब्भक्खाणपेसुन्न-परपरिवाय-अरति-रति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्लविरए सहिए समिए सया जए, णो कुज्झे, णो माणी, माहणे त्ति वच्चे ।१॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि पूर्वोक्त पंद्रह अध्ययनों में कथित अनुष्ठान से युक्त जो पुरुष इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला, मोक्षार्थी तथा शरीर की ममता का त्यागी हो, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ।

शिष्य ने प्रश्न किया-भगवन् ! पूर्वोक्त अनुष्ठान से युक्त, इन्द्रियों और मन का दमन करने वाले, मोक्षार्थी तथा शरीर का ममता से रहित पुरुषको माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिए ? हे महामुनि ! यह मुझे बतलाइए ?

भगवान् उत्तर देते हैं-पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में कथित आचार का पालन करने वाला जो मुमुक्षु समस्त पापकर्मों से विरत हो चुका है तथा राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान ( मिथ्या दोषारोपण ), पैशुन्य ( चुगली ), परनिन्दा, अरति, रति, माया, मृषावाद और मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है, ज्ञान आदि गुणों से युक्त है, यतनावान् है, जो किसी पर क्रोध नहीं करता और अभिमान नहीं करता, वह माहन कहलाता है ।१।

अर्थः—ज्ञानी पुरुष कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पूर्वसंचित कर्मों का विनाश करे और नवीन कर्म का बंध न करे। तात्पर्य यह कि जब पुरातन कर्मों का क्षय हो जाता है और नवीन कर्मों का आना रुक जाता है, तभी आत्मा सर्वथा निष्कर्म होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

ण कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेचाण जं मयं ॥२३॥

अर्थ—कर्मों का विनाश करने में समर्थ वीर पुरुष, अन्य जीवों द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, के निमित्त से उपार्जित किये जाने वाले कर्मों का उपार्जन नहीं करते हैं; क्योंकि पूर्वसंचित कर्मों के उदय से ही पापकर्म किये जाते हैं। वह वीर पुरुष तो आठ प्रकार के जो कर्म माने गये हैं, उनका त्याग करके मोक्ष के सन्मुख हुआ है ॥ २३ ॥

जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लकत्तणं।
साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥

अर्थ—जो समस्त साधु पुरुषों द्वारा मान्य–संयम–है, वह शल्य को काटने वाला है। सम्यक् प्रकार से उस संयम की साधना करके बहुत–से जीव तिरे हैं, अर्थात् मुक्त हुए हैं अथवा देवलोक को प्राप्त हुए हैं ॥ २४ ॥

अभविंसु पुरा धीरा ( वीरा ), आगमिस्सा वि सुव्वता।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने ॥ २५ ॥ त्ति बेमि ॥

अर्थ—अतीत काल में बहुतेरे धीर–वीर पुरुष हुए हैं और भविष्य में भी होंगे। वे सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप दुर्लभ मोक्षमार्ग को प्राप्त करके और उसे प्रकट करके संसार–सागर से तिरे हैं ॥ २५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

## पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त

अर्थ--निर्ग्रन्थ पूर्वोक्त भिक्षु के गुणों से युक्त होता है और साथ ही जो राग-द्वेष से रहित हो, 'आत्मा अकेला ही जाता और आता है' ऐसा जनता हो, जो वस्तु-स्वरूप का ज्ञाता हो, आस्त्रव द्वारों को रोक देने वाला हो, बिना प्रयोजन शरीर संबंधी कोई क्रिया न करता हो या जितेन्द्रिय हो, समिति-सम्पन्न हो, समभावी हो जो आत्मतत्त्व का ज्ञाता हो, ज्ञानी हो, जिसने द्रव्य और भाव से संसार के कारणों का त्याग कर दिया हो, जो पूजा सत्कार और लाभ की आशा न रखता हो, धर्म का अर्थी हो, धर्म का ज्ञाता हो, मोक्ष मार्ग में गमन करता हो. समभाव पूर्वक विचरता हो, जो जितेन्द्रिय, मुक्ति जाने योग्य एवं शरीर ममता का त्यागी हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिये।

श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी आदि शिष्यों से कहते हैं-मैंने सर्वज्ञ भगवान् के कथनानुसार ही यह कहा है, इसे आप सत्य समझें, क्योंकि जगत् को भय से बचाने वाले तीर्थंकर भगवान् अन्यथा कथन नहीं करते ॥४॥

## सोलहवां अध्ययन समाप्त

## प्रथम श्रुतस्कंध सम्पूर्ण

एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाणं च, अतिवाय च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ, तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआ दंते, दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ॥२॥

अर्थ—जो साधु पूर्वोक्त माहन के गुणों से युक्त हो और साथ ही शरीर आदि में आसक्ति न रखता हो, निदान-रहित हो, अर्थात् अपने तप-संयम के फलस्वरूप सांसारिक सुखों की कामना न करता हो, कषाय रहित हो, किसी जीव की हिंसा न करता हो, मिथ्याभाषण न करता हो, मैथुन और परिग्रह से रहित हो, जो क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग और द्वेष न करता हो, इस प्रकार जिन-जिन कार्यों से कर्मबंध होता है या आत्मा द्वेष का पात्र बनता है, अर्थात् जिनसे आत्मा का अहित होता है उन सब से विरत होकर जो जितेन्द्रिय तथा मोक्षार्थी होता है और शरीर के संस्कार का त्याग कर देता है, वह श्रमण कहलाने योग्य है ॥ २ ॥

एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते, दविए, वोसट्ठ-काए, संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे, अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए, ठियप्पा, संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे ॥ ३ ॥

अर्थ—जो माहन एवं श्रमण के बतलाये हुए गुणो से युक्त हो और साथ ही जो अभिमान से रहित हो, विनीत हो, नम्र हो, जितेन्द्रिय हो, मुक्तिगमन के योग्य गुणो से युक्त हो, शरीर-सस्कार का त्यागी हो, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गो को सहन करता हो अध्यात्म योग अर्थात् धर्मध्यान से शुद्ध चारित्र वाला हो, सयम में उपस्थित हो, जिसकी आत्मा मोक्षमार्ग में स्थित हो, और जो संसार की असारता जान कर दूसरे का दिया हुआ भोजन करता हो वह भिक्षु कहलाता है ॥ ३ ॥

एत्थ वि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते, सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने, णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समि(म)-यं चरे, दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथे त्ति वच्चे ॥ ४ ॥ से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो; त्ति बेमि ॥

उसका अर्थ इस प्रकार कहा गया है:-मान लो कि कोई पुष्करिणी (बावड़ी) है। वह बहुत जल वाली और बहुत कीचड़ वाली है। वह बहुत-से पुष्कर-कमलों से युक्त होने के कारण यथार्थ नाम वाली है। वह श्वेत कमलों से परिपूर्ण है। वह देखने वाले के चित्त को प्रसन्न करती है, दर्शनीय है, अभिरूप और प्रतिरूप है अर्थात् मनोहर है।

उस पुष्करिणी के देश-देश और प्रदेश-प्रदेश में सर्वत्र श्रेष्ठ श्वेत कमल कहे गये हैं। वे कमल अनुक्रम से व्यवस्थित हैं, कीचड़ एवं जल के ऊपर स्थित, रुचिर, सुन्दर वर्ण गंध रस और स्पर्श वाले, प्रसन्नताप्रद दर्शनीय, सुन्दर और मनोहर हैं।

उस पुष्करिणी के एकदम मध्यभाग में एक बड़ा उत्तम श्वेत-कमल है, वह अनुक्रम से वृद्धि पाया हुआ, ऊपर निकला हुआ, रुचिर, सुन्दर वर्ण गंध रस और स्पर्श वाला है, प्रसन्नता-जनक यावत् मनोहर है।

उस सम्पूर्ण पुष्करिणी में जगह-जगह सर्वत्र बहुत से उत्तम-उत्तम श्वेत कमल हैं। उनकी रचना सुन्दर है, ऊपर निकले हुए हैं, रुचिर हैं, यावत् सुन्दर हैं और उस पुष्करिणी के मध्य भाग में एक बड़ा उत्तम श्वेत कमल है जो अनुक्रम से बढ़ा हुआ, कीचड और जल के ऊपर स्थित, यावत सुन्दर है॥ १॥

**मूल—अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवर-पोंडरियं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं। तए णं से पुरिसे एवं वयासी अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू। अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुया से पुरिसे अभिक्कमेति तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतए पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे। पढमे पुरिसजाए। २॥**

अर्थ—अब एक पुरुष पूर्व दिशा से उस पूर्वसूत्र वर्णित पुष्करिणी के पास आता है। वह उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर उस पूर्व वर्णित एक, बड़े, उत्तम सुन्दर रचना वाले, ऊपर निकले यावत् सुन्दर श्वेत कमल को देखता है। उसे देखकर वह पुरुष कहता है-मैं अवसर का ज्ञाता, कुशल, पण्डित, विवेकमान, बुद्धिमान्, जवान, मार्ग स्थित, मार्ग का ज्ञाता और जिस मार्ग पर चल कर लोग अपना

# श्री सूत्रकृतांग सूत्र

## द्वितीय श्रुतस्कंध

---

## पहला पुण्डरीक अध्ययन

मूल--सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं--इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे; तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते :--

से जहाणामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीकिणी पासादिया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए उस्सिते रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे। सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवर-पोंडरीया बुइया, अणु-पुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा। सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगं महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे ॥ १ ॥

अर्थः--श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी से कहते है--हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् ने ऐसा कहा था कि इस जिनागम में पुण्डरीक नामक अध्ययन है।

देखकर दूसरा नवागत पुरुष कहता है ओह ! यह पुरुष अखेदज्ञ, अकुशल, अपण्डित अपक्व वुद्धि एवं अमेधावी है, मूर्ख है यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है, मार्ग का ज्ञाता नही है, इष्ट सिद्धिकारक मार्ग का ज्ञाता नही है। मगर यह पुरुष समझता था कि मैं परिश्रमी हूँ, कुशल हूँ, यावत् इस उत्तम श्वेतकमल को निकालूंगा ! किन्तु यह उत्तम श्वेत कमल यों नहीं निकाला जाता, जैसे यह समझता था।

हां, मैं परिश्रम को जानने वाला, पण्डित, कशल, परिपक्व वुद्धि वाला, मार्ग में स्थित, मार्ग का ज्ञाता, अभीष्ट सिद्धि का मार्ग जानने वाला हूँ। मैं इस उत्तम पुंडरीक को पुष्करिणी से बाहर निकालूंगा।

इस प्रकार कह कर वह दूसरा पुरुष उस पुष्करिणी में प्रविष्ट हुआ। वह ज्यों-ज्यों आगे जाता है, त्यों-त्यों उसे बहुत पानी और बहुत कीचड़ मिलता है। वह तीर से भ्रष्ट हो जाता है और पुण्डरीक कमल तक पहुँच नही पाता। न इधर का रहता है न उधर का रहता है। पुष्करिणी के बीच कीचड़ में फंस जाता है। यह दूसरे पुरुष की बात हुई ॥ ३ ॥

मूल—अहावरं तच्चे पुरिसजाते। अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं। ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि णिसन्ने।

तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना, अकुसला, अपंडिया, अवियत्ता, अमेहावी, वाला णो मग्गत्था, णो मग्गविऊ, णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, नो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने।

अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी, अवाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गति परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु, इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते

अभीष्ट सिद्ध करते हैं उसको जानने वाला हूँ। मैं इस श्रेष्ठ श्वेत कमल को पुष्करिणी में से बाहर निकालूंगा। इस प्रकार कहकर वह पुरुष पुष्करिणी में प्रवेश करता है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे जाता है, त्यों-त्यों उस पुष्करिणी में अधिक-अधिक जल और अधिक-अधिक कीचड मिलता है। अब वह पुरुष किनारा छोड़ चुका है श्रेष्ठ श्वेत कमल तक पहुँच नहीं पाया है। न इधर का है, न उधर का है किन्तु पुष्करिणी के बीच ही में, कीचड में, फँस कर क्लेश पा रहा है। यह पहले पुरुष की बात हुई ॥२॥

मूल—अहावरे दोच्चे पुरिसजाए। अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं। तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणतरं अपत्त-पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए, णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्नं। तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्ने, अकुसले, अपंडिए, अवियत्ते, अमेहावी, बाले, णो मग्गत्थे, णो मग्गविऊ, णो मग्गस्स गतिपरक्कमणण्णू जन्नं एस पुरिसे अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि। णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने।

अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरिक्कमणण्णू अहमेयं पउमवर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने दोच्चे पुरिसजाए॥३॥

अर्थ—अब दूसरे पुरुष की बात सुनिये, पहले के पश्चात् दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्पकरिणी के पास आता है। वह उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर उस महान अनुक्रम से सुन्दर रचना वाले, प्रसन्नता प्रदान करने वाले, यावत् मनोहर एक श्वेतकमल को देखता है। वह उस पुरुष को भी देखता है जो तीर से भ्रष्ट हो चुका है और उस श्वेत कमल तक पहुँच नहीं पाया है, जो न इधर का रहा है, न उधर का रहा है और जो पुष्करिणी में, बीच में, कीचड़ में फँसा है। इस पुरुष को

अर्थ—अब चौथे पुरुष की बात सुनिये। यह चौथा पुरुष उत्तर दिशा से आकर और उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर उस सुन्दर रचना वाले यावत् मनोहर उत्तम श्वेत कमल को देखता है। वह उन तीन पुरुषों को भी देखता है, जो किनारे से भ्रष्ट हो चुके हैं और श्वेत कमल तक पहुँच नहीं पाये हैं, यावत् बीच में ही कीचड़ में फँस गये हैं। इन सब को देख कर यह चौथा पुरुष कहता है—ओह! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ नहीं हैं, यावत् जिस मार्ग से चल कर इष्ट सिद्धि प्राप्त की जाती है, उसे नहीं जानते। ये समझते हैं कि हम इस श्रेष्ठ श्वेतकमल को बाहर निकाल लेंगे; यह कमल यों नहीं निकला जा सकता, जैसा ये लोग समझते हैं। हाँ मैं मर्द हूँ, खेदज्ञ हूँ, यावत् इष्ट-सिद्धिकारी मार्ग का ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकालूँगा। ऐसा कहकर वह चौथा पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों बहुत पानी और बहुत कीचड़ पाता है, यावत् कीचड़ में फँस जाता है। वह न इधर का और न उधर का रहता है। यह चौथे पुरुष की बात कही गई॥ ५॥

मूल—अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव गतिपरक्कमण्णू अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं। ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने। तए णं से भिक्खू एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं एते पुरिसा एवं मन्ने-अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने।

अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु, इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा उप्पयाहि खलु भो पउमवरपोंडरीया! उप्पयाहि। अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए॥ ६॥

अर्थ—इसके पश्चात् संसार से अलिप्त, मोक्ष का अभिलाषी खेद का ज्ञाता एवं इष्टसिद्धि के मार्ग को जानने वाला साधु किसी दिशा या विदिशा से आकर उस

उदए, महंते सेए, जाव अन्तरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने। तच्चे पुरिसजाए ॥ ४ ॥

अर्थ-अब तीसरे पुरुष की बात सुनिये वह पुरुष पश्चिम दिशा से पुष्करिणी के समीप आकर पुष्करिणी के तीर पर खड़ा हुआ। वह भी एक बड़े सुन्दर रचना वाले और मनोहर उत्तम पुंडरीक को देखता है, वह वहाँ दो पुरुषों को देखता है जो किनारे से भ्रष्ट हो चुके है और पुंडरीक तक पहुँच नहीं पाये है, जो न इधर के है, न उधर के है, यावत् बीच ही में कीचड़ में फँस गये हैं। यह देख करतीसरा पुरुष कहता है-ओह, यह दोनों पुरुष परिश्रम से अनभिज्ञ, अकुशल, अपंडित, अपरिपक्व बुद्धि वाले, अमेधावी और मूर्ख हैं। ये मार्ग में स्थित नही मार्ग के ज्ञाता नही इष्ट सिद्धि के मार्ग को समझते नहीं। इन्होने समझ लिया था कि हम इस उत्तम पुण्डरीक को बाहर निकाल लाएंगे, मगर उत्तम पुण्डरीक यों नहीं निकाला जाता जैसे इन्होंने समझ रक्खा था। मैं मर्द हूं, परिश्रम का ज्ञाता हूं, कुशल पंडित, परिपक्क बुद्धि वाला, मेधावी, जवान, मार्ग में स्थित, मार्ग का ज्ञाता एवं इष्ट सिद्धि के मार्ग का जानकार हूं। मैं इस उत्तम पुंडरीक को बाहर निकालूंगा। इस प्रकार सोच कर और कह कर वह पुरुष पुष्करिणी में प्रविष्ट हुआ ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों अधिक पानी और अधिक कीचड़ मिलता है। यावत् वह तीसरा पुरुष भी पुष्करिणी के बीच कीचड़ में फस जाता है। यह तीसरे पुरुष की बात हुई ॥ ४ ॥

मूल-अहावरे चउत्थे पुरिसजाए। अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं। ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाए पासति-पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने। तए णं से पुरिसे एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरिक्कमणण्णू, जएणं एते पुरिसा एवं मन्ने-अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खिस्सामो, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने। अहमंसि पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेय पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु, इत्ति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे, तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए, जाव णिसन्ने। चउत्थे पुरिसजाए ॥ ५ ॥

पर्यायवाचक शब्दों द्वारा प्रकट करता हूँ, दृष्टान्त के साथ तुम्हें समझाता हूँ, अर्थ, हेतु और निमित्त से सिद्ध करके पुनः पुनः बतलाता हूँ। उस अर्थ को अभी कहता हूँ॥ ७॥

मूल—लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी बुइया, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! मे उदए बुइए, कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए, जण-जाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंड-रीए बुइए, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिस-जाया बुइया, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो! से भिक्खू बुइए, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणा-उसो से सद्दे बुइए, निव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए, एवमेवं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एव-मेयं बुइयं ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रीश्रमण भगवान् महावीर दृष्टान्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए फरमाते हैं—आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से लोक को पुष्करिणी (वावड़ी) कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से कर्म को पुष्करिणी का जल कहा है। हे आयुष्मन श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से कामभोग को पुष्करिणी का कीचड कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से आर्य देश के मनुष्यों को तथा देशों को बहुत-से कमल कहा है। हे आयुष्मन श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से राजा को पुष्करिणी का एक महान श्रेष्ठ पुंडरीक कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से अन्ययूथिकों को कीचड में फँसे हुए चार पुरुष कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से धर्म को भिक्षु कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! धर्म-कथा को मैं ने अपनी कल्पना से वह शब्द कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! निर्वाण को मैं ने अपनी कल्पना से कमल का बाहर आना कहा है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैं ने अपनी कल्पना से पूर्वोक्त पदार्थों का स्वरूप कहा है।

तात्पर्य यह है कि यह जगत् पुष्करिणी के समान है। इसमें कर्म रूपी जल और कामभोग रूपी कीचड़ व्याप्त है। इस जगत् में जो आर्यजन हैं, वे कमलों के समान हैं। प्रधान और सब से बड़े श्वेत कमल के समान राजा है। अन्यतीर्थिक राजा आदि का

पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर उस एक बड़े श्रेष्ठ पुण्डरीक को देखता है, जो यावत् बड़ा ही मनोहर है। वह साधु वहाँ चार पुरुषों को भी देखता है, जो किनारे से भ्रष्ट हो चुके हैं और पुण्डरीक तक पहुँच नहीं पाये हैं, जो न इधर के और न उधर के रहे हैं और कीचड़ में फँस गये हैं।

यह सब देख कर वह साधु इस प्रकार बोला—ओह, यह पुरुष खेद के ज्ञाता नहीं हैं, अकुशल हैं और इष्टसिद्धि के मार्ग को नहीं जानते हैं। ये पुरुष ऐसा मानते हैं कि हम इस उत्तम पुंडरीक को बाहर निकालेंगे, किन्तु यह उत्तम पुंडरीक इस प्रकार नहीं निकाला जाता, जैसे कि ये पुरुष मानते हैं।

मैं संसार से अलिप्त, संसार-सागर से पार होने का अभिलाषी खेद का ज्ञाता और इष्टसिद्धि के मार्ग का ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम पुण्डरीक को बाहर निकालूँगा। ऐसा विचार कर और कह कर वह साधु उस पुष्करिणी में प्रवेश नहीं करता है, बल्कि उस पुष्करिणी के तीर पर खड़ा होकर कहता है—'हे पद्मवरपुंडरीक! निकल आओ, निकल आओ।' ऐसा कहने पर वह पुंडरीक पुष्करिणी से बाहर निकल आता है ॥६॥

**मूल—किट्टिए नाए समणाउसो! अट्ठे पुण से जाणियव्वे भवति। 'भंते' त्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथो निग्गंथीओ य वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी--किट्टिए नाए समणाउसो! अट्ठं पुण से ण जाणामो। समणाउसो त्ति, समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी--हंत समणाउसो! आइक्खामि, विभावेमि, किट्टेमि, पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि, मे बेमि ॥ ७ ॥**

अर्थ—पुष्करिणी में स्थित पुण्डरीक का दृष्टान्त बतला देने के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो! आपको उदाहरण बतलाया गया है अब आपको उसका अर्थ भी समझ लेना चाहिए।

'हाँ भगवन्! इस प्रकार कह कर साधु और साध्वियाँ श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार करते हैं तथा वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहते हैं—हे आयुष्मन् भगवन्! आपने जो दृष्टान्त कहा, उसका अर्थ हमारी समझ में नहीं आता है।

'आयुष्मन् शिष्यो!' इस प्रकार संबोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने उन बहुत-से साधुओं और साध्वियों से कहा—आयुष्मन्तो! इसके अर्थ का कथन करता हूँ,

भट्टा, भट्टपुत्ता, माहणा, माहणपुत्ता, लेच्छइ, लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो, पसत्थारपुत्ता, सेणावई, सेणावइपुत्ता ॥ ६ ॥

अर्थ—इस मनुष्यलोक में, पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा में कितने ही मनुष्य रहते हैं। उनमें कोई कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्री होते हैं, कोई नीच गोत्री होते हैं, कोई स्थूल शरीर वाले और कोई छोटे शरीर वाले होते हैं कोई सुन्दर वर्ण वाले अर्थात सुरूप और बुरे वर्ण वाले अर्थात कुरूप होते हैं।

उन मनुष्यों में कोई एक राजा होता है। वह राजा महा हिमवान्, मलय, मन्दर एवं महेन्द्र पर्वत के समान शक्तिमान् तथा समृद्धिमान् होता है। वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वंश में जन्म लेता है। उसके अंगोपांग राजलक्षणों से सुशोभित होते हैं। वह बहुत जनों का माननीय पूजनीय होता है। समस्त गुणों से परिपूर्ण होता है। वह क्षत्रिय अर्थात प्राणियों को क्षति से बचाने वाला होता है। सदा प्रमुदित रहने वाला, राज्याभिषेक किया हुआ और माता-पिता का सुपुत्र होता है। दयालु होता है और प्रजा की सुव्यवस्था करने के लिए मर्यादा स्थापित करने वाला और उस मर्यादा का स्वयं भी पालन करने वाला होता है। वह कल्याण करने वाला तथा कल्याण को धारण करने वाला होता है। मनुष्यों में इन्द्र के समान, देश का पिता और देश का पुरोहित अर्थात् शान्ति करने वाला होता है। सुव्यवस्था करने वाला एवं अद्भुत कार्य करने वाला होता है। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी, पुरुषों में सर्प के समान (रुष्ट हो जाय तो अनर्थ करने वाला), पुरुषों में श्वेत कमल के समान और गंधहस्ती के समान प्रधान, धनवान्, तेजस्वी और प्रसिद्ध होता है। उसके यहाँ बहुत से विस्तीर्ण महल, शयन ( पलंग आदि ) आसन, यान ( पालकी आदि ) तथा वाहन ( हाथी-घोडा आदि ) होते हैं। वह धन-धान्य एवं सोने-चांदी से युक्त होता है। उसके यहाँ बहुत आय और व्यय होता है, बहुत भोजन-पानी दूसरों को दिया जाता है। बहुसंख्यक दासियां होती हैं, दास होते हैं, गायें, भैंसे और बकरियां होती हैं। उसका खजाना और अन्न भंडार भरपूर रहता है, शस्त्रागार शस्त्रों से परिपूर्ण रहता है, वह बलवान होता है और शत्रुओं को दुर्बल बनाये रखता है। प्रजा में अशान्ति एवं त्रास उत्पन्न करने वाले कंटकों अर्थात चोर जार आदि को समाप्त और नष्ट कर देता है, उनका मान-मर्दन कर देता है, उन्हें समूल उखाड़ फेंकता है, अतएव वह कंटकहीन होता है। इसी प्रकार वह अपने शत्रुओं को समाप्त, नष्ट, कुचले हुए, उखाड़े हुए, पराजित किये हुए तथा हारे हुए बना देता है। उसका राज्य दुर्भिक्ष तथा महामारी के भय से रहित होता है। इस प्रकार औपपातिक सूत्र के अनुसार राजा का समग्र वर्णन यहां समझ लेना चाहिए। यहां तक कि ऐसा राजा स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित राज्य का शासन करता हुआ विचरता रहता है।

उद्धार करने का दंभ करते हैं, मगर उनका उद्धार करना तो दूर, वे स्वयं कर्म तथा विषय भोग के जल एवं कीचड़ में फँस कर दुःख के पात्र बनते हैं। हाँ, जो स्वयं कामभोग से अलिप्त है, ऐसा भिक्षु ही धर्म कथा के द्वारा राजा महाराजा आदि का उद्धार कर सकता है और वह भिक्षु धर्मतीर्थ रूपी पुष्करिणीतट पर स्थित रहता है, वह कर्म रूपी जल में या विषयभोग रूपी कीचड़ में नहीं फँसता। जैसे जल और कीचड़ का त्याग कर कमल बाहर आता है, उसी प्रकार कर्म एवं इन्द्रियविषयों का त्याग कर आर्य जन निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

मूल—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववन्ना; तंजहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोत्ता वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, रहस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे, दुव्वन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवइ, महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते, निरंतररायलक्खणविराइयंगमंगे, बहुजणबहुमाणपूइए, सव्वगुणसमिद्धे, खत्तिए, मुदिते, मुद्धाभिसित्ते, माउपिउसुजाते, दयप्पिए, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे खेमंधरे, मणुस्सिंदे, जणवयपिया, जणवयपुरोहिए, सेउकरे, केउकरे, नरपवरे, पुरिसपवरे, पुरिससीहे, पुरिसआसीविसे, पुरिसवरपोंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, अड्ढे, दित्ते, वित्ते, विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे, बहुधणबहुजातरूवरयए, आओगपओगसंपउत्ते, विच्छिड्डियपउरभत्तपाणे, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते, पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे, बलवं, दुब्बलपच्चामित्ते, ओहयकंटयं निहयकंटयं, मलियकंटयं, उद्धियकंटयं, अकंटयं, ओहयसत्तू, निहयसत्तू, मलियसत्तू, उद्धियसत्तू, निज्जियसत्तू, पराइयसत्तू, ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं, रायवन्नओ जहा उववाइए, जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति।

तस्स णं रन्नो परिसा भवइ-उग्गा, उग्गपुत्ता, भोगा, भोगपुत्ता, इक्खागाइ, इक्खागाइपुत्ता, नाया, नायपुत्ता, कोरव्वा, कोरव्वपुत्ता,

से जहानामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! मुंजे, इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं।

से जहानामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! मंसे, अयं अट्ठी। एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं।

से जहानामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! करयले, अयं आमलए। एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं।

से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! नवनीयं, अयं तु दही। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं।

से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! तेल्लं अयं पिन्नाए। एवमेव जाव सरीरं।

से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खुतो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! खोतरसे, अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं।

से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टिता णं उपदंसेज्जा-अयमाउसो ! अरणी अयं अग्गी, एवमेव जाव सरीरं।

एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति, तं० अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तम्हा ते मिच्छा।

से हंता तं हणइ खणह छणह डहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाक्कारेह विपरामुसह, एतावता जीवे णत्थि परलोए, ते णो एवं

उस राजा की सभा होती है। उस सभा में उग्र कुल में उत्पन्न उग्र और उनके पुत्र, इसी प्रकार भोग, भोगपुत्र, इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञात, ज्ञातपुत्र, कौरव, कौरव पुत्र, सुभट, सुभटपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र, लेच्छवि, लेच्छविपुत्र, मंत्री, मंत्रीपुत्र, सेनापति, सेनापति पुत्र आदि होते हैं ॥ ९ ॥

तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह, भयंतारो ! जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ, तंजहा-उड्ढं पादतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे एस आयापज्जवे, कसिणे एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ, विणट्ठंमि य णो धरइ, एयंतं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति। आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवति-अन्नो भवति जीवो, अन्नं सरीरं। तम्हा ते एवं नो विपडिवेदेन्ति-अयमाउसो, आया दीहे त्ति वा, हस्से त्ति वा, परिमंडले त्ति वा, वट्टे त्ति वा, तंसे त्ति वा, चउरंसे त्ति वा, आयते त्ति वा, छलंसिए त्ति वा, अट्ठंसे त्ति वा, किण्हे त्ति वा, णीले त्ति वा, लोहिय हालिद्दे सुक्किल्ले त्ति वा, सुब्भिगंधे त्ति वा, दुब्भिगंधे त्ति वा, तित्ते त्ति वा, कडुए त्ति वा, कसाए त्ति वा, अंबिले त्ति वा, महुरे त्ति वा, कक्खडे त्ति वा, मउए त्ति वा, गुरुए त्ति वा लहुए त्ति वा, सीए त्ति वा, उसिणे त्ति वा, निद्धे त्ति वा, लुक्खे त्ति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति-अन्नो जीवो अन्नं सरीरं तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति-से जहानामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! असी अयं कोसी एवमेव नत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टिता णं उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं।

[ पुष्करिणी के कीचड में फँसे हुए चार पुरुषों में से यहाँ पहले पुरुष की घटना का वर्णन करते हैं। प्रथम पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी अर्थात् जीव को और शरीर को एक ही मानने वाला है। वह पुष्करिणी रूप जगत् से पुंडरीक के समान राजा का उद्धार करना चहता है। वह अपने धर्म का इस तरह उपदेश करता है ]

पैर के तलुवे से ऊपर, मस्तक के केशाग्र से नीचा और त्वचा पर्यन्त तिर्छा जो शरीर है, बस वही जीव है। यह शरीर ही जीव का सम्पूर्ण पर्याय है, अर्थात् शरीर के अतिरिक्त अलग कोई जीव नही है, क्योंकि शरीर के जीवित रहते जीव जीता है और शरीर के मर जाने पर जीव मर जाता है। शरीर के स्थित रहने पर स्थित रहता है और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, इस कारण जब तक शरीर है तभी तक जीव है। जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तब उसे जलाने के लिए दूसरे ले जाते हैं। आग में शरीर के जल जाने पर हड्डियाँ कपोत वर्ण की हो जाती है तत्पश्चात् अरथी को ढोने वाले चार पुरुष पाँचवी अरथी को लेकर गाव में लौट आते हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नही है, अगर होता तो कहीं न कही दिखाई देता, मगर दिखाई देता नही, अतएव उसकी पृथक् सत्ता नही है जो शरीर से भिन्न जीव नही जानते, उन्ही का सिद्धान्त सु-आख्यात-समीचीन है। जो लोग कहते हैं कि जीव अलग और शरीर अलग है वे दोनों को अलग-अलग दिखला नही सकते कि-आत्मा लम्बा है या छोटा है, चन्द्रमा की भांति चपटा गोल है या गेंद की भाति वर्तुल गोल है ( सिंघाड़े जैसा ) तिकोना है, ( बाजोठ जैसा ) चौकोर है, ( लकड़ी जैसा ) लम्बा है, षट्कोण है, या अष्टकोण है ? वे यह भी नही बता सकते कि जीव काला, नीला, लाल, पीला या श्वेत है ? सुगंध वाला है दुर्गंध वाला है ? तिक्त है, कटुक है, कसायला है, खट्टा है, या मीठा है कर्कश है मृदु है, गुरु है, लघु है, शीतल है, उष्ण है, स्निग्ध है या रूक्ष है ? ऐसा न बतला सकने के कारण जो यह मानते है कि जीव अलग है उनका मत सत्य-सुआख्यात नही है।

जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार को बाहर निकाल कर दिखला देता है और कहता है-देखो आयुष्मन् ! यह म्यान है और यह तलवार है। इसी प्रकार यह आत्मा है और यह शरीर है, इस तरह दोनो को पृथक्-पृथक् दिखा देने वाला कोई पुरुष नही है।

जैसे कोई पुरुष मूज से शलाका को अलग करके दिखलाता है कि-देखो आयुष्मन् ! यह मूज है और यह शलाका है; इस तरह जीव और शरीर को अलग-अलग दिखला देने वाला कोई पुरुष नहीं है कि-यह आत्मा है और यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग करके दिखलाता है कि-देखो आयुष्मन् ! यह मांस है और यह हड्डी है। इस तरह यह जीव है और यह शरीर है, ऐसा दोनो को अलग-अलग दिखलाने वाला कोई पुरुष नही है।

विप्पडिवेदेन्ति, तं०–किरियाइ वा, अकिरियाइ वा, सुक्कडेइ वा, दुक्कडेइ वा, कल्लाणे इ वा, पावए इ वा,. साहु इ वा, असाहु इ वा, सिद्धी इ वा, असिद्धी इ वा, निरए इ वा, अनिरए इ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए।

एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेन्ति,.तं सद्दहमाणा, तं पत्तियमाणा,तं रोएमाणा, साहु सुयक्खाए समणे ति वा, माहणे ति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि, तंजहा-असणेण वा, पाणेण वा. खाइमेण वा, साइमेण वा वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पाय-पुंछणेण वा, तत्थेगेपूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु।

पुव्वमेव तेसिं णायं भवति-समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो, पावं कम्मं णो करिस्सामो। समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति, अन्ने वि आदियावेंति, अन्नं पि आययंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेन्ति, ते णो परं समुच्छेदेन्ति, ते णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेन्ति । पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसन्ना । इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए ॥ १० ॥

अर्थ—राजा की सभा के सभासदो में कोई धर्म का श्रद्धालु होता है। कोई श्रमण और ब्राह्मण उस धर्मश्रद्धालु के पास जाने का विचार करते हैं, किसी भी एक धर्म की प्ररूपणा करने वाले वे श्रमण या ब्राह्मण सोचते हैं कि हम इस श्रद्धालु पुरुष को अपने इष्ट धर्म का उपदेश करें। ऐसा सोच कर वे उसके समीप जाते हैं और कहते हैं–हे प्रजा की भय से रक्षा करने वाले राजन् मैं आपको उत्तम धर्म बतलाता हूँ। उसे आप सत्य समझें। वह धर्म इस प्रकार है।

[ पुष्करिणी के कीचड़ में फँसे हुए चार पुरुषों में से यहाँ पहले पुरुष की घटना का वर्णन करते हैं। प्रथम पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी अर्थात् जीव को और शरीर को एक ही मानने वाला है। वह पुष्करिणी रूप जगत् से पुंडरीक के समान राजा का उद्धार करना चहता है। वह अपने धर्म का इस तरह उपदेश करता है ]

पैर के तलुवे से ऊपर, मस्तक के केशाग्र से नीचा और त्वचा पर्यन्त तिर्छा जो शरीर है, बस वही जीव है। यह शरीर ही जीव का सम्पूर्ण पर्याय है, अर्थात् शरीर के अतिरिक्त अलग कोई जीव नहीं है, क्योंकि शरीर के जीवित रहते जीव जीता है और शरीर के मर जाने पर जीव मर जाता है। शरीर के स्थित रहने पर स्थित रहता है और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, इस कारण जब तक शरीर है तभी तक जीव है। जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तब उसे जलाने के लिए दूसरे ले जाते हैं। आग में शरीर के जल जाने पर हड्डियाँ कपोत वर्ण की हो जाती हैं तत्पश्चात् अरथी को ढोने वाले चार पुरुष पाँचवी अरथी को लेकर गाव में लौट आते हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, अगर होता तो कहीं न कहीं दिखाई देता, मगर दिखाई देता नहीं, अतएव उसकी पृथक् सत्ता नहीं है जो शरीर से भिन्न जीव नहीं जानते, उन्हीं का सिद्धान्त सु-आख्यात-समीचीन है। जो लोग कहते हैं कि जीव अलग और शरीर अलग है वे दोनों को अलग-अलग दिखला नहीं सकते कि-आत्मा लम्बा है या छोटा है, चन्द्रमा की भांति चपटा गोल है या गेंद की भांति वर्तुल गोल है ( सिंघाड़े जैसा ) तिकोना है, ( बाजोठ जैसा ) चौकोर है, ( लकड़ी जैसा ) लम्बा है, षट्कोण है, या अष्टकोण है ? वे यह भी नहीं बता सकते कि जीव काला, नीला, लाल, पीला या श्वेत है ? सुगंध वाला है दुर्गंध वाला है ? तिक्त है, कटुक है, कसायला है, खट्टा है, या मीठा है कर्कश है मृदु है, गुरु है, लघु है, शीतल है, उष्ण है, स्निग्ध है या रूक्ष है ? ऐसा न बतला सकने के कारण जो यह मानते हैं कि जीव अलग है उनका मत सत्य-सुआख्यात नहीं है।

जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार को बाहर निकाल कर दिखला देता है और कहता है-देखो आयुष्मन् ! यह म्यान है और यह तलवार है। इसी प्रकार यह आत्मा है और यह शरीर है, इस तरह दोनो को पृथक्-पृथक् दिखा देने वाला कोई पुरुष नहीं है।

जैसे कोई पुरुष मूज से शलाका को अलग करके दिखलाता है कि-देखो आयुष्मन् ! यह मूज है और यह शलाका है; इस तरह जीव और शरीर को अलग-अलग दिखला देने वाला कोई पुरुष नहीं है कि-यह आत्मा है और यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग करके दिखलाता है कि-देखो आयुष्मन् ! यह मांस है और यह हड्डी है। इस तरह यह जीव है और यह शरीर है, ऐसा दोनो को अलग-अलग दिखलाने वाला कोई पुरुष नहीं है।

जैसे कोई पुरुष हथेली से आंवले को अलग करके दिखला देता है कि– आयुष्मन् ! देखो, यह हथेली और यह आंवला है, इस तरह जीव और शरीर को अलग-अलग दिखला देने वाला कोई पुरुष नहीं है ।

जैसे कोई पुरुष दही से मक्खन निकाल कर दिखला देता है कि–देखो आयुष्मन् ! यह मक्खन है और यह दही है, इस प्रकार कोई पुरुष ऐसा नही जो आत्मा और शरीर को अलग-अलग दिखला सके ।

जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल निकाल कर दिखला देता है कि–देखो आयुष्मन् ! यह तेल है और यह खल है, इस प्रकार कोई यह दिखलाने वाला नहीं कि यह आत्मा है और यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष ईख से इक्षुरस अलग निकाल कर दिखला देता है कि– देखो आयुष्मन् ! यह इक्षुरस है और यह उसका छूछा (तुच्छ भाग) है; इस प्रकार कोई ऐसा दिखलाने वाला नही कि यह आत्मा है और यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष अरणि नामक काष्ठ से अग्नि निकाल कर दिखला देता है कि– देखो आयुष्मन् यह अरणि है और यह अग्नि है; इस तरह कोई यह दिखलाने वाला नही कि यह जीव है और यह शरीर है ।

इन युक्तियो से सिद्ध है कि शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व नही है । अतएव जो यह कहते है कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, सो मिथ्या है ।

इस प्रकार तज्जीवतच्छरीरवादी शरीर से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही करते और इस प्रकार जीव का घात करने में पाप भी नही मानते । अतएव वे स्वयं जीवो का हनन करते है और दूसरों को भी हिंसा का उपदेश देते है । यथा–( भले ही ) जीवों को मारो, पृथ्वी खोदो, वनस्पति का छेदन करो, आग जलाओ, पकाओ लूटो सहसाकार करो–झपटो, क्योकि शरीर ही जीव है; परलोक कुछ है नही । शरीर का नाश होने पर जीव का भी नाश हो जाता है । जब जीव नही है और परलोक भी नही है तो पुण्य–पाप और उनका फल भी नही है ।

गणधर श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि से कहते है–परलोक एवं पुण्य-पाप आदि को न मानने वाले ये नास्तिक यह भी स्वीकार नही करते कि–शुभ क्रिया, अशुभ क्रिया, सुकृत, दुष्कृत, पुण्य, पाप, भलाई, बुराई, सिद्धि, असिद्धि, नारक तथा नारकों से इतर देव आदि है । अपनी इस मान्यता के परिणाम स्वरूप वे विविध प्रकार के आरंभ-समारंभ करके भांति-भांति के कामभोग भोगते है ।

इस प्रकार आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप आदि न मानने की धृष्टकरता ने वाले यह नास्तिक अपने मत के अनुसार दीक्षित होकर अपने ही मत की सत्यता की प्ररूपणा करते हैं। उनके इस मत मे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखने वाले लोग उनसे कहते हैं– 'हे श्रमण अथवा ब्राह्मण ! आपने अच्छा उपदेश दिया है। हे आयुष्मन् ! मैं आपको अशन, पान. खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल तथा पादप्रोंछन से आपको पूजा करता हूँ।' अर्थात् मैं यह सब वस्तुएँ आपको अर्पित करने को उद्यत हूँ। इनमें से जो चाहिए सो लीजिए। इस प्रकार कोई-कोई राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा वे नास्तिक स्वयं अपनी पूजा में प्रवृत्त हो जाते हैं और उस राजा आदि को अपने मत में पक्का बनाते हैं।

इन अनात्मवादी श्रमणों एवं ब्राह्मणों ने दीक्षा लेते समय ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि–हम श्रमण बनेंगे, गृह के त्यागी, सर्वस्व के त्यागी, पुत्र आदि परिवार के त्यागी, पशुओं के त्यागी, दूसरे का दिया भोजन करने वाले, भिक्षा से निर्वाह करने वाले। हम पापकर्म नही करेंगे। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके दीक्षित होने पर भी वे पापकर्म से विरत नहीं होते। वे स्वयं परिग्रह को ग्रहण करते है, दूसरों से ग्रहण कराते है और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते हैं। इसी प्रकार वे स्त्री तथा अन्य कामभोगों में मूर्छित, गृद्ध, ग्रथित, बद्ध और लुब्ध होते हैं, राग और द्वेष के वशीभूत और आर्त्त होते हैं। ऐसे लोग न अपने कर्म बंधनो का छेदन कर सकते है और न दूसरे प्राणियों, भूतो, जीवों और सत्वों के बंधन को छेदन कर सकते हैं। वे पुत्र कलत्र आदि के पूर्वसंयोग (रूपी तीर) से भ्रष्ट हो चुके हैं और आर्य पुरुषों के मार्ग (रूपी पुंडरीक) को भी प्राप्त नही कर पाये हैं। वे बीच में ही कामभोगों के कीचड में फँसे हैं।

पूर्वोक्त चार पुरुषो मे से यह पहला पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी कहा गया है ॥ १० ॥

मूल—अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा जाव संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे, एवं जाव दुरूवा वेगे, तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति ॥

इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो विज्जइ किरियाति वा, अकिरियाति वा सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा कल्लाणेतिवा पावएति वा, साहुति वा, असाहुति वा, सिद्धीति वा, असिद्धीति वा, णिरएति वा, अणिरएति वा, अवि अंतसो तणमायमवि । तं च पिहुद्देसेणं पुढोभूतसमवायं जाणेज्जा, तंजहा—पुढवी एगे महब्भूते आऊ दुच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते, इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविता अकडा णो कित्तिमा, णो कडगा, अणाइया, अणिहणा, अवंझा, अपुरोहिता, सतंता, सासता, आयछट्ठा ।

पुण एगे एवमाहु-सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो । एतावताव जीवकाए, एतावताव अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवियंतसो तणमायमवि ।

से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता इत्थं पि जाणाहि णत्थित्थदोसो । ते णो एवं विप्पडिवेदेन्ति, तंजहा—किरियाइ वा, जाव अणिरएइ वा, एव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं, विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति, ते णो हव्वाए णो पाराए । अंतरा कामभोगेसु विसण्णा । दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइए त्ति आहिए ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्ववत् पुष्करिणी के कीचड में फँसे चार पुरुषों में से दूसरा पुरुष पंच-महाभूतवादी कहता है । इस लोक मे पूर्व आदि सभी दिशाओं में मनुष्य निवास करते हैं और वे मनुष्य आर्य, अनार्य, सुरूप कुरूप आदि अनेक प्रकार के होते हैं । उनमें कोई एक राजा होता है और उस राजा की परिषद् होती है । राजा का और परिषद् का वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए यावत् उसमें सेनापति पुत्र प्रभृति होते हैं । उनमें कोई श्रद्धालु होते हे । श्रमण और माहन उसके पास जाने का विचार करते हैं । वे अपने स्वीकार किये हुए किसी धर्म की शिक्षा देने वाले श्रमण-ब्राह्मण उस राजा आदि से कहते हैं—हे प्रजा के भय या

निवारण करनें वाले ! हम आपको अपनें धर्म का उपदेश करेंगें। आप इस धर्म को सत्य समझिए–यह धर्म सुआख्यात और सुप्रज्ञप्त धर्म है। वह धर्म प्रकार है–

इस जगत् में पाँच महाभूत ही हैं। इन पाँच महाभूतों से ही क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, पुण्य, पाप, श्रेय, अश्रेय, सिद्धि, असिद्धि, नरक और अनरक–नरक से भिन्न अन्य गतियां होती हैं। यहाँ तक कि तिनके का नम्र होना भी इन्ही से होता है, आत्मा कोई क्रिया नही करता यह पाँच महाभूतों का समूह ही पृथक्-पृथक् नामों से जाना जाता है, पांच भूत इस प्रकार हैं–पहला महाभूत पृथ्वी है, दूसरा महाभूत जल है, तीसरा महाभूत तेज है, चौथा महाभूत वायु है और पांचवां महाभूत आकाश है। यह पाँच महाभूत किसी के द्वारा निर्मित या निर्मापित नही है, किये हुए नही हैं, कृत्रिम नही है, अपनी उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा नही रखते हैं, अनादि है, अविनाशी है, समस्त कार्यों के जनक है। इन्हे प्रवृत्त करने वाला कोई नही है। ये स्वतंत्र और शाश्वत हैं।

कोई-कोई (सांख्य) पाँच भूतो के अतिरिक्त छठा आत्मा स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात किसी भी पदार्थ का न उत्पाद होता है, न विनाश होना है, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। मृत्तिका के पिंड में घट पहले से विद्यमान था। कुंभार के व्यापार से घट उत्पन्न नही हुआ, सिर्फ प्रकट हो गया। इसी प्रकार घट जब फूट गया तो उसका नाश नही हुआ, वह सिर्फ तिरोहित हो गया–छिप गया है। वास्तव में सभी पदार्थ नित्य है और जब सभी पदार्थ नित्य है तो आत्मा अकर्त्ता है कोई क्रिया नही करता।

पचभूतवादियों के मत के अनुसार पंचभूत रूप ही जीव है, वही अस्तिकाय है और वही सम्पूर्ण विश्व है। यही पाँच भूत जगत् के मुख्य कारण है। यहाँ तक कि तिनका मुडता है या हिलता है तो इन्हीं भूतों से। अभिप्राय यह है कि छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी; जो भी क्रिया होती है, इन भूतों से ही होती है।

इस प्रकार कोई भूतवादी आत्मा की सत्ता ही स्वीकार नही करते और कोई आत्मा की सत्ता स्वीकार करते है तो उसे अकर्त्ता मानते हैं। आत्मा को अकर्त्ता मानने का अर्थ यह है कि आत्मा को न बंध होना है, न मोक्ष होता है, न संसार होता है। आत्मा न सुख का भोग करता है, न दुःख का भोग करता है। इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार करने वाला कहता है–जो स्वयं खरीद करता है, दूसरों से खरीद करवाता है, स्वयं जीवों की हिंसा करता है और दूसरो से हिंसा करवाता है, स्वयं भोजनादि पकाता है या दूसरे से पकवाता है, यहाँ तक कि किसी मनुष्य को भी खरीद कर हनन

करता है, तो भी दोष ( पाप ) का भागी नहीं होता। ऐसा निश्चित समझो। यह पंचमहाभूतवादी क्रिया, अक्रिया, नरक-स्वर्ग आदि कुछ भी स्वीकार नहीं करते। फल यह होता है कि ये अनेक प्रकार के पापमय कार्य करके नाना तरह के भोग भोगते हैं। अतएव वास्तव में वे अनार्य हैं और भ्रम में पड़े हुए हैं। इनके सिद्धान्त को मानने वाले राजा आदि इन्हें भोजन-पानी, वस्त्र-पात्र आदि प्रदान करते हैं और कहते हैं कि आपने हमें बहुत बढ़िया धर्म सिखलाया है! ऐसे धर्मभ्रष्टक कामभोगों की कीचड़ में फँस कर न इधर के और न उधर के रहते हैं,, अर्थात् न इस लोक के रहते हैं और न परलोक के ही रहते हैं। बीच ही में कष्ट पाते हैं।

यह दक्षिण दिशा से आये हुए दूसरे पुरुष के रूपक का स्पष्टीकरण है। वह राजा आदि रूपी पुंडरीक का उद्धार करने चला है, मगर स्वयं ही कीचड़ में फँस जाता है। ११ ॥

मूल—अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा जाव संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना; तं०—आरिया वेगे, जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ, जाव सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ। कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥

इह खलु धम्मा पुरिसादिया, पुरिसोत्तरिया, पुरिसप्पणीया, पुरिससंभूया, पुरिसपज्जोतिता पुरिसमभिसमण्णागया, पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

से जहानामए गंडे सिया, सरीरे जाए, सरीरे संवुड्ढे सरीरे, अभिसमण्णागए, सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

से जहानामए अरई सिया, सरीरे जाया, सरीरे संवुड्ढा, सरीरे अभिसमण्णागया, सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया, जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

से जहानामए वम्मिए सिया, पुढविजाए, पुढविसंवुड्ढे, पुढवि-अभिसमण्णागए, पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥

से जहानामए रुक्खे सिया पुढविजाए, पुढविसंवुड्ढे पुढवि अभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥

से जहानामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥

से जहानामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभि-भूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥

से जहानामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभि-भूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठन्ति ॥

जं पि य समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं वियंजियं दुवाल-संगं गणिपिडयं, तंजहा-आयारो, सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं, ण एयं आहातहियं, इमं सच्चं इमं तहियं इमं आहातहियं, ते एवं सन्नं कुव्वन्ति, ते एवं सन्नं संठ-वेन्ति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जाइयं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा ।

ते णो एवं विप्पडिवेदेन्ति, तंजहा-किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा, एवमेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं

सद्दहमाणा जाव इति णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णे त्ति, तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए त्ति आहिए ॥ १२ ॥

अर्थ—अब तीसरे पुरुष के विषय में कहते हैं। तीसरा पुरुष ईश्वरकारणवादी है; अर्थात् यह ईश्वर को इस जगत् का कर्त्ता मानता है। इस लोक में पूर्व, दक्षिण आदि दिशाओं में आर्य, अनार्य आदि अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जो अनुक्रम से लोक में उत्पन्न हुए हैं। उनमें एक महान् पुरुष राजा होता है और उस राजा की सभा भी होती है, जिसमें सेनापति पुत्र प्रभृति होते हैं। राजा और राजसभा का वर्णन पहले के समान ही समझ लेना चाहिए।

उनमें कोई-कोई धर्म का श्रद्धालु होता है। श्रमण और ब्राह्मण उस धर्म श्रद्धावान् पुरुष के पास जाने का विचार करते हैं। यावत् वे वहां जाकर कहते हैं—मैं आपको सच्चा धर्म बतलाता हूँ। आप उसे सत्य ही समझें, ग्रहण करें। वह धर्म इस प्रकार है—

इस जगत् के सभी सचेतन-अचेतन पदार्थ पुरुष (ईश्वर) के बनाये हुए हैं, सबका मूल कारण ईश्वर ही हैं। सब पदार्थ ईश्वरमय हैं, ईश्वर द्वारा रचित हैं, सब ईश्वर से ही संभूत हुए हैं। ईश्वर द्वारा ही प्रकाशित हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं और सब ईश्वर के आधार पर ही स्थितिमान् हैं।

जैसे कोई फोड़ा किसी प्राणी के शरीर में उत्पन्न हुआ। वह फोडा शरीर से उत्पन्न हुआ, शरीर में बढा है, शरीर का अनुगामी है और शरीर के आधार पर ही टिका हुआ है, इसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, ईश्वर में ही वृद्धि को प्राप्त हुए हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं और ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं।

जैसे शरीर में अरति होती है। वह शरीर में ही उत्पन्न हुई, शरीर में ही बढ़ी, शरीर में ही व्याप्त रहती है और शरीर के ही आधार पर स्थित होती है; उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और यावत् ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं।

जैसे कोई वल्मीक (बांबी) होती है। वह पृथ्वी से उत्पन्न हुई, पृथ्वी से ही बढ़ी, पृथ्वी में ही व्याप्त है और पृथ्वी के आश्रय पर ही स्थित है, उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, यावत् ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं।

जैसे कोई वृक्ष होता है। वह पृथ्वी से उत्पन्न हुआ, पृथ्वी से बढा, पृथ्वी में व्याप्त है और पृथ्वी के आधार पर ही स्थित है; उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, यावत् ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं।

जैसे कोई पुष्करिणी होती है। वह पृथ्वी से उत्पन्न हुई यावत् पृथ्वी के आधार पर स्थित रहती है; उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, यावत् ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं।

जैसे कोई उदक-वृद्धि (जल में आने वाला ज्वार) होता है। वह ज्वार जल से उत्पन्न हुआ और जल में ही स्थित रहता है, उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, यावत् ईश्वर में ही स्थित हैं।

जैसे जल का बुलबुला होता है। वह जल से उत्पन्न हुआ और यावत् जल में ही स्थित रहता है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए है, यावत् ईश्वर में ही स्थित है।

यह जो निर्ग्रन्थ श्रमणों (जैन मुनियों) द्वारा कथित, रचित और प्रकाशित आचारांग, सूत्रकृतांग आदि से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त गणिपिटक रूप (आचार्य के लिए पिटारे के समान) द्वादशांग है, यह सब मिथ्या है। ये सत्य नहीं है। ये वास्तविक पदार्थ का स्वरूप नही प्रकट करते।

ईश्वर कारणवादी इस प्रकार का मत धारण करते हैं, इसी मत की दूसरों को शिक्षा देते है और इसी मत की उपासना करते है। किन्तु जैसे पक्षी पींजरे को तोड़ने में समर्थ नही होता, उसी प्रकार ऐसी मान्यता वाले अर्थात् ईश्वर कारणवादी लोग अपने दु:खों का अन्त नही कर सकते।

ये ईश्वरवादी क्रिया, अक्रिया, यावत् नरक तथा नरक से भिन्न गतियों को (जिनका प्रथम पुरुष के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है) स्वीकार नहीं करते अतएव वे विविध प्रकार के सावद्य कर्म करके नाना प्रकार के कामभोगों का आरंभ करते हैं। वे अनार्य हैं और विपरीत श्रद्धा वाले हैं। इस प्रकार विपरीत श्रद्धा प्रतीति और रुचि रखते हुए वे न इधर के रहते है न उधर के बीच में ही कामभोगों के कीचड में फंसते हैं। यह ईश्वरकारणवादी तीसरे पुरुष के विषय में कहा गया है ॥ १२ ॥

**अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियतिवाइए त्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा जाव तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एग-**

तीए सद्धी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥

इह खलु दुवे पुरिसा भवंति-एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना । बाले पुण एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने-अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामिवा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, अहमेगमकासी, परो वा जं दुक्खइ वा, सोयइ वा, जूरइ वा, तिप्पइ वा, पीडइ वा, परितिप्पइ वा परो एवमकासी, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने। मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासी। परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासी। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने। से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छन्ति, ते एवं विहाणमागच्छन्ति, ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेन्ति, तंजहा-किरियाति वा जाव णिरएति वा अणिरएति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए।

एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अन्तरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए ॥ १३ ।

अर्थ-पूर्वोक्त चार पुरुषों में से चौथा पुरुष नियतिवादी कहलाता है। इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के आर्य, अनार्य सुरूप, कुरूप आदि मनुष्य रहते है उन मनुष्यों में एक राजा होता है और उस राजा की सभा होती है,

जिसमें सेनापति, सेनापति पुत्र प्रभृति होते हैं। राजा और राजसभा आदि का विवरण पहले के समान ही समझ लेना चाहिए।

उनमें कोई-कोई राजा आदि धर्म श्रद्धावान् होता है। श्रमण और ब्राह्मण उसे धर्मश्रद्धालु समझ कर उसके समीप जाने का विचार करते हैं और अपने माने हुए धर्म की शिक्षा देते हैं, यावत् उससे कहते हैं-मैंने जिस धर्म की शिक्षा दी है, वही सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त धर्म है। इस धर्म को ही आप सच्चा समझिए। वह धर्म इस प्रकार का है।

संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं-एक क्रियावादी है और दूसरा अक्रियावादी है अर्थात् एक क्रिया को स्वीकार करता है और दूसरा क्रिया का निषेध करता है। जो क्रिया को स्वीकार करता है और जो क्रिया को स्वीकार नहीं करता, यह दोनों पुरुष समान हैं वे दोनों एक ही अर्थ को तथा कारण को प्राप्त हैं, अतएव दोनों अज्ञानी हैं। वे अपने सुख और दु:ख को समझते हैं, अर्थात् यह मानते हैं कि मुझे जो सुख या दुःख होता है, उसका कारण काल, कर्म, ईश्वर आदि हैं मैं शारीरिक या मानसिक दु:ख पा रहा हूँ, शोक पा रहा हूँ, दुःख के कारण अपने को कोस रहा हूँ, शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ, पीड़ा अनुभव कर रहा हूँ, संतप्त हो रहा हूँ, इसका कारण मेरा कर्म अथवा ईश्वर आदि है। इसी प्रकार दूसरा जो दु:ख भुगत रहा है, शोक कर रहा है, आत्मा को कोस रहा है, शारीरिक शक्ति को नष्ट कर रहा है, पीड़ा पा रहा है, संतप्त हो रहा है, यह सब उसके कर्म का फल है। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष ईश्वर कर्म, काल आदि को सुख दु:ख का कारण समझ कर उन्हें सकारणक मानता है, अर्थात् सुख-दु:ख को कर्म आदि का फल समझता है।

इनके विपरीत, नियति को कारण समझने वाला बुद्धिमान् नियतिवादी ऐसा मानता है कि-मैं दु:ख शोक का अनुभव करता हूँ, झूरता हूँ, शरीर शक्ति को घटाता हूँ, पीडा पाता हूँ, संताप भोगता हूँ, सो मैंने ऐसा नहीं किया था, अर्थात् यह सब मेरे कर्म का फल नहीं है। इसी तरह दूसरा कोई पुरुष या ताप भोगता है सो वह उसके कर्म का फल नहीं है, किन्तु नियतिकृत है। (होनहार से उत्पन्न हुआ है।) इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष अपने तथा दूसरे के सुख-दु:ख को कर्म आदि द्वारा कृत न मान कर नियतिकृत ही मानता है, अन्य कारणों से जनित नहीं। मैं कहता हूँ-पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन्हें नियति के प्रभाव से ही शरीर की प्राप्ति होती है। नियति से ही वे एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होते हैं, नियति के कारण ही वे शरीर से अलग होते हैं-मरते हैं, नियति के प्रभाव से ही

तीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥

इह खलु दुवे पुरिसा भवंति-एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ । जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना । बाले पुण एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने-अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामिवा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, अहमेगमकासी, परो वा जं दुक्खइ वा, सोयइ वा, जूरइ वा, तिप्पइ वा, पीडइ वा, परितिप्पइ वा परो एवमकासी, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने । मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा, सोयामि वा, जूरामि वा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासी । परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासी । एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेन्ति कारणमावन्ने । से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एव संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छन्ति, ते एवं विहाणमागच्छन्ति, ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेन्ति, तंजहा-किरियाति वा जाव णिरएति वा अणिरएति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए ।

एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अन्तरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए ॥ १३ ।

अर्थ–पूर्वोक्त चार पुरुषों में से चौथा पुरुष नियतिवादी कहलाता है। इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के आर्य, अनार्य सुरूप, कुरूप आदि मनुष्य रहते हैं उन मनुष्यों में एक राजा होता है और उस राजा की सभा होती है,

अर्थ:—पूर्व, दक्षिण उत्तर, पश्चिम आदि दिशाओं में कई प्रकार के मनुष्य हैं, जैसे–कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते है, कोई कुलीन होते है, कोई अकुलीन होते है, कोई दीर्घकाय होते है तो कोई ह्रस्वकाय होते हैं, कोई सुन्दर वर्ण वाले और और कोई असुन्दर वर्ण वाले होते हैं, कोई मनोज्ञ रूप वाले और कोई अमनोज्ञ रूप वाले होते हैं। कोई जन-परिग्रह वाले होते है। कोई जनपद परिग्रह वाले होते हैं किसी के पास थोड़ा परिग्रह होता हैं, किसी के पास ज्यादा इस प्रकार विभिन्न कुलों में जन्म लेकर वे गृह-परिवार आदि का त्याग करके भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करने के लिए उद्यत होते है। कोई-कोई विद्यमान परिवार तथा धन-धान्य आदि सामग्री को त्याग कर भिक्षा वृत्ति अंगीकार करते है और कोई-कोई अविद्यमान परिवार तथा सम्पत्ति का त्याग कर भिक्षा जीवन धारण करते है ॥ १५ ॥

मूल—जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ, तंजहा–इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेन्ति, तंजहा-खेत्तं मे, वत्थू मे, हिरण्णं मे, सुवन्नं मे, धणं मे, कंसं मे, दूसं मे, विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे, एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं ॥ १६ ॥

अर्थ–जो लोग विद्यमान अथवा अविद्यमान कुटुम्ब-परिवार एवं धन-धान्य आदि सम्पत्ति को त्याग कर भिक्षुक बने है, उन्हें पहले ही ज्ञात होता है कि संसार में लोग अपने से भिन्न पदार्थों को भ्रमवश अपना समझ कर ऐसा मानते है कि खेत मेरा है, घर मेरा है, चांदी मेरी है, सोना मेरा है, धन मेरा है, धान्य मेरा है, कांसा मेरा है, वस्त्र मेरा है, विपुल धन स्वर्ण रत्न मणि मोती शंख-शिला मूंगा लाल-रत्न और उत्तम मणि आदि धन मेरा है। श्रुति मुखद शब्द करने वाले वीणा आदि, रूपवती स्त्री आदि सुगंधित द्रव्य, सुस्वाद भोजन आदि और कोमल स्पर्श करने वाले गद्दा आदि पदार्थ मेरे हैं, अर्थात् शब्दादि सभी इन्द्रिय-विषय मुझे प्राप्त है। यह सब काम-भोग की सामग्री मेरी है और मैं इनका स्वामी हूँ ॥ १६ ॥

से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा, अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो

अंधे लूले लंगड़े आदि होते हैं और नियति की बदौलत ही नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं।

श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं—यह नियतिवादी पुरुष क्रिया, अक्रिया, यावत् नरक और नरकेतर गतियां नहीं मानते। अतएव वे विविध प्रकार के कर्म—समारंभ करते हैं और कामभोग में आसक्त होते हैं। वास्तव में यह नियतिवादी अनार्य हैं और भ्रम में पड़े हुए हैं। ये न इस लोक के होते हैं, न परलोक के होते हैं, बीच में ही कामभोग के कीचड़ में फँसे रहते और दुःख उठाते हैं। यह चौथे पुरुष नियतिवादी का वर्णन है॥ १३॥

मूल—इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापन्ना, णाणाछंदा, णाणासीला, णाणादिट्ठी, णाणारूई, णाणारंभा णाणाअज्झवसाण-संजुत्ता, पहीणपुव्वसंजोगा, आरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा॥ १४॥

अर्थ:—नाना प्रकार की बुद्धि वाले, नाना अभिप्राय वाले, नाना प्रकार का आचरण करने वाले, नाना प्रकार की दृष्टि वाले, नाना प्रकार की रुचि वाले, नाना प्रकार के आरंभ करने वाले और नाना प्रकार का निश्चय करने वाले हैं। वे अपने माता-पिता आदि के पूर्व संयोग का त्याग कर चुके हैं, अर्थात् गृह त्यागी बन चुके हैं किन्तु आर्यजनों के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सके हैं। अतएव वे न इधर के रहे, न उधर के रहे हैं। बीच ही में कामभोगों में फँस कर दुःखी हो रहे हैं॥ १४॥

मूल—से बेमि-पाईणं वा जाव संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे, दुवन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे, तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति; तं०—अप्पयरा वा, भुज्जयरा वा। तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभि-भूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता। सतो वावि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता॥ असतो वावि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं, च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता॥ १५॥

न परियाइयति, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेय चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना, एवं विन्नू वेदणा ॥

इइ (इह) खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा, णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं णातिसंजोए विप्पजहति, णातिसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति । अन्ने खलु णातिसंजोगा, अन्नो अहमंसि । से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंजोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए एं वयं णातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो ॥

से मेहावी जाणेज्जा वहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा-हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, उरू मे, उदरं मे, सीसं मे, सीलं मे, आऊ मे, वलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खू मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ, तंजहा-आउओ, वलाओ, वण्णाओ, तयाओ, छायाओ, सोयाओ जाव फासाओ सुसंधितो संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाए भवइ । किण्हा केसा पलिया भवंति । तंजहा जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति । एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तंजहा-जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव ॥ १७ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष को पहले ही जान लेना चाहिए कि इस जीवन में जब मुझे किसी प्रकार का दुःख अथवा रोग उत्पन्न हो जाय, जो अनिष्ट हो, अकान्त हो, अप्रिय हो, अशुभ हो, अमनोज्ञ हो और अधिक पीड़ाप्रद हो, दुःख रूप हो तथा सुख रूप न हो, उस समय यदि मैं कहूँ–अहो भय से रक्षा करने वाले कामभोगो ! मेरे इस दुःख या रोग को थोड़ा तुम बांट लो । यह दुःख या रोग मुझे अनिष्ट, अकान्त अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमणाम है यह दुःख रूप है,सुख रूप नहीं है । मैं इस दुःख से दुखी हो रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, झूर रहा हूँ, कष्ट पा रहा हूँ, पीड़ित हो रहा हूँ, परिताप पा रहा हूँ । मुझे इस दुःख से या रोग से छुड़ा लो, जो अनिष्ट, अकान्त,

कामभोगाइं ! मम अन्नयरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, इमाओ मे अण्णयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह ! अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ, णो सुहाओ,एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ। इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा, णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि । से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो ॥

से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेतं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा- माया मे, पिया मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, पेसा मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, सुहा मे, पिया मे, सहा मे, सयणसंगंथसंथुया मे । एते खलु मम णायओ, अहमवि एतेसिं ॥

एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा-इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोगातंकं वा, जाव परितप्पामि वा । इमाओ मे अन्नयरातो दुक्खातो रोयातंकातो परिमोएह, अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ । एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ । तेसिं वावि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पन्तु वा, इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ । एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ । अन्नस्स दुक्खं अन्नो

धारण करूँ। ऐसा जानकर मैं ज्ञातिजनों के संयोग को त्याग दूँगा।

बुद्धिमान् मनुष्य को जानना चाहिए कि ज्ञातिजनों का संयोग तो बाहरी वस्तु है; उसकी अपेक्षा अधिक सन्निकट तो यह है; जैसे—मेरे हाथ है, मेरे पैर है, मेरी भुजाएँ है, मेरा उदर है, मेरा शिर है, मेरा आचार है, मेरी आयु है. मेरा बल है, मेरा वर्ण है, मेरी त्वचा है, मेरी कान्ति है, मेरा कान है, मेरा नेत्र है, मेरी नाक है. मेरी जिह्वा है, मेरी स्पर्श–इन्द्रिय है। इस प्रकार मनुष्य इन वस्तुओं को अपनी समझता है। किन्तु यह सब अवयव उम्र क्षीण होने पर क्षीण हो जाते हैं। मनुष्य आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय से हीन हो जाता है। उसकी सुदृढ संधियाँ ढीली पड जाती हैं। शरीर पर झुर्रियाँ पड जाती हैं। काले केश श्वेत हो जाते हैं। आहार से पुष्ट बनायी हुई यह उदार देह भी आखिर छोड देनी होगी। ऐसा जानकर भिक्षाचर्या (संयम) के लिए उद्यत हुआ भिक्षु लोक को दो प्रकार से जाने यथा-जीव और अजीव तथा त्रस और स्थावर।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थी का त्याग करके भी कई त्यागी अपनी मिथ्या श्रद्धा-प्ररूपणा के कारण पर का उद्धार करने में समर्थ नहीं होते। किन्तु जो महात्मा संसार के समस्त सचेतन-अचेतन पदार्थों का त्याग करके, जीव और अजीव के स्वरूप को समझ करके, संयम-परायण होते है, वही अपना और दूसरों का उद्धार करते हैं। यही पुष्करिणी के रूपक का फलितार्थ है ॥ १७ ॥

मूल—इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारभंति, अन्नेण वि समारंभावेन्ति, अण्णं पि समारभंतं समणुजाणंति।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा, ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेण वि परिगिण्हावेन्ति, अन्नं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा

अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, पीड़ाकारी, दुःख रूप एवं असुख रूप है। तो यह कामभोग के साधन धन-धान्य, स्वर्ण-रजत, महल-मकान आदि इस प्रार्थना को सुनकर और स्वीकार करके उस दुःख से मुक्त नहीं करते। ऐसा कभी नहीं होता। वास्तव में ये कामभोग के साधन मनुष्य को बचा नहीं सकते, शरण दे नहीं सकते। कभी-कभी पुरुष कामभोगों की सामग्री को पहले त्याग देता है, अर्थात् धन-धान्य आदि धरे रह जाते हैं और पुरुष परलोक की ओर प्रयाण कर जाता है। कभी-कभी कामभोग की सामग्री पुरुष को छोड़ कर चली जाती है, अर्थात् पुरुष बना रहता है परन्तु सुख के साधन समाप्त हो जाते हैं। अतएव कामभोग की सामग्री भिन्न है और मैं (आत्मा) भिन्न हूँ। ऐसी स्थिति में हम क्यों पर-पदार्थों में आसक्त हों? ऐसा विचार कर मैं धन-धान्य आदि सभी कामभोग के साधनों का परित्याग कर दूंगा।

बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी सोचना चाहिए कि यह धन, धान्य, महल, मकान आदि तो बाहर की वस्तुएँ हैं। इनकी अपेक्षा यह मेरे अधिक सन्निकट हैं। जैसे-मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरे भाई हैं, मेरी बहिन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्रियाँ हैं, मेरे सेवक हैं, मेरे नाती हैं, मेरी पुत्रवधू है, मेरा मित्र है, मेरे पहले के और बाद के संबंधी हैं, मेरे कुटुम्बी-ज्ञातिजन हैं और मैं भी इनका हूँ। पर बुद्धिमान् मनुष्य को विचारना चाहिए कि यदि मुझे कोई दुःख अथवा रोग उत्पन्न हो जाय जो अनिष्ट यावत् दुःखप्रद हो, और उस समय मैं इनसे कहूँ-भय से बचाने वाले कुटुम्बी जनो! मेरे इस अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख एवं रोग को बाँट कर ले लो। मैं इस अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख एवं रोग से दुखी हो रहा हूँ, शोकमय बन रहा हूँ, परितप्त हो रहा हूँ। मुझे इससे बचा लो! तो ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् कुटुम्ब-परिवार के जन न उस पीडा का बँटवारा करके ले सकते हैं और न मुझे उससे बचा ही सकते हैं। और कदाचित् उन भय से रक्षा करने वाले ( समझे जाने वाले ) कुटुम्बी जनों को कोई अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय तो मैं भी उन भयत्राताओं के दुःख या रोग को नहीं बँटा सकता, जिससे कि वे दुखी न हों और परितप्त न हों मैं उन्हें उस अनिष्ट तथा असुख रूप दुःख और आतंक से बचा नहीं सकता। इसका कारण यह है कि एक के दुःख को दूसरा नहीं बाँट सकता, एक के कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता। जीव अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है। अकेला ही त्याग करता है, अकेला ही उपार्जन करता है। सबको भिन्न-भिन्न ज्ञानोत्पत्ति होती है, सब की भिन्न-भिन्न चित्तवृत्ति होती है। अकेला ही विद्वान् होता है, अकेला ही सुख-दुख रूप वेदना का अनुभव करता है। कुटुम्ब-परिवार का संयोग जीव को शरणदाता नहीं है, रक्षा करने वाला भी नहीं है। या तो मनुष्य पहले ही ज्ञातिजनों के संयोग का त्याग कर देता है या ज्ञातिजनों का सयोग पुरुष को त्याग देता है। अतएव ज्ञातिजनों का संयोग भिन्न है और मैं भिन्न हूँ। ऐसी स्थिति में क्यों इसमें मूर्छा

धारण करूँ। ऐसा जानकर मैं ज्ञातिजनों के संयोग को त्याग दूँगा।

बुद्धिमान् मनुष्य को जानना चाहिए कि ज्ञातिजनों का संयोग तो बाहरी वस्तु है; उसकी अपेक्षा अधिक सन्निकट तो यह है; जैसे–मेरे हाथ है, मेरे पैर है, मेरी भुजाएँ है, मेरा उदर है, मेरा शिर है, मेरा आचार है, मेरी आयु है, मेरा बल है, मेरा वर्ण है, मेरी त्वचा है, मेरी कान्ति है, मेरा कान है, मेरा नेत्र है, मेरी नाक है मेरी जिह्वा है, मेरी स्पर्श–इन्द्रिय है। इस प्रकार मनुष्य इन वस्तुओं को अपनी समझता है। किन्तु यह सब अवयव उम्र क्षीण होने पर क्षीण हो जाते हैं। मनुष्य आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय से हीन हो जाता है। उसकी सुदृढ संधियाँ ढीली पड जाती हैं। शरीर पर झुर्रियाँ पड जाती हैं। काले केश श्वेत हो जाते हैं। आहार से पुष्ट बनायी हुई यह उदार देह भी आखिर छोड देनी होगी। ऐसा जानकर भिक्षाचर्या (संयम) के लिए उद्यत हुआ भिक्षु लोक को दो प्रकार से जाने यथा-जीव और अजीव तथा त्रस और स्थावर।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थी का त्याग करके भी कई त्यागी अपनी मिथ्या श्रद्धा-प्ररूपणा के कारण पर का उद्धार करने में समर्थ नही होते। किन्तु जो महात्मा संसार के समस्त सचेतन-अचेतन पदार्थों का त्याग करके, जीव और अजीव के स्वरूप को समझ करके, संयम-परायण होते हैं, वही अपना और दूसरो का उद्धार करते हैं। यही पुष्करिणी के रूपक का फलितार्थ है ॥ १७ ॥

मूल—इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारभंति, अन्नेण वि समारंभावेन्ति, अण्णं पि समारभंतं समणुजाणंति।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा, ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेण वि परिगिण्हावेन्ति, अन्नं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा। अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा

अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, पीड़ाकारी, दुःख रूप एवं असुख रूप है। तो वह कामभोग के साधन धन-धान्य, स्वर्ण-रजत, महल-मकान आदि इस प्रार्थना को सुनकर और स्वीकार करके उस दुःख से मुक्त नहीं करते। ऐसा कभी नहीं होता। वास्तव में ये कामभोग के साधन मनुष्य को बचा नहीं सकते, शरण दे नहीं सकते। कभी-कभी पुरुष कामभोगों की सामग्री को पहले त्याग देता है, अर्थात् धन-धान्य आदि धरे रह जाते हैं और पुरुष परलोक की ओर प्रयाण कर जाता है। कभी-कभी कामभोग की सामग्री पुरुष को छोड़ कर चली जाती है, अर्थात् पुरुष बना रहता है परन्तु सुख के साधन समाप्त हो जाते हैं। अतएव कामभोग की सामग्री भिन्न है और मैं (आत्मा) भिन्न हूँ। ऐसी स्थिति में हम क्यों पर-पदार्थों में आसक्त हों ? ऐसा विचार कर मैं धन-धान्य आदि सभी कामभोग के साधनों का परित्याग कर दूंगा।

बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी सोचना चाहिए कि यह धन, धान्य, महल, मकान आदि तो बाहर की वस्तुएं हैं। इनकी अपेक्षा यह मेरे अधिक सन्निकट है। जैसे-मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरे भाई है, मेरी बहिन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्रियां है, मेरे सेवक है, मेरे नाती है, मेरी पुत्रवधू है, मेरा मित्र है, मेरे पहले के और बाद के संबंधी है, मेरे कुटुम्बी-ज्ञातिजन है और मैं भी इनका हूँ। पर बुद्धिमान् मनुष्य को विचारना चाहिए कि यदि मुझे कोई दुःख अथवा रोग उत्पन्न हो जाय जो अनिष्ट यावत् दुःखप्रद हो, और उस समय मैं इनसे कहूँ-भय से बचाने वाले कुटुम्बी जनो ! मेरे इस अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख एवं रोग को बाँट कर ले लो। मैं इस अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख एवं रोग से दुखी हो रहा हूँ, शोकमय बन रहा हूँ, परितप्त हो रहा हूँ। मुझे इससे बचा लो ! तो ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् कुटुम्ब-परिवार के जन न उस पीडा का बँटवारा करके ले सकते हैं और न मुझे उससे बचा ही सकते हैं। और कदाचित् उन भय से रक्षा करने वाले ( समझे जाने वाले ) कुटुम्बी जनों को कोई अनिष्ट यावत् असुख रूप दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय तो मैं भी उन भयत्राताओ के दुःख या रोग को नहीं बँटा सकता, जिससे कि वे दुखी न हों और परितप्त न हों मैं उन्हें उस अनिष्ट तथा असुख रूप दुःख और आतंक से बचा नहीं सकता। इसका कारण यह है कि एक के दुःख को दूसरा नहीं बाँट सकता, एक के कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता। जीव अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है। अकेला ही त्याग करता है, अकेला ही उपार्जन करता है। सबको भिन्न-भिन्न ज्ञानोत्पत्ति होती है, सब की भिन्न-भिन्न चित्तवृत्ति होती है। अकेला ही विद्वान् होता है, अकेला ही सुख-दुख रूप वेदना का अनुभव करता है। कुटुम्ब-परिवार का संयोग जीव को शरणदाता नहीं है, रक्षा करने वाला भी नहीं है। या तो मनुष्य पहले ही ज्ञातिजनों के संयोग का त्याग कर देता है या ज्ञातिजनों का संयोग पुरुष को त्याग देता है। अतएव ज्ञातिजनों का संयोग भिन्न है और मैं भिन्न हूँ। ऐसी स्थिति में क्यों इसमें मूर्छा

से विरत नहीं हुए हैं और शुद्ध संयम का पालन नहीं करते हैं। अतएव वे पहले के समान ही हैं। अतएव साधुओं को ऐसे पुरुषों की नेश्राय लेना चाहिए। अर्थात् अनारंभी-अपरिग्रही बनकर धर्म साधना के कारणभूत शरीर का निर्वाह करने के लिए आवश्यक आहार आदि उनसे ही प्राप्त करना चाहिए।

गृहस्थ आरंभ-परिग्रह से युक्त होते हैं और कोई-कोई श्रमण तथा ब्राह्मण भी आरंभ परिग्रह से युक्त होते हैं, वे आरंभ और परिग्रह-इन दोनों से पाप-कर्म का उपार्जन करते हैं ऐसा जानकर साधु को आरंभ और परिग्रह-दोनों से दूर रह कर संयम का पालन करना चाहिए।

मैं ऐसा कहता हूँ-पूर्व आदि दिशाओं से आया हुआ जो भिक्षु आरंभ और परिग्रह से रहित है, वही कर्म के रहस्य को जानता है, वही कर्मबंध से रहित हो सकता है और वही कर्मों का या जन्म-मरण का अन्त करता है। ऐसा श्रीतीर्थंकर देव ने फरमाया है ॥ १८ ॥

मूल—तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाय हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढवीकाए जाव तसकाए। से जहाणामए मम असायं दंडेण वा, मुट्ठीणं अट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा, तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा, परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्जमाणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि। इच्चेवं जाण सव्वे जीवा, सव्वे भूता, सव्वे पाणा, सव्वे सत्ता, दंडेण वा जाव कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणा वा, हम्ममाणा वा, तज्जिज्जमाणा वा, ताडिज्जमाणा वा, परियाविज्जमाणा वा, किलामिज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

से बेमि—जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता, सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेन्ति,

सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो। कस्स णं तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं। अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव।

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहओ पावाइं कुव्वंति, इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा।

से बेमि पाईणं वा जाव एवं से परिण्णायकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से विअंतकारए भवतीति मक्खायं ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवों के उपमर्दक कौन होते हैं, सो बतलाते हैं—जगत् में गृहस्थ आरंभ और परिग्रह से युक्त है, अर्थात् वे जीवहिंसाकारी व्यापार, कृषि आदि कार्य करते हैं तथा सचित्त और अचित्त परिग्रह के धारक होते हैं। इन गृहस्थों के सिवाय कोई-कोई श्रमण तथा ब्राह्मण भी आरंभ तथा परिग्रह से युक्त होते हैं, क्योकि वे भी जल स्नान, अग्नि तप तथा कंदमूल आदि वनस्पतिभक्षण वगैरह सावद्य क्रियाएँ करते हैं और परिग्रह भी रखते हैं। वे त्रस और स्थावर जीवों का स्वयं आरंभ करते हैं, दूसरो से भी आरंभ करवाते हैं और आरंभ करते हुए का अनुमोदन भी करते हैं।

जगत् में गृहस्थ आरंभी और परिग्रही होते हैं तथा कोई-कोई श्रमण तथा ब्राह्मण भी आरंभी और परिग्रही होते हैं। वे सचित्त तथा अचित्त कामभोगों को स्वय ग्रहण करते है, दूसरो से भी ग्रहण करवाते है और ग्रहण करते हुए की अनुमोदना करते हैं।

जगत् में गृहस्थ आरंभ और परिग्रह से युक्त होते है, पर कोई-कोई श्रमण और ब्राह्मण भी गृहस्थों के समान आरंभ परिग्रह से युक्त होते हैं। मैं अनारंभी और अपरिग्रही साधु हूँ। इसलिये आरंभी और परिग्रही गृहस्थ तथा जो आरंभ-परिग्रह के धारक श्रमण एव ब्राह्मण है, उन्ही की नेश्राय से ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम का पालन करूँगा। यहा शिष्य प्रश्न करता है आरंभी-परिग्रही गृहस्थों तथा आरंभी परिग्रही श्रमणो-ब्राह्मणों की नेश्राय से संयम पालने का क्या प्रयोजन है ? आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—जैसे गृहस्थ पहले और पीछे भी आरंभ-परिग्रह से युक्त होते हैं, वैसे ही वे श्रमण तथा ब्राह्मण भी दीक्षा धारण करने से पहले भी दीक्षा के पश्चात् भी आरंभ-परिग्रह से युक्त होते हैं। स्पष्ट है कि ये लोग आरंभ और परिग्रह

न लगावे, दवा लेकर वमन न करे, वस्त्र आदि को सुगंधित करने के लिए धूप न लगावे या खांसी आदि मिटाने के लिए धूम्रपान न करे ॥ २० ॥

मूल—से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोहे, उवसंते, परिनिव्वुडे, णो आसंसं पुरतो करेज्जा। इमेण मे दिट्ठेण वा, सुएण वा, मएण वा, विन्नाएण वा, इमेण वा सुचरिय-तवनियमबंभचेरवासेण, इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं, इओ चुए पेच्चा देवे सिया, कामभोगाण वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया ॥ २१ ॥

अर्थ—साधु सावद्य क्रियाओं से रहित, अहिंसक, क्रोधहीन, मानहीन, मायाहीन लोभहीन, उपशान्त तथा समाधि से युक्त हो। ऐसा साधु परलोक के सुखों की कामना न करे। यह न सोचे कि-मैंने जो देखा है, शास्त्र आदि सुना है, मनन किया है, विशेष रूप से अभ्यास किया है, अथवा मैंने जो तप नियम एवं ब्रह्मचर्य का उत्तम आचरण किया है, अथवा संयम-निर्वाह के लिए ही शुद्ध-निर्दोष आहार ग्रहण किया है, इन सबके फलस्वरूप जब मैं शरीर त्याग कर परभव में जाऊँ तो देव होऊँ, विविध प्रकार के कामभोग मेरे अधीन हों, मैं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियां प्राप्त करूँ, मैं सब प्रकार के दुःखों और अशुभों से रहित होऊँ। तपश्चरण करने से कदाचित् इच्छित अर्थ की सिद्धि होती है, कदाचित् नहीं भी होती। अतएव साधु को ऐसी इच्छा नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

मूल—से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए, रूवेहिं अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते, उवट्ठिए, पडिविरते से भिक्खू ॥ २२ ॥

अर्थ—जो शब्द रूप गंध रस और स्पर्श रूप पांचों इन्द्रियों के विषयों में मूर्छित न हो, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य परपरिवाद, अरति, रति, मायामृषा (कपट युक्त मिथ्या भाषण) और मिथ्यादर्शन शल्य

एवं परूवेन्ति-सव्वे-पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेदिए ॥ १९ ॥

अर्थ–तीर्थंकर भगवान् ने षट्जीवनिकाय (की हिंसा) को कर्मबंध का कारण कहा है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, यह छह काय हैं। जैसे कोई मुझे डंडे से, अस्थि से, मुट्ठी से, ढेले से अथवा ठीकरे से मारता है, कोड़े आदि से पीटता है, तर्जना करता है, ताड़ना करता है, सताता है, क्लेश पहुँचाता है या उपद्रव करता है, तो इससे मुझे दुःख होता है। यहां तक कि अगर कोई मेरा एक रोम उखाड़ता है तो भी मुझे दुःख और भय उत्पन्न होता है। यही बात सब जीवों, सब भूतों, सब प्राणियों और सब सत्वों के विषय में समझनी चाहिए। वे भी डंडे से यावत् ठीकरी से मारे जाते हैं, हनन किये जाते हैं, तर्जित किये जाते हैं, ताड़ित किये जाते हैं, परितप्त किये जाते हैं, सताये जाते हैं, उन्हें उपद्रव किया जाता है, यहां तक कि उनका रोम उखाड़ा जाता है, तो उन्हें भी दुःख होता है, भय होता है। इस प्रकार अपनी वेदना के समान ही समस्त प्राणियों एवं सत्वों की वेदना जानकर उनका हनन नहीं करना चाहिए, जबर्दस्ती काम में नहीं नियुक्त करना चाहिए, अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए, उपद्रव नहीं करना चाहिए।

इसलिए मैं कहता हूँ–अतीत काल में जो तीर्थंकर हो गये हैं वर्त्तमान में जो हैं और आगामी काल में जो होंगे, वे ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं, ऐसा उपदेश देते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि सब प्राणियों यावत् सत्वों को हनन नहीं करना चाहिए, उद्वेग नहीं उपजाना चाहिए, काय से अलग नहीं करना चाहिए, उन्हें बलात् काम में नहीं लगाना या अधीन नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा धर्म अटल है, नित्य है, शाश्वत है। सम्पूर्ण लोक को केवल-ज्ञान से जानकर तीर्थंकर भगवान् ने इस धर्म का उपदेश किया है ॥ १९ ॥

मूल—एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायातो जाव विरते, परिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा ॥ २० ॥

अर्थ–इस प्रकार के धर्म को जानकर प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त साधु दातुन से दांतों का प्रक्षालन न करे, न आँखों में अंजन

ीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं तं चेतियं सिया, तं णो सयं भुंजइ, णो अण्णेण भुंजावेति, अन्नं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥ २६ ॥

अर्थ—साधु को ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ ने अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य किसी साधर्मिक साधु के लिए प्राणियों, भूतों जीवों और सत्वों की हिंसा करके, उसको उद्देश्य करके बनाया है, खरीदा है, उधार लिया है, बलात्कार से छीना है, स्वामी की आज्ञा बिना लिया है, सन्मुख लाकर दिया है अथवा साधु के लिए किया है, तो साधु उसे ग्रहण न करे। कदाचित् अनजान में ले लिया हो तो साधु उसे स्वयं न खावे, दूसरे को भी न खिलावे और खाने वाले को अच्छा भी न जाने। इस प्रकार जो कर्मबंध के महान् कारणों से निवृत्त हो चुका है, जो शुद्ध संयम का पालन करता है और जो पाप-कर्म से विरत हो गया है, वही साधु कहलाता है ॥ २६ ॥

मूल—से भिक्खू अह पुणेवं जाणिज्जा-तं विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठा ते वेइयं सिया, तंजहा-अप्पणो पुत्ता इणट्ठाए जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इह एतेसिं माणवाणं भोयणाए तत्थ भिक्खू परकडं परणिट्ठितमुग्गमुप्पायणे-सणासुद्धं सत्थाईयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा। अण्णं अण्णकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले ॥ २७ ॥

अर्थ—यदि साधु को ऐसा मालूम हो कि गृहस्थ ने जिनके निमित्त आहार बनाया है, वे साधु नहीं दूसरे हैं, यथा—अपने पुत्र आदि के लिए, यावत् अतिथि के लिए, अथवा अन्य स्थान पर भेजने के लिए, संध्या के भोजन के लिए, प्रातःकालीन भोजन के लिए गृहस्थ ने भोजन तैयार किया है या दूसरे लोगों के लिए आहार का संचय किया है, ता साधु उस दूसरे के द्वारा और दूसरे के निमित्त बनाये हुए, उद्गम उत्पादना और एषणा के दोषों से रहित, अचित्त शस्त्रपरिणत, भिक्षा द्वारा प्राप्त, साधु के वेष के कारण मिले हुए, बहुत घरों से लिये हुए, प्रमाणयुक्त आहार को ग्रहण करे। जैसे गाड़ी चलाने के लिए पहिये में तेल डाला जाता है, अथवा जैसे घाव पर लेप किया जाता है, उसी प्रकार

रूप आस्रव के महान् कारणों से निवृत्त हो गया हो, जो संयम में और पाप से निवृत्त हो वही वास्तव में साधु कहलाता है ॥ २२ ॥

मूल—जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ, णो वाऽण्णेहिं समारंभावेन्ति, अन्ने समारभंने चि न समणुजाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंत, उवट्ठिए, पडिविरते से भिक्खू ॥२३॥

अर्थ—ये जो त्रस और स्थावर प्राणी है, उनकी जो, स्वयं हिंसा नहीं करता दूसरे से हिंसा नही करवाता और हिंसा करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करता, अतएव जो महान कर्मबंध के कारण से मुक्त हो गया है, संयम में स्थित है और पाप से निवृत्त हो चुका है, वही साधु कहलाता है ॥ २३ ॥

मूल—जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा, ते णो सयं परिगिण्हंति, णो अन्नेणं परिगिण्हावेन्ति, अन्न परिगिण्हंतं पि ण समणुजाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते, उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू ॥ २४ ॥

अर्थ-ये जो सचित्त और अचित्त कामभोग है अर्थात् कामभोग की सामग्री है, उसे जो स्वयं ग्रहण नही करते, दूसरों से ग्रहण नही कराते और ग्रहण करते हुए को अच्छा नही जानते और इस कारण जो महान् कर्मबंध से निवृत्त हो, शुद्ध संयम में स्थित हो और पाप-कर्म से निवृत्त हो चुका हो, वही साधु कहलाता है ॥ २४ ॥

मूल—जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेति, णो अण्णाणं कारवेति, अन्नं पि करेंतं ण समणुजाणइ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते, उवट्ठिए पडिविरते (से भिक्खु) ॥ २५ ॥

अर्थ-संसार-भ्रमण का कारण आदि आठ प्रकार का कर्मबंध जिससे होता है, ऐसा साम्परायिक क्रिया जो स्वय नही करता है, दूसरे से भी नही करवाता है, तथा करने वाले को अच्छा भी नही जानता है, इस कारण जो महान् कर्मबध से हट गया है जो शुद्ध संयम में स्थित है और जो पाप से निवृत्त हो चुका है, वही साधु कहलाता है ॥ २५ ॥

मूल—से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं

गता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, से एवं सव्वत्ताए परि-
निव्वुडत्ति बेमि ॥ ३० ॥

अर्थ-जो वीर पुरुष ऐसे साधु के मुख से धर्म को श्रवण करके, हृदय में धारण करके धर्म का आचरण करने के लिए उद्यत होते हैं और इस जिन धर्म में प्राप्त होते हैं, वे धर्म निष्ठ जीव सब पापों से निवृत्त हो जाते हैं, पूर्ण शान्ति प्राप्त करते हैं और निर्वाण प्राप्त करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ ॥ ३० ॥

मूल-एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने से जहेयं बुइयं अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं, अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उव-संते समिए सहिए सया जाए; सेवं वयणिज्जे, तंजहा-समणेति वा, माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीर-ट्ठीति वा चरणकरणपारविउ त्ति बेमि ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न धर्म का अर्थी, धर्म का ज्ञाता, संयम में निष्ठ साधु पूर्वोक्त चार पुरुषों से भिन्न पांचवां है। वह श्रेष्ठ पुण्डरीक को प्राप्त हो अथवा न हो, अर्थात् राजा आदि का उद्धार करे अथवा न करे ( वह स्वयं अपना उद्धार करता ही है। ) ऐसा कर्म के स्वरूप को जानने वाला, परिग्रह के स्वरूप को जानने वाला तथा गृहवास को दोषों का कारण जानने वाला, उपशम भाव को प्राप्त, समि-तियों से युक्त, सम्यग्ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न तथा सदैव यतनावान् साधु इन शब्दों का वाच्य होता है, जैसे-श्रमण, माहन, क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी तथा चरणकरणपारवेत्ता ( मूलगुणों और उत्तर गुणों का परिपूर्ण ज्ञाता ॥ ३१ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

## इति पोंडरीयज्झयणं समत्तं ॥

साधु संयम के निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करे। जैसे सांप सीधा बिल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार साधु स्वाद न लेता हुआ आहार को अपने पेट में डाल ले। इस प्रकार साधु अनासक्त भाव से अन्न के समय अन्न, पानी के समय पानी, वस्त्र के समय वस्त्र, उपाश्रय के समय उपाश्रय और शयन के समय शयन को ग्रहण करता हुआ विचरे।२७।

से भिक्खू मायन्ने अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने, धम्मं आइक्खे, विभए, किट्टे; उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, सुस्सूसमाणेसु पवेदए। संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणुतिवातियं, सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं जाव सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं ॥ २८ ॥

अर्थ—साधु-धर्म की मर्यादा का ज्ञाता साधु किसी भी दिशा अथवा विदिशा में जाकर धर्म का उपदेश करे, धर्म के विभाग करके समझावे और धर्म का कीर्त्तन करे। जो धर्म को श्रवण करने की इच्छा से या कुतूहल से उपस्थित हुए हों, उन्हें धर्म का उपदेश दे। शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच (निर्लोभता), सरलता, मृदुता, कर्म की लघुता, अहिंसा आदि धर्म का उपदेश करे और समस्त भूतों यावत् सत्वों के हित का चिन्तन करता हुआ धर्म का कीर्त्तन करे ॥ २८ ॥

मूल—से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार का धर्म का उपदेश करता हुआ साधु अन्न के लिए धर्मोपदेश न करे, पान के लिए धर्मोपदेश न करे, वस्त्र के लिए धर्मोपदेश न करे, स्थान के लिए धर्मोपदेश न करे, शय्या के लिए धर्मोपदेश न करे विविध प्रकार के कामभोग प्राप्त करने के लिए धर्मोपदेश न करे, ग्लानि न करता हुआ प्रसन्नता के साथ धर्मोपदेश करे, केवल कर्मों की निर्जरा के लिए धर्मोपदेश करे ॥ २९ ॥

मूल—इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया, ते एवं सव्वोव-

(१०) मित्तदोसवत्तिए (११) मायावत्तिए (१२) लोभवत्तिए (१३) इरियावहिए ॥ २ ॥

अर्थ–इन दोनों स्थानकों में पहला जो अधर्म स्थानक नामक विभाग है, उसका अभिप्राय इस प्रकार है–इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें कोई आर्य, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्रीय ( कुलीन ) होते हैं, कोई नीचगोत्रीय (अकुलीन) होते हैं, कोई विशालकाय होते हैं, कोई लघुकाय होते हैं, कोई सुन्दर वर्ण वाले और कोई असुन्दर वर्ण वाले होते हैं, कोई सुन्दर रूप वाले और कोई कुरूप होते हैं।

इन मनुष्यों में सावद्य अनुष्ठान का संकल्प होता है, यह देख कर नारक तिर्यंच मनुष्य और देवगति में जो प्राणी वेदना को जानते और अनुभव करते* हैं, उनमें यह तेरह क्रियास्थान होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है, तेरह स्थान इस प्रकार हैं.–

(१) अर्थदंड–प्रयोजन होने पर पापक्रिया करना (२) अनर्थदंड–बिना प्रयोजन पापाचरण करना (३) हिंसादंड–प्राणियों का हनन करना (४) अकस्मात् दंड–दूसरे के अपराध से दूसरे को दंड देना (५) दृष्टिविपर्यास दंड–दृष्टि की विपरीतता से किसी को दंड देना (६) मृषावाद-प्रत्ययिक असत्य की स्थापना करना, सत्य को छिपाना (७) अदत्तादान-प्रत्ययिक–स्वामी की आज्ञा बिना उसकी वस्तु ग्रहण करना (८) अध्यात्म-प्रत्ययिक–अन्तःकरण में अशुभ विचार करना (९) मानप्रत्ययिक–जाति कुल आदि का अभिमान करके दूसरों को हीन समझना (१) मित्रद्वेष प्रत्ययिक–मित्र के साथ द्वेष करना, उसे ठगना (११) मायाप्रत्ययिक–कपटाचार करना (१२) लोभप्रत्ययिक–लोभ करना (१३) ईर्याप्रत्ययिक–उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी हलन–चलन आदि क्रिया से साधारण कर्मबंध होना ॥ २ ॥

मूल—पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा, आगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा, जक्खहेउं वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणइ। एवं खलु तस्स

* संज्ञी जीव वेदना वेदते भी हैं और जानते भी हैं, सिद्ध वेदना को जानते हैं, वेदते नहीं, असंज्ञी वेदना वेदते हैं, जानते नहीं, अजीव न वेदना को जानते हैं, न वेदते हैं। इनमें से पहले और चौथे भांगे का यहां वर्णन किया है।

# क्रियास्थान नामक दूसरा अध्ययन

मूल–सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पएणत्ते । तस्स णं अयमट्ठे-इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तंजहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव ॥ १ ॥

*अर्थ—श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं–हे आयुष्मन् ! क्रिया का स्वरूप बतलाने वाला क्रिया स्थान नामक अध्ययन श्री श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया है । उसे मैंने सुना है । जैसा मैंने सुना है वैसा ही उसका अर्थ तुम्हें कहता हूँ । संसार में संक्षेप से दो स्थानक हैं–(१) धर्म स्थानक और (२) अधर्म स्थानक; अथवा (१) उपशान्त तथा (२) अनुपशान्त स्थानक ।*

मूल–तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पएणत्ते-इह खलु पाईणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवएणा वेगे दुव्वएणा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे ॥

तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए तंजहा णेरइएसु वा, तिरिक्खजोणिएसु वा, मणुस्सेसु वा, देवेसु वा, जे जावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति ॥ तेसिं पि य णं इमाइं तेरसकिरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं; तंजहा–(१) अट्ठादंडे (२) अणट्ठादंडे (३) हिंसादंडे (४) अकम्हादंडे (५) दिट्ठिविपरियासियादंडे (६) मोसवत्तिए (७) अदिएणादाणवत्तिए (८) अज्झत्थवत्तिए (९) माणवत्तिए

(१०) मित्तदोसवत्तिए (११) मायावत्तिए (१२) लोभवत्तिए (१३) इरियावहिए ॥ २ ॥

अर्थ–इन दोनों स्थानकों में पहला जो अधर्म स्थानक नामक विभाग है, उसका अभिप्राय इस प्रकार है-इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें कोई आर्य, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्च-गोत्रीय ( कुलीन ) होते है, कोई नीचगोत्रीय (अकुलीन) होते है, कोई विशालकाय होते है, कोई लघुकाय होते है, कोई सुन्दर वर्ण वाले और कोई असुन्दर वर्ण वाले होते हैं, कोई सुन्दर रूप वाले और कोई कुरूप होते है।

इन मनुष्यो में सावद्य अनुष्ठान का संकल्प होता है, यह देख कर नारक तिर्यंच मनुष्य और देवगति में जो प्राणी वेदना को जानते और अनुभव करते* है, उनमें यह तेरह क्रियास्थान होते है, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है, तेरह स्थान इस प्रकार हैं.–

(१) अर्थदंड–प्रयोजन होने पर पापक्रिया करना (२) अनर्थदंड–बिना प्रयोजन पापाचरण करना (३) हिंसादंड–प्राणियों का हनन करना (४) अकस्मात् दंड–दूसरे के अपराध से दूसरे को दंड देना (५) दृष्टिविपर्यास दंड–दृष्टि की विपरीतता से किसी को दंड देना (६) मृषावाद प्रत्ययिक असत्य की स्थापना करना, सत्य को छिपाना (७) अदत्तादान–प्रत्ययिक–स्वामी की आज्ञा बिना उसकी वस्तु ग्रहण करना (८) अध्यात्म-प्रत्ययिक–अन्तःकरण में अशुभ विचार करना (९) मानप्रत्ययिक–जाति कुल आदि का अभिमान करके दूसरों को हीन समझना (१) मित्रद्वेष प्रत्ययिक–मित्र के साथ द्वेष करना, उसे ठगना (११) मायाप्रत्ययिक–कपटाचार करना (१२) लोभप्रत्ययिक–लोभ करना (१३) ईर्याप्रत्ययिक–उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी हलन–चलन आदि क्रिया से साधारण कर्मबंध होना ॥ २ ॥

मूल—पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा, आगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा. जक्खहेउं वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणइ। एवं खलु तस्स

* संज्ञी जीव वेदना वेदते भी है और जानते भी है, सिद्ध वेदना को जानते हैं, वेदते नहीं, असंज्ञी वेदना वेदते हैं, जानते नहीं, अजीव न वेदना को जानते है, न वेदते है। उनमें से पहले और चौथे भांगे का यहां वर्णन किया है।

तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त तेरह क्रिया-स्थानों में पहला क्रियास्थान अर्थदंडप्रत्ययिक कहलाता है । जो कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञाति के लिए, घर के लिए, परिवार के लिए, मित्र के लिए अथवा नागकुमार, भूत या यक्ष के लिए स्वयं त्रस या स्थावर जीवों की घात करता है, अन्य से घात करवाता है अथवा घात करने वाले को अच्छा जानता है, तो उसे सावद्य कर्म का बंध होता है । उस बंध को अर्थदंडप्रत्ययिक स्थान कहा है ॥ ३ ॥

मूल—अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहाणामए केइ पुरिसे, जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए, णो अजिणाए, णो मंसाए, णो सोणियाए, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणिए अट्ठिए अट्ठिमंजाए, णो हिंसिंसु मेत्ति णो हिंसंति मेत्ति णो हिंसिस्सति मेत्ति णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपरिवूहणताए, णो समणमाहणवत्तणाहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ।

से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा—इक्कडा इ वा, कडिणा इ वा, जंतुगा इ वा परगा इ वा, मोक्खा इ वा तणा इ वा कुसा इ वा, कुच्छगा इ वा, पव्वगा इ वा, पलाला इ वा, ते णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपडिवूहणयाए, णो समणमाहणपोसणयाए णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ।

से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा

वर्णसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणइ, अणट्ठादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ ४ ॥

अर्थ—अब दूसरा अनर्थदंडप्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। कोई पुरुष त्रस प्राणियों को अपने शरीर की रक्षा के लिए, चमड़े के लिए, मांस के लिए या रुधिर के लिए नहीं मारता, इसी प्रकार कलेजे के लिए, पित्त, चर्बी, पांख, पूंछ, बाल या सींग के लिए अथवा विषाण, दांत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी या मज्जा के लिए भी नहीं मारता, अथवा इसने मेरे किसी संबंधी को मारा है, मारता है या मारेगा, इस विचार से भी नहीं मारता, पुत्र के पोषण, पशु के पोषण या गृह की मरम्मत के लिए भी नहीं मारता, श्रमण या ब्राह्मण की जीविका के लिए या अपने शरीर ( प्राणों ) की रक्षा के लिए भी नहीं मारता, किन्तु वह मूर्ख विना ही प्रयोजन प्राणियों की हिंसा करता है, उनका छेदन-भेदन करता है, उन्हें काटता है, उनका चमड़ा या नेत्र उखाड़ता है, उपद्रव करता है, वह पुरुष विवेक को त्याग कर इस प्रकार निष्प्रयोजन प्राणियों को दंड देकर उनके वैर का पात्र बनता है। यह ( त्रस जीव सम्बन्धी ) अनर्थदंड कहा।

कोई प्राणी इन स्थावरजीवों को बिना प्रयोजन दंड देता है; जैसे—इक्कड़ ( विशेष प्रकार का घास ), कठिन ( कड़व ), जंतुक ( वंशतृण ), परक, मुस्ता, तृण, कुश, कुच्छक, पर्वक तथा पलाल आदि वनस्पतिकाय को दंड देता है सो पुत्र के पोषण, पशु के पोषण, घर की रक्षा या श्रमण-माहन के पोषण के लिए दंड नहीं देता, यह उसके शरीर की रक्षा के लिए उपयोगी नहीं होती, फिर भी वह उनका छेदन-भेदन करता है, खंडन करता है, मर्दन करता है। ऐसा मनुष्य विवेक का परित्याग करके व्यर्थ ही प्राणियों की हिंसा करके उनके वैर का भाजन बनता है। यह (वनस्पतिकाय सम्बन्धी) अनर्थदंड है।

कोई पुरुष कछार पर, ह्रद पर, किसी अन्य जलाशय पर, घास के ढेर पर, नदी आदि से वेष्टित स्थान पर, अंधेरे में, गहन स्थान में, दुष्प्रवेश स्थान पर, जंगल में, जंगल के विषम प्रदेश में, पर्वत के किसी विषम प्रदेश में घास-फूस इकट्ठा करके आग जलाता है, दूसरे से जलवाता है या जलाने वाले को अच्छा जानता है, वह निष्प्रयोजन हिंसा करता है। उस पुरुष को अनर्थदंडप्रत्ययिक पाप का बंध होता है। यह अनर्थदंडप्रत्ययिक नामक दूसरा क्रियास्थान कहा गया ॥ ४ ॥

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा, अन्नं वा अन्निं वा हिंसिंसु वा, हिंसइ वा, हिंसिस्सइ वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणइ, हिंसादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिए॥ ५॥

अर्थ—अब हिंसादंडप्रत्ययिक नामक तीसरा क्रिया स्थान कहा जाता है। 'इसने मुझ को अथवा मेरे संबंधी को, दूसरे को अथवा दूसरे के संबंधी को मारा था, यह मार रहा है या मारेगा' ऐसा समझ कर कोई पुरुष किसी त्रस या स्थावर जीव को स्वयं दंड देता है, अन्य से दंड दिलाता है, अथवा दड देने वाले को अच्छा जानता है, उसे हिंसादंडप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बंध होता है। यह हिंसादंडप्रत्ययिक नामक तीसरा क्रिया स्थान कहा गया।

तात्पर्य यह है कि सिंह, सर्प, वृश्चिक आदि को दूसरों का हिंसक जान कर कई लोग मार डालते हैं, वे इस तीसरे क्रियास्थान के भागी होते हैं॥ ५॥

मूल—अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता, एए मियत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा। स मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, चडगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविं वा, कविंजलं वा विंधित्ता भवइ। इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अण्णं फुसति, अकम्हादंडे॥

से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अण्णयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, सेस ममगं तणगं कुमुदुगं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए

अन्नं फुसति, अकम्हादंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ ॥ चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिए आहिए ॥ ६ ॥

अर्थ—अब अकस्मात्दंडप्रत्ययिक नामक चौथा क्रियास्थान कहा जाता है । जैसे कोई शिकार खेलने वाला पुरुष सघन वृक्षों से भरपूर स्थान में या दुर्गम वन में जाकर मृग मारने की इच्छा करता है. मृग मारने का संकल्प करता है और मृग का ही ध्यान करता है । 'यह मृग है' ऐसा समझ कर किसी मृग का वध करने के लिए बाण खींच कर निकलता है । किन्तु 'मैं मृग को मारूँगा' ऐसा सकल्प करके तीतुर, बतक, चिड़िया, लावक, कबूतर, बन्दर अथवा कपिंजल ( चातक पक्षी ) को बींध देता है, इस प्रकार वह दूसरे का वध करने के बदले किसी दूसरे का ही वध करता है, तो वह अकस्मात् दंड है ।

अब वनस्पतिकाय के विषय में अकस्मात् दंड कहते हैं,—जैसे कोई पुरुष (किसान) शालि, व्रीहि, कोद्रव कगु परक, और राल आदि के पौधों का निनाण (कटाई) करते समय किसी दूसरे घास को उखाड़ने के लिए शस्त्र चलाता है और सोचता है कि मैं श्यामक, तृण, कुमुद, व्रीहि, कलेमुक, घास आदि को उखाड़ूँ, किन्तु खुरपी आदि शस्त्र चलाने पर अचानक ही शालि, व्रीहि, कोद्रव, कगु, परक या राल को काट डाले, तो वह दूसरे घास आदि को काटना चाहता है, पर अकस्मात् दूसरा ही धान्य कट जाता है । यह अकस्मात् दंड है । उस पुरुष को अकस्मात् दंड देने के कारण सावद्य कर्म का बंध होता है । यह अकस्मात् दंडप्रत्ययिक चौथा क्रिया स्थान है ॥ ६ ॥

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ । से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ, दिट्ठिविपरियासियादंडे ।

से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेड० कब्बड० मडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा, अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ, दिट्ठिविपरियासियादंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ ७ ॥

भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । नवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए ॥ ११ ॥

अर्थ—अब नौवां मानप्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। कोई पुरुष जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, प्रज्ञामद अथवा किसी भी अन्य मद-स्थान से मत्त होकर, अर्थात् जाति कुल आदि के अभिमान के वशीभूत होकर दूसरे की अवहेलना करता है, निन्दा करता है, घृणा करता है, गर्हा करता है, तिरस्कार करता है और समझता है—यह हमसे हल्का है—हीन है, मैं विशिष्ट जाति, विशिष्ट कुल और विशिष्ट बल आदि से सम्पन्न हूँ; ऐसा समझ कर वह अभिमान करता है। ऐसा अभिमानी पुरुष देह को त्याग कर, सिर्फ अपने कर्मों को साथ लेकर, विवश होकर परलोक की ओर प्रयाण करता है। वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में और एक नरक से दूसरे नरक में प्रवेश करता है। वह क्रोधी, नम्रता रहित चपल और अभिमानी होता है। ऐसा पुरुष मान से उत्पन्न होने वाले पाप कर्म का बंध करता है। यह मानप्रत्ययिक नौवां क्रियास्थान कहा गया ॥११॥

मूल—अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरूयं दंडं निवत्तेति, तंजहा- सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिचित्ता भवति, अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा ( अन्नयरेण वा दवरएण ) पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति । तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति । तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि, अहिए परंसि लोगंसि, संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जति । दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिए ।१२।

अर्थ—अब दसवां मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। कोई पुरुष माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्री, पुत्र, पुत्रवधू आदि के साथ निवास करता हुआ, उनके

किसी छोटे-से अपराध पर उन्हें भारी दण्ड देता है। जैसे-शीत ऋतु में ठंडे पानी में पटक देता है, उष्ण काल में उष्ण जल शरीर पर छिड़कता है, अग्नि से उनके शरीर को जला देता है, जोत से, बेंत से, छड़ी से, चमड़े से चाबुक से नाड़े से या लता से या किसी भी प्रकार के अन्य रस्सा आदि से मारकर उनके पसवाड़ों की चमड़ी उधेड़ देता है, डंडे से हड्डी से मुट्ठी से या कपाल (ठोकरे) से मार-मार कर शरीर को ढीला कर देता है, ऐसा पुरुष जब घर में रहता है तो परिवार दुखी रहता है और परदेश चला जाता है तो सुखी हो जाता है। ऐसा सदैव बगल में डंडा दबाये रहने वाला, तुच्छ अपराध होने पर भी भारी दंड देने वाला और डंडे को ही सामने रखने वाला, इस लोक में भी अपना अहित करता है और परलोक में भी अपना अहित करता है। वह आग बबूला होता है, क्रोधी और परोक्ष में निंदा करने वाला होता है। ऐसे पुरुष को मित्र दोष प्रत्ययिक कर्म का बंध होता है। यह मित्र दोष प्रत्ययिक नामक दसवां क्रिया स्थान कहा गया ॥ १२ ॥

मूल—अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति-गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया, ते आयरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउंजंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति।

से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सल्लं णो सयं णिहरति, णो अन्नेण णिहरावेति, णो पडिविद्धंसेइ, एवमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियइ, एवमेव मायी मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ। माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ, निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ, ण नियट्टइ, णिसिरियं दंडं छाएति, माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए ॥ १३ ॥

अर्थ—ग्यारहवां क्रियास्थान मायाप्रत्ययिक कहा जाता है। इस जगत् में कई लोग ऐसे होते हैं जो विश्वास उत्पन्न करके दूसरों को ठगते हैं, लोक से छिपा कर दुरा-

भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । नवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए ॥ ११ ॥

अर्थ—अब नौवां मानप्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं । कोई पुरुष जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, प्रज्ञामद अथवा किसी भी अन्य मद-स्थान से मत्त होकर, अर्थात् जाति कुल आदि के अभिमान के वशीभूत होकर दूसरे की अवहेलना करता है, निन्दा करता है, घृणा करता है, गर्हा करता है, तिरस्कार करता है और समझता है-यह हमसे हल्का है-हीन है, मैं विशिष्ट जाति, विशिष्ट कुल और विशिष्ट बल आदि से सम्पन्न हूं; ऐसा समझ कर वह अभिमान करता है । ऐसा अभिमानी पुरुष देह को त्याग कर, सिर्फ अपने कर्मों को साथ लेकर, विवश होकर परलोक की ओर प्रयाण करता है । वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में और एक नरक से दूसरे नरक में प्रवेश करता है । वह क्रोधी, नम्रता रहित चपल और अभिमानी होता है । ऐसा पुरुष मान से उत्पन्न होने वाले पाप कर्म का बंध करता है । यह मानप्रत्ययिक नौवां क्रियास्थान कहा गया ॥११॥

मूल—अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जइ । से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरूयं दंडं निव्वत्तेति, तंजहा- सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा ( अन्नयरेण वा दवरएण ) पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति । तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति । तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि, अहिए परंसि लोगंसि, संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जति । दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिए ॥१२॥

अर्थ—अब दसवां मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं । कोई पुरुष माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्री, पुत्र, पुत्रवधू आदि के साथ निवास करता हुआ, उनके

किसी छोटे-से अपराध पर उन्हें भारी दण्ड देता है। जैसे-शीत ऋतु में ठंडे पानी में पटक देता है, उष्ण काल में उष्ण जल शरीर पर छिड़कता है, अग्नि से उनके शरीर को जला देता है, जोत से, बेंत से, छड़ी से, चमड़े से चाबुक से नाड़े से या लता से या किसी भी प्रकार के अन्य रस्सा आदि से मारकर उनके पसवाड़ों की चमड़ी उधेड़ देता है, डंडे से हड्डी से मुट्ठी से या कपाल (ठीकरे) से मार-मार कर शरीर को ढीला कर देता है, ऐसा पुरुष जब घर में रहता है तो परिवार दुखी रहता है और परदेश चला जाता है तो सुखी हो जाता है। ऐसा सदैव बगल में डंडा दबाये रहने वाला, तुच्छ अपराध होने पर भी भारी दंड देने वाला और डंडे को ही सामने रखने वाला, इस लोक में भी अपना अहित करता है और परलोक में भी अपना अहित करता है। वह आग बबूला होता है, क्रोधी और परोक्ष में निंदा करने वाला होता है। ऐसे पुरुष को मित्र दोष प्रत्ययिक कर्म का बंध होता है। यह मित्र दोष प्रत्ययिक नामक दसवां क्रिया स्थान कहा गया ॥ १२ ॥

मूल—अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति-गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया, ते आयरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउंजंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति।

से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सल्लं णो सयं णिहरति, णो अन्नेण णिहरावेति, णो पडिविद्धंसेइ, एवमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियइ, एवमेव मायी मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ। माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ, निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ, ण नियट्टइ, णिसिरियं दंडं छाएति, माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए ॥ १३ ॥

अर्थ—ग्यारहवाँ क्रियास्थान मायाप्रत्ययिक कहा जाता है। इस जगत् में कई लोग ऐसे होते हैं जो विश्वास उत्पन्न करके दूसरों को ठगते हैं, लोक से छिपा कर दुरा-

भार करते हैं, उल्लू पक्षी के पंखों से हल्के होने पर भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा समझते हैं, आर्य होने पर भी अनार्य भाषाएँ बोलते हैं, अपनी वास्तविकता छिपा कर अपने को भिन्न रूप में मानते हैं, दूसरी बात पूछने पर कोई दूसरी ही बात कहते हैं, जब और जहाँ जो कहना चाहिए, उसे न कह कर और ही कुछ कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष अपने अन्दर घुसे हुए शल्य को स्वयं नहीं निकालता है, दूसरे के द्वारा भी नहीं निकलवाता है और उस शल्य का नाश भी नहीं करता है, किन्तु दूसरे के पूछने पर उसे छिपाता है और भीतर ही भीतर व्यथा का अनुभव करता है, इसी प्रकार मायाचारी पुरुष माया का सेवन करके आलोचना नहीं करता, प्रतिक्रमण नहीं करता, गर्हा नहीं करता, उसे नहीं तोड़ता, शुभ भाव रूपी जल से उसका शोधन नहीं करता, उसे पुनः न सेवन करने के लिए तैयार नहीं होता तथा यथायोग्य तपकर्म रूप प्रायश्चित्त भी नहीं करता। ऐसा पुरुष बार-बार इस संसार में जन्म-मरण करता है। वह दूसरों की निन्दा और गर्हा करता है तथा अपनी प्रशंसा करता है, अकार्य करने में आनन्द मानता है, और उससे निवृत्त नहीं होता है। वह दूसरों को दंड देकर छिपाता है, शुभ लेश्या से रहित होता है। ऐसा मायाचारी पुरुष मायाप्रत्ययिक पाप का बंध करता है। यह ग्यारहवाँ मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया ॥ १३ ॥

मूल—अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति, तंजहा—आरन्निया आवसहिया, गामंतिया, कण्हुई-रहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया, सव्वपाणभूतजीवसत्तेहिं ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति-अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना, जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति। ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए जाइमूयत्ताए पच्चायंति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए।

इच्चेयाइं दुवालसकिरियट्ठाणाइं दविएणं समणेण वा माहणेण वा सम्मं सुपरिजाणिअव्वाइं भवंति ॥ १४ ॥

अर्थ—अब बारहवां क्रिया-स्थान लोभ प्रत्ययिक कहा जाता है। ये जो होते हैं—अरण्य में वास करने वाले, पर्णकुटी में रहने वाले, गांव के नजदीक निवास करने वाले तथा गुप्त कार्य करने वाले, ये त्रस जीवों की विराधना न करते हों तो भी स्थावर जीवों की विराधना करके आजीविका चलाने के कारण पूर्ण संयमी नहीं हैं, प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा से निवृत्त न होने के कारण पूर्ण रूप से पाप से निवृत्त नहीं हैं। वे इस तरह सत्य-मृषा (सच्ची-झूठी) भाषा बोलते हैं कि—मैं ब्राह्मण हूँ, अतः हनन करने योग्य नहीं हूँ, किन्तु दूसरे प्राणी हनन करने योग्य हैं। मैं आज्ञा देने योग्य नहीं, दूसरे आज्ञा देने योग्य हैं, अर्थात् मुझे कोई आज्ञा न दे, दूसरों को आज्ञा दे। मैं दास आदि बनाने योग्य नहीं हूँ, दूसरे दास दासी बनाने योग्य हैं। मैं कष्ट देने योग्य नहीं, दूसरे प्राणी कष्ट देने योग्य हैं, मैं उपद्रव के योग्य नहीं, दूसरे उपद्रव करने योग्य हैं। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने वाले वे स्त्री में तथा अन्य काम भोगों में मूर्छित, आसक्त एवं गुथे हुए रहते हैं इसलिए निन्दा पात्र हैं। वे काम भोगों की खोज में रहते हैं और उनका मन सदैव कामभोगों में लीन रहता है। ऐसे लोग चार पाँच छह अथवा दस वर्षों तक थोड़े-बहुत कामभोगों को भोगकर मृत्यु के अवसर पर मृत्यु को प्राप्त होकर असुर निकाय में किल्बिषी देवों के रूप में उत्पन्न होते हैं। उस योनि से निकल कर वे बार-बार गूंगे, जन्म से अंधे और जन्म से गूंगे होते हैं। इस प्रकार वे लोभी लोभ प्रत्ययिक कर्मबंध करते हैं। यह लोभ-प्रत्ययिक बारहवाँ क्रियास्थान कहा गया।

मुक्तिगमन के योग्य श्रमण और माहन को यह बारह क्रिया-स्थान ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग देने चाहिए ॥ १४ ॥

अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवण-खेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्त-बंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीय-माणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भास-माणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा

णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि, अत्थि विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ। सा पढमसमये बद्धा पुट्ठा, बितीयसमए वेइया, तइयसमए णिज्जिएणा। सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिएणा सेयकाले अकम्मे यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ॥ १५॥

अर्थ–अब तेरहवां ऐर्यापथिक क्रियास्थान कहा जाता है। जो पुरुष अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए समस्त पापों से निवृत्त हो चुका है, गृह त्याग करके अनगार बन गया है, जो ईर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति, आदान भाण्ड मात्र-निक्षेपणा समिति तथा उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल-परिष्ठापना समिति से सम्पन्न है, जो मन समिति, वचन समिति और काय समिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति वचन गुप्ति एवं काय गुप्ति से युक्त है, जितेन्द्रिय है, ब्रह्मचारी है, जो उपयोग अर्थात् यतना के साथ गमन करता है, उपयोग के साथ खड़ा होता है, उपयोग के साथ बैठता है, उपभोग के साथ सोता है, उपयोग के साथ भोजन करता है, उपयोग के साथ भाषण करता है, उपयोग के साथ 'वस्त्र पात्र कंबल और पाद-प्रोंछन ग्रहण करता है तथा रखता है, यहां तक कि जो नेत्रों के पलक भी उपयोग पूर्वक ही गिराता है। ऐसे यतनाशील पुरुष को भी ऐर्यापथिकी नामक सूक्ष्म क्रिया लगती है। उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बंध और स्पर्श होता है, दूसरे समय में वेदन होता है और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण होकर चौथे समय में अकर्म बन जाती है।

इस प्रकार वीतराग पुरुष को ईर्यापथिक क्रिया के द्वारा कर्मबंध होता है। यह तेरहवां स्थान ऐर्यापथिक क्रियास्थान कहलाता है॥ १५॥

मूल—से बेमि-जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता, सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा भासेन्ति वा, भासिस्संति वा; पन्नविंसु वा, पन्नविन्ति वा, पन्नविस्सन्ति वा; एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा, सेवंति वा, सेविस्संति वा॥ १६॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं–पूर्व काल में जो अरिहन्त भगवन्त हुए हैं, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे, उन सभी भगवंतों ने इन

क्रियास्थानों का ही कथन किया है, करते हैं और करेंगे; इन तेरह क्रियास्थानों की पणा की है, करते है और करेंगे। भूतकाल के तीर्थंकरों ने तेरहवीं क्रिया का ही किया है, वर्त्तमान में उसी का सेवन करते हैं और भविष्य में करेंगे। तात्पर्य यह तीर्थंकर भगवंतों का उपदेश एक सरीखा होता है। उसमें न भिन्नता होती है और परविरुद्धता होती है। अतः उसमें संशय नहीं करना चाहिए ॥ १६ ॥

मूल—अदुत्तरं च णं पुरिस-विजयं विभंगमाइक्खिस्सामि । इह णाणापएणाणं, णाणाछंदाणं, णाणासीलाणं, णाणादिट्ठीणं णारुईणं, णाणारंभाणं, णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं, णाणाविह-सुयज्झयणं एवं भवइ, तंजहा-भोमं, उप्पायं, सुविणं, अंतलिक्खं , सरं, लक्खणं, वंजणं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणं,हयलक्खणं, लक्खणं गोणलक्खणं, मिंढलक्खणं,कुक्कुडलक्खणं,तित्तिरलक्खणं गलक्खणं, लावयलक्खणं, चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्म-खणं, दंडलक्खणं, असिलक्खणं, मणिलक्खणं, कागिणिलक्खणं, गाकरं दुब्भगाकरं, मोहणकरं, आहव्वणिं, पागसासणिं, वहोमं, खत्तियविज्जं, चंदचरियं, सूरचरियं, सुक्कचरियं, स्सइचरियं, उक्कापायं, दिसादाहं, मियचक्कं, वायसपरिमंडलं, वुट्ठिं,केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं,रुहिर वुट्ठिं,वेतालिं,अद्धवेतालिं,ओसोवणिं, लुग्घाडणिं, सोवागिं, सोवरिं, दामलिं, कालिंगिं, गोरिं, गंधारिं वतणिं, उप्पयणिं, जंभणिं, थंभणिं, लेसणिं, आमयकरणिं, सल्लकरणिं, पक्कमणिं, अंतद्धाणिं, आयमिणिं, एवमाइआओ ज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं उंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं वेन्ति, ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्न-राइं आसुरियाइं किव्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति। तो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए यायंति ॥ १७ ॥

णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि, अत्थि विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ । सा पढमसमये बद्धा पुट्ठा, बितीयसमए वेइया, तइयसमए णिज्जिएणा । सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिएणा सेयकाले अकम्मे यावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ ॥ १५ ॥

अर्थ—अब तेरहवां ऐर्यापथिक क्रियास्थान कहा जाता है । जो पुरुष अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए समस्त पापों से निवृत्त हो चुका है, गृह त्याग करके अनगार बन गया है, जो ईर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति, आदान भाण्ड मात्र-निक्षेपणा समिति तथा उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल-परिष्ठापना समिति से सम्पन्न है, जो मन समिति, वचन समिति और काय समिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति वचन गुप्ति एवं काय गुप्ति से युक्त हैं, जितेन्द्रिय हैं, ब्रह्मचारी है, जो उपयोग अर्थात् यतना के साथ गमन करता है, उपयोग के साथ खड़ा होता है, उपयोग के साथ बैठता है, उपभोग के साथ सोता है, उपयोग के साथ भोजन करता है, उपयोग के साथ भाषण करता है, उपयोग के साथ वस्त्र पात्र कंबल और पाद-प्रोंछन ग्रहण करता है तथा रखता है, यहां तक कि जो नेत्रों के पलक भी उपयोग पूर्वक ही गिराता है । ऐसे यतनाशील पुरुष को भी ऐर्यापथिकी नामक सूक्ष्म क्रिया लगती है । उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बंध और स्पर्श होता है, दूसरे समय में वेदन होता है और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है । इस प्रकार बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण होकर चौथे समय में अकर्म बन जाती है ।

इस प्रकार वीतराग पुरुष को ईर्यापथिक क्रिया के द्वारा कर्मबंध होता है । यह तेरहवां स्थान ऐर्यापथिक क्रियास्थान कहलाता है ॥ १५ ॥

मूल—से बेमि-जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता, सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा भासेन्ति वा, भासिस्संति वा; पन्नविंसु वा, पन्नविन्ति वा, पन्न-विस्सन्ति वा; एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा, सेवंति वा, सेविस्संति वा ॥ १६ ॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं-पूर्व काल में जो अरिहन्त भगवन्त हुए हैं, वर्त्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे, उन सभी भगवंतों ने इन

(२२) अर्ध वैताली विद्या, जिससे वैताली विद्या द्वारा उठाया हुआ दंड गिरा दिया जाता है (२३) अवस्वापिनी विद्या, जिससे जागते मनुष्य को सुला दिया जाता है (२४) तालोद्‌घाटनी विद्या, जिससे बिना चाबी ताला खोल दिया जाता है (२५) चाण्डाली विद्या (२६) शाम्बरी विद्या (२७) द्राविडी विद्या (२८) कालिंगी विद्या (२९) गौरी विद्या (३०) गान्धारी विद्या (३१) अवपतनी नीचे गिरा देने वाली विद्या (३२) उत्पतनी–ऊँचे उठाने की विद्या (३३) जृंभणी (उड़ने की) विद्या (३४) स्तंभिनी विद्या (३५) श्लेषणी (चिपकाने की) विद्या (३६) आमयकरणी–किसी को रोगी बना देने वाली विद्या (३७) विशल्यकरणी–नीरोगी कर देने वाली विद्या (३८) प्रक्रामणी–भूत आदि की बाधा पैदा कर देने वाली विद्या (३९) अन्तर्धानी–अचानक गायब हो जाने की विद्या (४०) आयमनी–छोटी वस्तु को बड़ी बना देने वाली विद्या। तथा इसी प्रकार की अन्यान्य प्रज्ञप्ति आदिक विद्याओं का लोग अन्न के लिए, पान के लिए, वस्त्र के लिए, मकान के लिए या शय्या के लिए प्रयोग करते हैं, अथवा विविध प्रकार के कामभोगों के लिए प्रयोग करते हैं। किन्तु ये विद्याएँ पारलौकिक हित से विरुद्ध हैं, अतएव जो इन विद्याओं का सेवन करते हैं। वे वास्तव में प्रतिकूल विद्याओं का सेवन करते हैं। वे पुरुष अनार्य हैं, भ्रम में पड़े हुए हैं। वे मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर असुरों संबंधी किल्विष योनि में जन्म लेते हैं। तत्पश्चात् उस योनि से निकल कर बार–बार गूंगे और अंधे होते हैं।

यहाँ तक अधर्म का सेवन करने वाले व्रतधारी पाखंडियों के पाप का फल कहा है। गृहस्थ को उद्देश्य करके पाप का फल आगे बतलाते हैं॥ १७॥

**मूल—से एगइओ आयहेउं वा, णायहेउं वा, सयणहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए १ अदुवा अणुगामिए, २ अदुवा उवचरए, ३ अदुवा पडिपहिए, ४ अदुवा संधिच्छेयए, ५ अदुवा गंठिच्छेयए, ६ अदुवा उरब्भिए, ७ अदुवा सोवरिए, ८ अदुवा वागुरिए, ९ अदुवा साउणिए, १० अदुवा मच्छिए, ११ अदुवा गोघायए, १२ अदुवा गोवालए, १३ अदुवा सोवणिए, १४ अदुवा सोवणियंतिए॥ १८॥**

अर्थ–इस जगत् में कितने ही निर्दय मनुष्य परभव का तनिक भी डर न रखते हुए अपने लिए, अपनी ज्ञाति के लिए स्वजनों के लिए, गृह बनवाने के लिए, अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिए अथवा अपने परिचित पुरुष के लिए

अर्थ—इसके पश्चात् उन विद्याओं का कथन करूंगा जिनका पुरुष अन्वेषण करते हैं। ये विद्याएँ पापविद्याएँ हैं और उक्त तेरह पापस्थानों से अल्पबुद्धि लोग इन्हें नहीं ग्रहण कर सकते। अतएव स्पष्टता के हेतु इनका पृथक् कथन किया जाता है:—

इस लोक में विविध प्रकार की बुद्धि वाले, नाना प्रकार के अभिप्रायों वाले, नाना प्रकार के आचार वाले, नाना दृष्टि वाले, नाना रुचि वाले, नाना प्रकार का आरंभ करने वाले,और नाना प्रकार के अध्यवसायों वाले मनुष्य,विविध प्रकार के पाप-सूत्रों का अध्ययन करते हैं। वे पापश्रुत इस तरह हैं-(१) भूकम्प आदि को बतलाने वाला भूशास्त्र (२) आकाश से होने वाली रुधिरवृष्टि आदि उत्पातों का फल बतलाने वाला उत्पातशास्त्र (३) स्वप्नों का फल बतलाने वाला शास्त्र (४) आकाश में होने वाले मेघ उल्कापात आदि का निरूपण करने वाला शास्त्र (५) नेत्र आदि के फड़कने वगैरह का फल बताने वाला शास्त्र (६) काक तथा शृगाल आदि के शब्दों का फल बतलाने वाला शास्त्र (७) पद्म यव शंख चक्र आदि शरीर चिन्हों का फल बतलाने वाला शास्त्र (८) शरीर के मस तिल आदि का फल बतलाने वाला व्यंजन शास्त्र (९) स्त्री के लक्षण बतलाने वाला (१०) पुरुष के लक्षण बतलाने वाला (११) अश्व के शुभाशुभ लक्षण बतलाने वाला (१२) हस्ती के लक्षण (१३) गाय-बैल के लक्षण (१४) बकरे के लक्षण (१५) कुक्कुट के लक्षण (१६) तीतुर के लक्षण (१७) बटेर के लक्षण (१८) लावक पक्षी के लक्षण (१९) चक्र रत्न के लक्षण (२०) छत्र रत्न के लक्षण (२१) चर्म रत्न के लक्षण (२२) दंड रत्न के लक्षण (२३) खड्ग के लक्षण (२४) मणि के लक्षण (२५) कांगणी रत्न के लक्षण बतलाने वाले शास्त्र ( अब मंत्रों एवं विद्याओं का उल्लेख करते हैं ) (१) कुरूप को सुन्दर बना देने वाली विद्या (२) सुन्दर को कुरूप बना देने वाली विद्या (३) गर्भ धारण कराने की विद्या (४) मोहन मंत्र (५) तत्काल अनर्थ करने वाली विद्या (६) इन्द्रजाल-विद्या (७) उच्चाटन करने के लिए मधु घृत आदि द्रव्यों का जिससे होम किया जाता है, वह विद्या (८) क्षत्रियों की विद्या-धनुर्वेद आदि (९) चन्द्र-चरित-चन्द्रमा की गति आदि को बताने वाली विद्या (१०) सूर्य चरित (सूर्य की गति आदि बतलाने वाली) (११) शुक्र चरित (१२) बृहस्पति चरित (१३) उल्कापात का निरूपण करने वाला शास्त्र (१४) दिग्दाह के फल आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र (१५) ग्राम-नगर आदि से निकलते या उनमें प्रवेश करते समय जानवरों के शकुन का फलाफल बतलाने वाला शकुन शास्त्र (१६) काक आदि पक्षियों के शब्द का फलाफल बतलाने वाला शास्त्र, (१७) धूल वृष्टि का फल बताने वाला (१८) केश वृष्टि (१९) मांस वृष्टि तथा (२०) रक्त वृष्टि का फल बतलाने वाला शास्त्र (२१) बैताली विद्या, जिसका अमुक दिन जाप करने से अचेतन काष्ठ में तेज उत्पन्न हो.

(८) से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

(९) से एगइओ सउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(१०) से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥

(११) से एगइओ गोघायभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(१२) से एगइओ गोवालभावं पडिसंधाय तमेव गोवालं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(१३) से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव सुणगं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(१४) से एगइओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ १९ ॥

अर्थ—पाप के पूर्वोक्त चौदह प्रकारों का यहां स्पष्टीकरण किया गया है । वह इस प्रकार है:-

(१) कोई पुरुष एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है । तब कोई पापी उसका पीछा कर लेता है और उस जाने वाले को डंडे आदि से मारता है, तलवार आदि से काट देता है, शूल आदि से वेध देता है, लूट लेता है या उसकी हत्या कर डालता है, और उस धन को भोगोपभोग में लगाता है या उससे अपना आहार प्राप्त करता है । इस प्रकार वह घोर पाप करने वाला पुरुष महापापी के नाम से अपने आपको प्रसिद्ध करता है ।

(२) कोई पापी किसी धनवान् का सेवक बन जाता है और विश्वासी बन कर बाद में अपने स्वामी का हनन, छेदन, भेदन, करके उसे लूट कर तथा मार कर आहार

या पड़ोसी के लिए ये पाप-कर्म करते हैं-कोई पापी कभी मार्ग में जाने वाले पथिकों का पीछा करता है, कोई पाप करने के लिए किसी की सेवा करता है, कोई धन आदि लूटने के लिए किसी के सामने जाता है, कोई मकान में सेंध लगाता है, कोई गांठ या जेब काट लेता है, कोई भेड़-बकरियां चराता है, कोई सुअर चराता है, कोई मृग आदि को मारने के लिए जाल बिछाता है, कोई चिड़ीमार का धंधा करता है, कोई मछलियां पकड़ता है, कोई गायों का घात करता है, कोई गोपालन करता है, कोई कुत्तों को पालता है और कोई-कोई शिकारी कुत्ते पालकर उनसे शिकार करवाता है इस प्रकार पापी जीव चौदह तरह से जीवों का घात करते हैं ॥ १८ ॥

मूल—(१) एगइओ आणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता, छेत्ता, भेत्ता लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता आहारं आहारेति । इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

(२) से एगइओ उवचरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता-छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(३) से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति । इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खइत्ता भवइ ॥

(४) से एगइओ संधिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(५) से एगइओ गंठिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(६) से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ । एसो अभिलावो सव्वत्थ ॥

(७) से एगइओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णतरं वा तसं पाणं जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥

(१२) कोई गोपालक का धंधा करके गाय के बच्चे को टोले में से बाहर निकाल कर मारता-पीटता है और वह भी महापापी के नाम से विख्यात होता है।

(१३) कोई पापी कुत्ते को पालने का धंधा करता है और उसी कुत्ते को या त्रस प्राणियों को मारकर अपना पेट भरता है। वह भी संसार में महापापी के रूप में प्रसिद्ध होता है।

(१४) कोई-कोई पुरुष शिकारी कुत्ते को पालकर उनसे जंगली जानवरों का घात करवा कर अपनी उदर पूर्ति करता है। अतएव यह भी अपने महान् पाप कर्मों के कारण ससार में घोर पापी के नाम से प्रसिद्ध होता है।

उपर्युक्त सभी आजीविका के उपाय घोर पापमय हैं। नरक आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण कराने के कारण हैं। अतएव विवेकवान् पुरुष को इनसे दूर रहना चाहिए॥ १९॥

मूल—से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति। २०॥

अर्थ—पहले जो हिंसा बतलाई है, वह प्रच्छन्न रूप से या एकाकीपन से की जाती है। अब और आगे जिस हिंसा का वर्णन किया जा रहा है, वह प्रकट एव सार्वजनिक रूप में की जाती है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—कोई मनुष्य सभा में खडा होकर यह प्रतिज्ञा करता है कि—'मै इस प्राणी को मारूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह तीतुर, बटेर, लावक, कबूतर, कपिंजल (चातक पक्षी) या किसी अन्य त्रस प्राणी का हनन करता है, यावत् अपने महान् पापकर्म के कारण अपने आपको घोर पापी के रूप में प्रख्यात करता है॥ २०॥

मूल—से एगइओ केण वि आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताणं वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अन्नेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं वि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

से एगइओ केणइ-आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताणं वा उट्टाणं वा

उपार्जन करता है। वह महापापी अपने घोर पापकर्मों के कारण अपने को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(३) कोई पापी पुरुष ग्राम आदि से आने वाले किसी पुरुष के सामने जाता है और उसका हनन, छेदन, भेदन करके उसका धन लूट कर, उपद्रव करके अपना आहार उपार्जन करता है। वह अपने महान् पापकर्मों के कारण पापी के नाम से प्रसिद्ध होता है।

(४) कोई पापी सेंध लगाने वाला चोर बन कर धनवानों के घर में सेंध लगाता है और उसका छेदन भेदन आदि करके पापी के रूप में अपने को प्रसिद्ध करता है।

(५) कोई पापी दूसरों की गांठ काटने वाला गंठकटा या जेबकतरा बन कर गांठ काटता है और उसका छेदन भेदन आदि करके अपना आहार उपार्जन करता है। वह अपने महान् पापकर्मों के कारण अपने को पापी के रूप में प्रसिद्ध करता है।

(६) कोई पापी पुरुष भेंडों का पालक बनकर भेंडों को ही या दूसरे त्रस जीवों को मारकर अपना आहार उपार्जन करता है। वह अपने को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(७) कोई पापी पुरुष, शूकरों का पालक बनता है भैंसे का अथवा दूसरे त्रस प्राणियों का घात करके अपनी आजीविका चलाता है। वे महान् पाप करने के कारण जगत् में पापी के नाम से प्रख्यात होते हैं।

(८) कोई-कोई मृग आदि को मारने का धंधा स्वीकार करके मृगों को तथा अन्य त्रस प्राणियों का घात करते हैं, यावत् महापापी के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।

(९) कोई चिडीमार पक्षियों का घात करके पक्षियों तथा अन्य त्रस जीवों का घात करके आजीविका करते हैं। वे अपने महान् पापों से अपने को महापापी प्रसिद्ध करते है।

(१०) कोई मच्छीमार का धधा स्वीकार करके मछलियों को तथा अन्य त्रस प्राणियों को मारकर आहार उपार्जन करते है और अपने को पापी प्रसिद्ध करते है।

(११) कोई पुरुष कसाई का धंधा अख्तियार करते हैं और गायों तथा अन्य त्रस जीवों का घात करके आजीविका करते हैं। ऐसे लोग भी महान् पाप करके घोर पातकी के रूप में अपने आपको प्रसिद्ध करते हैं।

(१२) कोई गोपालक का धंधा करके गाय के बच्चे को टोले में से बाहर निकाल कर मारता-पीटता है और वह भी महापापी के नाम से विख्यात होता है।

(१३) कोई पापी कुत्ते को पालने का धंधा करता है और उसी कुत्ते को या त्रस प्राणियों को मारकर अपना पेट भरता है। वह भी संसार में महापापी के रूप में प्रसिद्ध होता है।

(१४) कोई-कोई पुरुष शिकारी कुत्ते को पालकर उनसे जंगली जानवरों का घात करवा कर अपनी उदर पूर्ति करता है। अतएव वह भी अपने महान् पाप कर्मों के कारण संसार में घोर पापी के नाम से प्रसिद्ध होता है।

उपर्युक्त सभी आजीविका के उपाय घोर पापमय हैं। नरक आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण कराने के कारण हैं। अतएव विवेकवान् पुरुष को इनसे दूर रहना चाहिए॥ १९॥

**मूल—से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति। २०॥**

अर्थ-पहले जो हिंसा बतलाई है, वह प्रच्छन्न रूप से या एकाकीपन से की जाती है। अब और आगे जिस हिंसा का वर्णन किया जा रहा है, वह प्रकट एवं सार्वजनिक रूप में की जाती है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—कोई मनुष्य सभा में खड़ा होकर यह प्रतिज्ञा करता है कि—'मैं इस प्राणी को मारूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह तीतुर, बटेर, लावक, कबूतर, कपिंजल (चातक पक्षी) या किसी अन्य त्रस प्राणी का हनन करता है, यावत् अपने महान् पापकर्म के कारण अपने आपको घोर पापी के रूप में प्रख्यात करता है॥ २०॥

**मूल—से एगइओ केण वि आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताणं वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अन्नेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंत वि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।**

**से एगइओ केणइ-आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताणं वा उट्टाणं वा**

से एगइओ णो वितिगिंछइ तं०—गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ ।

से एगइओ णो वितिगिंच्छइ तं०—समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्मछेदणगं वा सयमेव अवहरइ, जाव समणुजाणइ, इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ २२ ॥

अर्थ—अब निष्कारण होने वाले पापों का वर्णन करते हैं। कितने ही मूर्ख मनुष्यों को ऐसा विचार नहीं होता है कि अकार्य करने से मुझे इस भव में तथा परभव में अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी। वे यह भी नही सोचते कि मेरा यह कार्य खराब है। ऐसा विचार न करने वाला कोई पुरुष बिना कारण और बिना प्रयोजन ही किसी गाथापति या गाथापति के पुत्रों के धान्य में (खेत में खड़े हुए पौधों में) आग लगा देता है, दूसरो से आग लगवा देता है या आग लगाने वाले की अनुमोदना करता है। इस कारण वह जगत् में अपने को पापी के रूप में विख्यात करता है।

कोई विचार विहीन पुरुष गाथापति के अथवा गाथापति पुत्रों के ऊँट, गाय, घोड़ा और गधा आदि पशुओं के अंगोपांगों को स्वयं छेदन करता है, दूसरे से छेदन करवाता है और छेदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

पाप के दुष्परिणाम का विचार न करने वाला कोई पापी पुरुष गाथापति या गाथापति पुत्रो की उष्ट्रशाला, घुडसाल, गोशाला और गर्दभशाला को कांटों की शाखाओ से आच्छादित करके स्वयं आग लगा देता है, दूसरे से आग लगवा देता है या आग लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

कोई-कोई पापी बिना कारण ही, पाप के फल का विचार न करता हुआ गाथापति तथा उसके पुत्रो के मोती आदि जवाहरात को स्वयं हरण कर लेता है, दूसरे से हरण करवा लेता है और हरण करने वाले का अनुमोदन करता है।

कोई पाप के फल का विचार नही करता और श्रमणों एव माहनो के छत्र, दड तथा चर्म छेदनक आदि उपकरणो को स्वय हर लेता है, दूसरे से हरवा लेता है और हरने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार वह अपने घोर पाप कर्मो से अपने को पापी के रूप में प्रसिद्ध करता है ॥ २२ ॥

मूल—से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नानाविहेहिं पापकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ । अदुवा णं अच्छराए आफा-

लित्ता भवइ । अदुवा णं फरूसं वदित्ता भवइ । कालेण वि से अणु-
पविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवइ ।

जे इमे भवंति वोनमंता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा
समणगा ( निउज्जमा वणगा ) पव्वयंति ।

ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिवूहेंति, नाइ ते परलोगस्स
अट्ठाए किंचिवि सिलीसंति । ते दुक्खंति, ते सोयंति, ते जूरंति, ते
तिप्पंति, ते पिट्टंति, ते परितप्पंति, ते दुक्खणजूरणसोयणतिप्पणपिट्टण-
परितिप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओअप्पडिविरया भवंति । ते महया
आरंभेणं, ते महया समारंभेणं, ते महया आरंभसमारंभेणं विरूव-
रूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो
भवंति । तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले,
लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले सपुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलि-
कम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाए, कंठे मालाकडे,
आविद्धमणिसुवण्णे कप्पियमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणि-
सुत्तमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिए चंदणोक्खित्तगायसरीरे महति-
महालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयंसि सीहासणंसि इत्थीगुम्म-
संपरिवुडे सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणे महयाहयनट्टगीयवाइय-
तंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोग-
भोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥ २३ ॥

अर्थ—अब मिथ्यादृष्टि के पापों का अधिकार कहते है । कोई मिथ्यादृष्टि
पुरुष श्रमण और माहन को देखकर नाना प्रकार के पाप-कर्म करके अपने आपको
पापी बनाता है । वह साधु को देखकर और अपशकुन हुआ जानकर उसे सामने से
हटाने के लिए चुटकी बजाता है अथवा कठोर वचन बोलता है । भिक्षा के समय
साधु गोचरी के लिए जाय तो उसे अशन पान आदि आहार नहीं देता है । यही
नहीं, उलटा वे यह कहते है कि—यह तो लकड़ी आदि का भार ढोने वाले दरिद्र हैं,
नीच जाति के हैं, आलसी होने के कारण साधु बनकर मौज करते है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ तं०—गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ।

से एगइओ णो वितिगिंच्छइ तं०—समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्मछेदणगं वा सयमेव अवहरइ, जाव समणुजाणइ, इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ॥ २२॥

अर्थ—अब निष्कारण होने वाले पापों का वर्णन करते हैं। कितने ही मूर्ख मनुष्यों को ऐसा विचार नहीं होता है कि अकार्य करने से मुझे इस भव में तथा परभव में अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी। वे यह भी नहीं सोचते कि मेरा यह कार्य खराब है। ऐसा विचार न करने वाला कोई पुरुष बिना कारण और बिना प्रयोजन ही किसी गाथापति या गाथापति के पुत्रों के धान्य में (खेत में खड़े हुए पौधों में) आग लगा देता है, दूसरों से आग लगवा देता है या आग लगाने वाले की अनुमोदना करता है। इस कारण वह जगत् में अपने को पापी के रूप में विख्यात करता है।

कोई विचार विहीन पुरुष गाथापति के अथवा गाथापति पुत्रों के ऊँट, गाय, घोड़ा और गधा आदि पशुओं के अंगोपांगों को स्वयं छेदन करता है, दूसरे से छेदन करवाता है और छेदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

पाप के दुष्परिणाम का विचार न करने वाला कोई पापी पुरुष गाथापति या गाथापति पुत्रों की उष्ट्रशाला, घुड़साल, गोशाला और गर्दभशाला को कांटों की शाखाओं से आच्छादित करके स्वयं आग लगा देता है, दूसरे से आग लगवा देता है या आग लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

कोई-कोई पापी बिना कारण ही, पाप के फल का विचार न करता हुआ गाथापति तथा उसके पुत्रों के मोती आदि जवाहरात को स्वयं हरण कर लेता है, दूसरे से हरण करवा लेता है और हरण करने वाले का अनुमोदन करता है।

कोई पाप के फल का विचार नहीं करता और श्रमणों एवं माहनों के छत्र, दंड तथा चर्म छेदनक आदि उपकरणों को स्वयं हर लेता है, दूसरे से हरवा लेता है और हरने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार वह अपने घोर पाप कर्मों से अपने को पापी के रूप में प्रसिद्ध करता है॥ २२॥

मूल—से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नानाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। अदुवा णं अच्छराए आफा-

क्या हाजिर करें ? क्या कार्य करें ? आपका क्या हित है और क्या अभीष्ट है ? आपके मुख को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट लगती है।

उस पुरुष को इस प्रकार सुख भोगते देखकर अनार्य लोग इस प्रकार कहते हैं-'निश्चय ही यह पुरुष देव है, यह देवों से भी उत्तम है, यह देवों का जीवन व्यतीत कर रहा है। इसके आश्रय से बहुत लोग जीते हैं, परन्तु उस भोगी पुरुष को देखकर आर्य जन कहते हैं-यह पुरुष तो बड़ा क्रूरकर्मी है, अत्यन्त धूर्त्त है, अपने शरीर की खूब रक्षा करता है, यह दक्षिण दिशा के नरक में गमन करने वाला है, कृष्णपक्षी है, इसे भविष्य में बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होगी ॥ २४ ॥

**मूल—इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा वेगे अभिगिज्झंति। एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ २५ ॥**

अर्थ-कोई-कोई अविवेकी पाखंडी साधु मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्थित होकर भी इन पूर्वोक्त विषय सुखों की इच्छा करते हैं। और कोई-कोई गृहस्थ भी इसी स्थान-सुख की अभिलाषा करते हैं। दूसरे लोलुप लोग भी इनकी कामना करते हैं। परन्तु वास्तव में यह स्थान अनार्य है-हेय है, विषयों के सेवन से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। विषय सुख अपूर्ण है, अन्याय जनक है, अशुद्ध है और कर्म रूप शल्य को काटने वाला नहीं है। विषय सुख सिद्धि का मार्ग नहीं है, मुक्ति का मार्ग नहीं है, निर्वाण का मार्ग नहीं है, समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग नहीं है, एकान्त मिथ्या और असाधु (बुरा) है।

यहां तक प्रथम स्थान-अधर्म पक्ष का कथन किया गया ॥ २५ ॥

## धर्मपक्ष का विचार

**मूल—अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चा-**

ऐसे साधु-द्वेषी मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने धिक्कारमय जीवन को उत्तम जीवन समझते हैं। वे परलोक के हित के लिए कुछ भी नहीं करते हैं, अतएव दुःख पाते हैं, शोक के पात्र बनते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, दुखी होते हैं, पीड़ित होते हैं संताप भुगतते हैं; वे दुःख, पश्चात्ताप, शोक संताप, पीड़ा, परिताप, वध बंधन आदि से अलग नहीं होते हैं। विविध प्रकार के महान् आरंभ करके, समारंभ करके तथा आरंभ-समारंभ करके अनेक प्रकार के पाप कर्म करते हैं और मनुष्यों संबंधी उत्तम भोगों को भोगते हैं यथा-अन्न के समय अन्न, पान के समय पान, वस्त्र के समय वस्त्र, स्थान के समय स्थान और शय्या के समय शय्या का उपभोग करते हैं, प्रभात और संध्या के समय स्नान करते हैं, देवता की पूजा करते हैं, फिर अशुभ निवारण के लिए मषि-तिलक आदि करते हैं, दधि-अक्षत आदि का स्पर्श करते हैं और दर्पण आदि देखते हैं। सिर तक स्नान करके कंठ में माला धारण करते हैं। मणियाँ और सुवर्ण पहनते हैं। मस्तक पर फूल-मालाओं का मुकुट धारण करते हैं। युवावस्था के कारण पुष्ट शरीर होते हैं। कमर में करधनी और वक्षस्थल पर पुष्प-माला धारण करते हैं। नवीन और स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं। अंगों में चन्दन का लेपन करते हैं। महान् और विशाल प्रासाद के ऊपर, महान् सिंहासन पर आसीन होते हैं। वहां स्त्रियां उसे घेर लेती हैं। रात्रि भर दीपक जगमगाते रहते हैं। नाच गान होता है, वीणा मृदंग तालों की ध्वनि होती है। इस प्रकार उदार मनुष्य-संबंधी कामभोगों को भोगता हुआ वह मनुष्य विचरता है ॥ २३ ॥

मूल—तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति; भणह देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आचिट्ठामो ? किं भे हियं इच्छियं ? किं भे आसगस्स सयइ ?

तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति-देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अन्ने वि य णं उवजीवंति। तमेव पासित्ता आरिया वयंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अतिधुत्ते अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ ॥ २४ ॥

अर्थ-वह पुरुष एक को आज्ञा देता है तो बिना बुलाये चार-पांच जने सामने आ जाते हैं और कहते हैं-'हे देवों के वल्लभ ! कहिए, क्या सेवा करें ? क्या लावें ?

अर्थ—अधर्मपक्ष के वर्णन के पश्चात् अब तीसरे स्थान* मिश्र पक्ष का कथन ...या जाता है। यह जो जंगल में रहने वाले, घर या कुटिया बनाकर रहने वाले अथवा ...म के निकट निवास करने वाले या गुप्त कार्य करने वाले तापस होते हैं, वे शरीर ... त्याग करके किल्विषी देव होते हैं और उस देवयोनि के पश्चात् गूंगे और अंधे ...ते हैं। इनका जो आचार है वह मिश्रपक्ष है। यह मिश्रपक्ष अनार्य है, केवलज्ञान का ...क नहीं है, यावत् समस्त दुःखों के अन्त का मार्ग नहीं है, एकान्त मिथ्या है और ...रा है। यह तीसरे मिश्र स्थान का कथन किया गया॥ २७॥

## अधर्मपक्षी पुरुष का विचार

अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ ...ह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति—गिहत्था महिच्छा ...हारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्म-...खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणा अधम्मसील-...मुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति॥ २८॥

अर्थ—अब प्रथम स्थान अधर्म पक्ष का या, अधर्म पक्ष का सेवन करने वाले ...रुषों का कथन किया जाता है। इस जगत् में पूर्व पश्चिम आदि चारो दिशाओं ...ं कोई-कोई गृहस्थ मनुष्य होते हैं। वे महान् इच्छा वाले, महारंभ करने वाले, ...महापरिग्रह वाले, अधार्मिक, अधर्म के अनुगामी, अधर्म में निष्ठ, अधर्म की ही बात करने वाले, अधर्म को देखने वाले, प्रायः अधर्म से आजीविका करने वाले, अधर्म को देखने वाले और अधर्म की ही उत्तेजना देने वाले होते हैं। वे अधर्म शील, अधर्माचारी और अधर्मजीवी होते हैं॥ २८॥

मूल—हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जावं सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ

* यहां उस मिश्र स्थान का वर्णन है कि जिसमें पुण्य स्वल्प और पाप का परिमाण अधिक होता है। ऐसा टीकाकार कहते हैं।

गोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति। एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेतव्वो। तेणेव अभिलावेणं जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि।

एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु। दोचस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ २६ ॥

अर्थ–अधर्म पक्ष का कथन करने के पश्चात् दूसरे स्थान धर्म पक्ष का कथन किया जाता है–इस लोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें कोई आर्य और कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्रीय होते हैं, कोई नीचगोत्रीय होते हैं, कोई विशाल काय होते हैं, कोई ह्रस्व काय होते हैं, कोई सुन्दर वर्ण वाले तो कोई खराब वर्ण वाले होते हैं कोई सुरूप होते हैं तो कोई कुरूप होते हैं। इन पुरुषों के खेत और मकान आदि परिग्रह होते है। जो वर्णन पुण्डरीक अध्ययन में किया गया है, वही सब यहां कहना चाहिए। उन्ही शब्दों के अनुसार सब कहना चाहिए। यावत् जो सब कषायों को उपशान्त करके सब पाप स्थानों से निवृत्त हो चुके है, वे धर्म पक्ष वाले हैं, ऐसा मैं (सुधर्मा स्वामी) कहता हूं।

यह धर्मपक्ष आर्य है, केवल ज्ञान का जनक है, समस्त दुःखों का क्षय करने वाला है, एकान्त सम्यक् और साधु है। इस प्रकार दूसरे स्थान धर्मपक्ष का विचार किया गया है॥ २६ ॥

## धर्माधर्मपक्ष का विचार

मूल—अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ। जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई-रहस्सिता जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति। एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए॥ २७ ॥

अर्थ-अधर्मपक्ष के वर्णन के पश्चात् अब तीसरे स्थान* मिश्र पक्ष का कथन
ा जाता है। यह जो जंगल में रहने वाले, घर या कुटिया बनाकर रहने वाले अथवा
न के निकट निवास करने वाले या गुप्त कार्य करने वाले तापस होते हैं, वे शरीर
त्याग करके किल्विषी देव होते हैं और उस देवयोनि के पश्चात् गूंगे और अंधे
हैं। इनका जो आचार है वह मिश्रपक्ष है। यह मिश्रपक्ष अनार्य है, केवलज्ञान का
क नहीं है, यावत् समस्त दुःखों के अन्त का मार्ग नहीं है, एकान्त मिथ्या है और
है। यह तीसरे मिश्र स्थान का कथन किया गया ॥ २७ ॥

## अधर्मपक्षी पुरुष का विचार

**अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ
खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति–गिहत्था महिच्छा
हारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्म-
ाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणा अधम्मसील-
मुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ॥ २८ ॥**

अर्थ-अब प्रथम स्थान अधर्म पक्ष का या, अधर्म पक्ष का सेवन करने वाले
ों का कथन किया जाता है। इस जगत् में पूर्व पश्चिम आदि चारों दिशाओं
कोई-कोई गृहस्थ मनुष्य होते हैं। वे महान् इच्छा वाले, महारंभ करने वाले,
हापरिग्रह वाले, अधार्मिक, अधर्म के अनुगामी, अधर्म में निष्ठ, अधर्म की ही बात
रने वाले, अधर्म को देखने वाले, प्रायः अधर्म से आजीविका करने वाले, अधर्म को
लने वाले और अधर्म को ही उत्तेजना देने वाले होते हैं। वे अधर्म शील, अधर्माचारी
ौर अधर्मजीवी होते हैं ॥ २८ ॥

**मूल—हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा
ाहस्सिया उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला
दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ
अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडि-
विरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ**

* यहां उस मिश्र स्थान का वर्णन है कि जिसमें पुण्य स्वल्प और पाप का
परिमाण अधिक होता है। ऐसा टीकाकार कहते हैं।

अप्पडिविरया, सव्वाओ एहाणुम्मद्दणवण्णगगंधविलेवणसद्दफरिस-रसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ सगडरहजाण-वाहण-भोग भोयण-पवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास-रूवग-संववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ हिरण्णसुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ आरंभ समारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करण-कारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयणपयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-ताडन-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जे आवण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा, जे अणारिएहिं कज्जंति ततो अप्पडिविरया जावज्जीवाए ॥ २६ ॥

अर्थ—वे अधर्मी जन स्वयं अधर्म का आचरण करते हुए दूसरों को भी यह उपदेश एवं आदेश देते हैं कि-मारो, छेदन करो, भेदन करो । वे प्राणियों की चमड़ी काट लेते हैं । उसके हाथ लोहू से भरे रहते हैं । वे क्रोधी, रुद्र और क्षुद्र होते हैं । पाप करने में साहसी होते हैं वे प्राणियों को फेंक कर शूली पर चढ़ा देते हैं दूसरों को ठगते है, मायाचार करते है कपटी होते हैं, बगुलाभक्त होते हैं कम तोलते हैं और दूसरे को धोखा देने के लिए भाषा वेष-भूषा बदल लेते है । दुष्ट शील वाले, दुष्ट व्रत वाले, कठिनाई से प्रसन्न होने वाले और दुर्जन होते हैं । जीवन-पर्यन्त सभी प्रकार की हिंसा से निवृत्त नही होते तथा असत्य अदत्तादान अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से विरत नही होते । सब क्रोध यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य से अर्थात् अठारह पाप स्थानों से निवृत्त नहीं होते । जीवन के अन्त तक स्नान, तेल मर्दन, शरीर पर रंग लगाना, गध लगाना, चन्दन आदि का लेप करना, मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध को भोगना तथा माला और अलकारों को धारण करना नही त्यागते । जीवन भर गाड़ी रथ सवारी पालकी आकाशयान, वाहन आदि का भोग करना नही त्यागते । शयन अशन, यान, वाहन, भोग और भोजन को नही त्यागते । सब प्रकार के क्रय-विक्रय से एवं मासा आधा मासा आदि नाप-तोल के व्यवहार से जीवन पर्यन्त निवृत्त नही होते । सोने चांदी धन धान्य मणि, मोती शंख शिला मूंगा आदि से जीवन के अन्त तक निवृत नही होते । जीवन पर्यन्त झूठे तोल और झूठे नाप से विरत नही होते । जीवन

पर्यन्त पाप-कार्य करने और कराने से निवृत्त नहीं होते, पचन और पाचन से निवृत्त नहीं होते, कूटना, पीटना, तर्जन-ताड़न करना, वध-बंधन करना और विविध प्रकार से पीड़ा पहुँचाना आदि क्रियाओं से भी जिन्दगी भर निवृत नहीं होते। इसी प्रकार के अन्य जो सावद्य कर्म हैं, जो अबोधि को उत्पन्न करने वाले तथा अन्य प्राणियों को परिताप उपजाने वाले हैं और जो अनार्य पुरुषों द्वारा किये जाते हैं, उनसे भी वे जीवन पर्यन्त विरत नहीं होते। ऐसे लोग एकान्त अधर्म-पक्ष में स्थित हैं।

मूल—से जहाणामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-निप्फाव कुलत्थ-आलिसंदग-पलिमंथगमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति। एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिर-वट्टग- लावग-कवोत-कविंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सिरिसिवमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति। जा वि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा—दासे इ वा, पेसे इ वा, भयए इ वा, भाइल्ले इ वा, कम्मकरए इ वा, भोगपुरिसे इ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि वा अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ। तंजहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयल-संकोचियमोडियं करेह, इमं हत्थछिन्नयं करेह, इमं पायछिन्नयं करेह, इमं कन्नछिन्नयं करेह, इमं नक्कओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह, वेयगछहियं अंगछहियं पक्खाफोडियं करेह, इमं नयणुप्पाडियं करेह, इमं दसणुप्पाडियं करेह, वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह, घसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइयं करेह, सूलाभिन्नयं करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसभपुच्छियगं करेह, दवग्गिदड्ढयंगं, कागणिमंसखावियंगं, भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह ॥३०॥

अर्थ—कोई-कोई अत्यन्त क्रूर पुरुष चावल, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, निप्फाव (वाल) कुलथी, चँवला, परिमंथक आदि धान्यों को बिना किसी अपराध ही के वृथा दंड देते हैं। इसी तरह कोई-कोई अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतुर, बटेर, कबूतर, कपिंजल मृग, महिष, मकर, मगरमच्छ, गोह, कछुआ, सरीसृप (धरती पर रेंग कर चलने

वाले) आदि जीवों को अपराध के अभाव में भी व्यर्थ दंड का प्रयोग करते हैं। ऐसे क्रूर पुरुषों की जो बाहर की परिषद होती है, उसमें दास होता है, प्रेष्य (संदेश वाहक) होता है, वेतन भोगी भृत्य होते हैं, भागीदार होते हैं, कर्मचारी (दूसरे नौकर-चाकर होते हैं, भोग की सामग्री देने वाला होता है। इसी प्रकार के अन्य लोग भी होते हैं। इन दास, प्रेष्य आदि से अगर थोड़ा-सा कोई अपराध हो जाता है, तो वे क्रूर पुरुष उन्हें स्वयं भारी दंड देते हैं। उस दंड को बतलाते हैं-वे कहते हैं कि इसको मारो, इसका मस्तक मूंड़ लो, इसे तर्जना करो अर्थात फटकारो, ताड़ना करो, इसकी भुजाएँ पीछे करके बांधो, इसके हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल दो, इसे हडि (खोड़े) में डाल दो, चारक में डाल दो, बेड़ियों में कस कर इसके अंगों को मोड़ दो, इसके हाथ काट डालो, इसके पैर काट लो, इसे कनकटा करदो, इसकी नाक होठ, सिर या मुख काट डालो, इसे मार-मार कर बेहोश करदो, इसके अंग काट दो, चाबुक मार-मार कर इसकी खाल उधेड डालो, इसकी आँखें निकाल लो, इसके दांत उखाड़ दो, अंडकोष निकाल लो, जीभ निकाल लो, इसे उलटा लटका दो इसे धरती पर घसीटो, इसे (आम के समान) घोल दो, शूली पर चढ़ा दो, इसके शरीर में शूल चुभाओ, इसके अंगोपांग काटकर उन पर नमक छिड़क दो, इसका वध कर दो, इसे शेर की पूंछ से बांध दो, बैल की पूंछ से बांध दो, इसे दावानल में जला दो, इसका मांस काट कर कौओं को खिला दो, इसका भोजन-पानी बंद कर दो जीवनपर्यन्त कैद में डाल दो, इसे बुरी तरह मार-मार कर मुर्दा करदो॥ ३० ॥

मूल—जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवइ, तंजहा—माया इ वा, पिया इ वा, भाया इ वा, भगिणी इ वा, भज्जा इ वा, पुत्ता इ वा, धूता इ वा, सुण्हा इ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ। सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ, जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति, ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्टण-परितप्पण-वह-बंधण-परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥ ३१ ॥

अर्थ—अब उन क्रूर पुरुषों की आभ्यन्तर-परिषद् बतलाते हैं। उनकी आभ्यन्तर परिषद् में ये सब व्यक्ति होते हैं, जैसे—माता, पिता, भ्राता, भागिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, आदि। इनसे कोई तुच्छ-सा अपराध हो जाने पर वे स्वयं उन्हें भारी दंड देते है। सर्दी के मौसिम में उन्हें शीतल जल में डाल देते है। मित्र-दोष-प्रत्ययिक

क्रिया स्थान में जो-जो दंड कहे हैं, वे सब दण्ड यहाँ भी समझ लेने चाहिए। मगर ऐसा करना उनके लिए परलोक में अहितकारी है। ऐसे क्रूर पुरुष अपने कर्मों के फलस्वरूप दुखी होते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पीड़ा पाते हैं और परिताप करते हैं। वे दुःख शोक पश्चात्ताप पीड़ा ताप वध बन्धन आदि के कष्टों से कभी छुटकारा नहीं पाते ॥ ३१ ॥

मूल—एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहानामए अयगोले इ वा, सेलगोलेइ वा, उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥ ३२ ॥

अर्थ—इसी प्रकार वे पूर्वोक्त क्रूर पुरुष स्त्री आदि काम-भोगों में मूर्छित, गृद्ध, अत्यन्त लोलुप और तल्लीन होते हैं। वे चार-पांच या छह-दस वर्ष तक, थोड़े या बहुत समय तक, भोगों का उपभोग करके, अनेक जीवों के साथ वैर की वृद्धि करके, बहुत से पाप-कर्मों का संचय करके अपने पापों के भार से दब जाते हैं। जैसे-लोहे का गोला या पत्थर का गोला पानी में डाला जाने पर पानी को पार करके ठेठ तलभाग में जाकर ठहरता है, उसी प्रकार कर्म के भार से भारी बना हुआ पापी, प्राणियों के साथ वैर करने वाला, कुत्सित विचार करने वाला, दंभी, मायावी, ठगाई करने वाला वेषभूषा-भाषा बदल कर दूसरों को धोखा देन वाला, अपयश के कार्य करने वाला तथा त्रस जीवों की घात करने वाला वह पापी पुरुष इस पृथ्वी को लांघ कर नरक-तल में जाकर ठहरता है ॥ ३२ ॥

मूल—ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्प-संठाणसंठिया णिच्चंधकारतमसा ववगयगह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोइपहा, मेद-वसा-मंस रुहिर-पूय-पडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला, असुई, वीसा, परमदुब्भिगंधा, कण्हा, अगणिवण्णाभा, कक्खडफासा, दुरहियासा, असुभा णरगा, असुभा णरएसु वेयणाओ। ३३ ॥

अर्थ—जिन नरकों में उक्त पापी जीव उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है-ये नरक भीतर से गोल, बाहर से चौरस और नीचे छुरे की धार के समान तीक्ष्ण होते है। उनमें निरन्तर घोर अंधकार रहता है। वहाँ ग्रह, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र एवं ज्योतिर्मंडल का प्रकाश नहीं होता। उनका निचला भाग मेद, चर्बी, मांस, रुधिर पीव, की कीचड़ से लिप्त रहता है। वे अशुचि है, सड़े-गले मांस से व्याप्त, घोर बदबूदार और काले हैं। श्मशान की आग के सदृश वर्ण वाले, कठोर स्पर्श वाले और दुसह हैं। वास्तव में नरक अत्यन्त अशुभ है और नरक की वेदनाएँ भी अशुभ हैं॥ ३३॥

मूल—णो चेव णरएसु नेरइया निद्दायंति वा, पयलायंति वा, सुइं वा रइं वा धिर्ति वा मर्ति वा उवलमंते। ते णं तत्थ उज्जलं पगाढं विउलं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

से जहाणामए रुक्खे सिया, पव्वयग्गे जाए, मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति। एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं, दुक्खाओ दुक्खं, दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए यावि भवइ। एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्व-दुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। पढमस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए॥ ३४॥

अर्थ—नरक में रहने वाले नारकी जीव कभी निद्रा नहीं ले पाते, कहीं इधर-उधर नहीं जा सकते। वे श्रुति ( या शुचि या स्मृति ), रति, धृति या मति से वंचित रहते हैं अर्थात् उन्हें न कभी चैन मिलती है, न वहाँ कोई धीरज बँधाने वाला है; न वे सोच-विचार ही कर सकते हैं। वे वहाँ कठिन, प्रगाढ़, विपुल, कटुक, कर्कश, दुखरूप, प्रचण्ड, भयानक, तीव्र और दुरसह वेदना वेदते रहते हैं।

जैसे कोई वृक्ष हो और वह पर्वत के अग्रभाग पर उत्पन्न हुआ हो। उसकी जड़ काट दी गई हो और उसका अग्रभाग भारी हो। ऐसी स्थिति में वह जिधर नीचा होता है, उसी ओर गिरता है। इसी तरह पाप-कर्म से भारी जीव एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में, एक नरक से दूसरे नरक में

और एक दुःख से दूसरे दुःख में प्रवेश करता रहता है। वह दक्षिण दिशा में गमन करने वाला नरकगामी होता है। वह कृष्णपक्ष वाला है और भविष्य में भी उसे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। इस प्रकार यह अधर्मस्थान अनार्य है, केवल ज्ञान से रहित है, समस्त दुःखों का अन्त करने वाला नहीं है, एकान्त मिथ्या है और बुरा है। यह प्रथम अधर्म पक्ष का विशेष रूप से कथन किया गया है ॥ ३४ ॥

## धर्म पक्ष का विशेष विचार

मूल—अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवन्ति, तंजहा-अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू, सव्वतो पाणातिवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति,ततो विपडिविरता जावज्जीवाए ।३५।

अर्थ—अधर्म पक्ष का विशेष विचार करने के अनन्तर अब धर्म पक्ष का विशेष विचार किया जाता है। वह इस प्रकार है—जगत् में पूर्व आदि चारों दिशाओं में कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जो—आरंभ से रहित, परिग्रह से रहित, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मनिष्ठ, यावत् धर्म से ही अपनी आजीविका चलाते हुए विचरते हैं। वे सुशील, सुव्रतधारी, सहज प्रसन्न होने वाले और सुसाधु हैं। वे जीवन भर के लिये समस्त हिंसाओं से विरत होते हैं। दूसरे अज्ञानी जीव जो हिंसा आदि पापकर्म करते हैं, उनसे वे जिंदगी भर के लिए निवृत्त होते हैं॥ ३५ ॥

मूल—से जहाणामए अणगारा भगवंतो ईरियासमिया, भासासमिया, एसणासमिया, आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिया, मण-समिया वय-समिया काय-समिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा कंसपाईव मुक्कतोया, संखो इव णिरंजणा, जीव इव अप्पडिहयगती,

गगणतलं च निरालंबणा, वाउरिव अप्पडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलंता ॥ ३६ ॥

अर्थ—धार्मिक पुरुषों का वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से साधु के गुणों का वर्णन करते हैं-वे साधु भगवन्त ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, तथा उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणप्रतिष्ठापनासमिति से युक्त होते हैं, मनःसमिति वचनसमिति और कायसमिति से सम्पन्न होते हैं, मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति से युक्त होते हैं, अपनी इन्द्रियों का विषयों से गोपन करने वाले, गुप्तब्रह्मचारी, क्रोध मान माया लोभ से रहित, शान्त, प्रशान्त उपशान्त, आस्रवों से रहित, निर्ग्रन्थ, पाप के प्रवाह को रोक देने वाले, तथा कर्म—लेप से रहित होते हैं। जैसे कांसे के पात्र में जल का लेप नहीं लगता, उसी प्रकार उन संतों को कर्म-मल का लेप नहीं लगता। वे शंख के समान कषाय—कालिमा से रहित होते हैं। आत्मा के समान अप्रतिबद्ध-अस्खलित गति वाले, आकाश के सदृश निरालम्ब, वायु के समान प्रतिबंधविहीन, शरद्ऋतु के जल के समान निर्मल अन्तःकरण वाले, कमल के पत्ते के समान अलिप्त, कूर्म की तरह इन्द्रियों का गोपन करने वाले, तथा पक्षी के समान स्वाधीन भाव से विचरण करने वाले, होते हैं। गेंडे के सींग के समान एकाकी अर्थात् राग-द्वेष आदि विकारों से वर्जित, भारंड नामक पक्षी के समान सदा सावधान, गजराज के समान शूरवीर, वृषभ के समान सामर्थ्यशाली, सिंह के समान दुर्धर्ष, सुमेरु के सदृश निश्चल, अर्थात् परीषहों और उपसर्गों के आने पर संयम से विचलित नहीं होने वाले, सागर के समान गंभीर, अर्थात् हर्ष-विषाद से व्याकुल न होने वाले, चन्द्रमा की तरह शीतल स्वभाव वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, सुवर्ण के समान जात रूप निर्मल एवं दमकने वाले, पृथ्वी के समान सभी प्रकार के स्पर्शों को सहन करने वाले और अच्छी तरह होमी हुई अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान होते हैं ॥ ३६ ॥

मूल-णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थ वि पडिबंधे भवइ। से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा-अंडए इ वा, पोयए इ वा, उग्गहे इ वा, पग्गहे इ वा। जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं

दिसं अपडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥ ३७ ॥

अर्थ–उन संत भगवंतों के किसी स्थान पर प्रतिबंध नहीं है। वह प्रतिबंध चार प्रकार का है–(१) अंडे से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि पक्षियों का (२) थैली से उत्पन्न होने वाली हस्ती आदि का (३) बसति, पीठ, फलक आदि का और (४) उपकरणों का। इन चारों तरह के प्रतिबंधों से रहित होकर साधु जिस दिशा में जाने की इच्छा करते हैं, उसी दिशा में विचरते हैं। वे पावन मन वाले अहंकार रहित, अल्प परिग्रह वाले होकर संयम तथा तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं ॥ ३७ ॥

मूल--तेसिं णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था। तंजहा–चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चउदसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तिमासिए भत्ते, चउम्मासिए भत्ते, पंचमासिए, छम्मासिए, अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा, णिक्खित्तचरगा, उक्खित्तणिक्खित्तचरगा, अंतचरगा, पंतचरगा, लूहचरगा, समुदाणचरगा, संसट्ठचरगा, असंसट्ठचरगा, तज्जातसंसट्ठचरगा, दिट्ठलाभिया, अदिट्ठलाभिया, पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया, भिक्खलाभिया, अभिक्खलाभिया, अन्नायचरगा, उवनिहिया, संखादत्तिया, परिमितपिंडवाइया, सुद्धेसणिया, अंताहारा, पंताहारा, अरसाहारा, विरसाहारा, लूहाहारा, तुच्छाहारा, अंतजीवी, पंतजीवी, आयंबिलिया, पुरिमड्ढिया, निव्विगइया, अमज्जमंसासिणो, णो णियामरसभोई, ठाणाइया, पडिमाठाणाइया, उक्कडुआसणिया, णेसज्जिया, वीरासणिया, दंडायतिया, लगंडसाइणो, अप्पाउडा, अगत्तया, अकंडुया, अणिट्ठुहा, ( एवं जहोववाइए )। धुतकेसमंसुरोमनहा, सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति ॥ ३८ ॥

अर्थ—संयम का निर्वाह करने के लिए उन धर्मनिष्ठ सन्त जनों की वृत्ति इस प्रकार होती है–कोई एक दिन का उपवास करते हैं, कोई दो दिन का, कोई तीन, चार,

पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह दिन का तो कोई पन्द्रह दिन का उपवास करते हैं। कोई एक मास का, कोई दो मास का, कोई तीन मास का, कोई चार मास का, कोई पांच मास का और कोई छह मास का उपवास करते हैं। इसके अतिरिक्त कोई उत्क्षिप्तचर्या-हंडी में से निकाला हुआ आहार ही लेने का अभिग्रह करते हैं। कोई यह अभिग्रह करते हैं कि परोसने के लिए हंडी में से निकाला हुआ और फिर हंडी में डाला हुआ आहार मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं। कोई उक्त दोनों प्रकार के आहार को ग्रहण करने का अभिग्रह करते हैं। कोई अन्तप्रान्त आहार लेने का अभिग्रह करते हैं कोई रूक्ष आहार ही लेते हैं, कोई अनेक घरों से ही आहार लेते हैं। कोई भरे हुए हाथों से मिलने वाले आहार को ही ग्रहण करते हैं, कोई बिना भरे हाथों से मिलने वाला आहार ही लेते हैं, कोई जिस चीज से चम्मच या हाथ भरा हो, उससे वही वस्तु लेने का नियम लेते हैं, कोई देखे हुए आहार को ही लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई अनदेखे आहार को अनदेखे दाता से ही लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई पूछ कर ही आहार लेने वाले और कोई बिना पूछे मिलने वाले आहार को लेने वाले होते हैं। कोई तुच्छ निःसत्व और कोई अतुच्छ आहार ही लेने का नियम ले लेते हैं, कोई अज्ञात-अपरिचित कुल से प्राप्त होने पर ही आहार लेने का अभिग्रह करते हैं। कोई ऐसा नियम लेते हैं कि जो आहार दाता के पास रक्खा होगा, वही लूंगा। कोई दत्ति (दात) की संख्या करके ही आहार लेते हैं, कोई परिमित ही आहार लेते हैं, कोई शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाले, कोई अन्ताहारी प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्त जीवी, कोई आयंबिल करने वाले, कोई पुरिमड्ढ (दोपहर बाद ही आहार) करने वाले, कोई विगय अर्थात् घी दूध आदि से रहित ही भोजन करने वाले होते हैं। वे साधु कभी मद्य और मांस का सेवन नहीं करते, सदा सरस आहार नहीं करते, सदैव कायोत्सर्ग करते हैं, प्रतिमा का पालन करते हैं और उत्कट आसन से आसीन होते हैं। वे भूमि पर आसन युक्त ही बैठते हैं, वीरासन से बैठते हैं, डंडे की तरह लम्बे होकर रहते हैं, टेढे काष्ट के समान शयन करते हैं। कोई वस्त्र रहित होते हैं, कोई ध्यानस्थ रहते हैं, कोई शरीर को खुजलाने के त्यागी होते हैं, कोई थूक बाहर नहीं निकालते हैं, (शेष वर्णन उववाई सूत्र के अनुसार यहां समझ लेना चाहिए।) वे अपने केशों को, मूछों को एवं दाढी को नहीं संवारते हैं। अपने शरीर की शुश्रूषा के त्यागी होते हैं ॥ ३८ ॥

**मूल—ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता बहु बहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खन्ति। पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति, छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे**

अदंतवणगे अछत्ताए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्धे माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालनाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहंति। तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सास–निस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाण-दंसणं समुप्पाडेंति। समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अन्तं करेन्ति ॥ ३९ ॥

अर्थ–वे धर्मनिष्ठ साधु पुरुष इस प्रकार की उग्र चर्या करते हुए बहुत वर्षों तक चारित्र पर्याय का पालन करते हैं। चारित्र पर्याय का पालन करते-करते रोग आदि की बाधा उत्पन्न होने पर अथवा न उत्पन्न होने पर भी (बहुत वृद्धावस्था आदि कारण उपस्थित होने पर) आहार-पानी का परित्याग कर देते हैं और बहुत काल तक अनशन करते हैं। अनशन करके संथारे को पूर्ण करते हैं और जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए नग्नता, मुंडता, स्नान त्याग, दन्त धावन का त्याग, छत्र धारण न करना, जूते न पहनना, भूमि पर सोना, पटिये पर सोना, केशों का लुंचन करना, ब्रह्मचर्य पालना, भिक्षा के लिए पराये घर में प्रवेश करना, मान-अपमान को समान भाव से सहना, अवहेलना, निन्दा, फटकार, गर्हा, तर्जना, ताड़ना आदि को सहन करना आदि कठिन चर्या का अवलम्बन लिया जाता है, और जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भले-बुरे तथा कानों में कांटे की भांति चुभने वाले वचन सुने जाते हैं और बाईस परीषह तथा उपसर्ग सहन किये जाते हैं, उस प्रयोजन को अर्थात् मोक्ष की आराधना करते हैं। आराधना करके अन्तिम श्वास में अनन्त, सर्वोत्तम, अप्रतिघाती, आवरणविहीन, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करते हैं। केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं और समस्त दुःखों का अन्त करते हैं ॥ ३९ ॥

मूल–एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति। अवरे पुण पुव्व-कम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा-महड्ढिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु। ते णं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडिय-

थंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकन्नपीढधारी विचित्त-हत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगगंधपवरवत्थ-परिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा, दिव्वेणं रूवेणं, दिव्वेणं वन्नेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चाए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति ।

एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू । दोचस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ ४० ॥

अर्थ–उन उन धर्म निष्ठ सावुजनों में से कोई-कोई तो उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं और कोई–कोई पूर्वोपाजित कर्मों के शेष रह जाने से, काल के अवसर पर काल करके देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होते हैं । वे महान् ऋद्धिमान्,महान् द्युतिमान्, महापराक्रमवान् महायशस्वी, महान् बल वाले, महान् प्रभाव और महान् सुख वाले देवलोक में उत्पन्न होते हैं । वे देव भी महान् ऋद्धि के धारक, महान् द्युति वाले, यावत् महान् सुखों वाले होते हैं । उनका वक्षस्थल हार से सुशोभित होता है । कटक और केयूर आदि आभूषणों से उनकी भुजाएँ स्तंभित होती हैं अंगद और कुण्डलों से घिसे हुए कपोल वाले तथा कर्णपीठ के धारक होते हैं । उनके हाथों में अद्‌भुत आभूषण होते हैं । उनका मुकुट विचित्र प्रकार की मालाओं से मंडित होता है । वे कल्याणमय और सुगंधित वस्त्रों को धारण करते हैं । कल्याणकारी एवं उत्तम माला एवं अंग-लेपन को धारण करने वाले, दमकते हुए देह वाले तथा लम्बी-लम्बी वनमालाओं को धारण करने वाले देव होते हैं । दिव्य रूप, दिव्य वर्ण, दिव्य गंध, दिव्य स्पर्श, दिव्य संघात (शरीर) दिव्य संस्थान (आकृति), दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य छाया (कान्ति), दिव्य अर्चा, दिव्य तेज और लेश्या से दशों दिशाओं को उद्‌भासित करते हैं । कल्याणकर गति और स्थिति वाले होते हैं । वे भविष्य में भद्र रूप होने वाले देवता के रूप में जन्म लेते हैं ।

यह धर्म स्थान एकान्त रूप से आर्य (श्रेष्ठ) है, यावत् समस्त दुखों के सर्वथा विनाश का मार्ग है । एकान्त उत्तम और अच्छा है । यह दूसरे धर्म स्थान का विचार कहा गया है ॥ ४० ॥

# धर्माधर्म पक्ष का विशेष विचार

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति-सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरता जावज्जीवाए-एगच्चाओ अप्पडिविरया, जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, ततो वि एगचाओ अप्पडिविरया। ४१

अर्थ-धर्मस्थान नामक दूसरे पक्ष का विचार करने के पश्चात् अब तीसरे मिश्र अर्थात् धर्माधर्म पक्ष का विचार किया जाता है। जगत् में पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में कोई-कोई मनुष्य होते हैं, जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरंभ वाले, अल्प परिग्रह वाले धार्मिक, धर्म की अनुज्ञा देने वाले-धर्मानुयायी, यावत् धर्म से ही अपनी आजीविका करने वाले होते हैं। ऐसे सुशील, सुव्रती तथा सुख से प्रसन्न करने योग्य सज्जन पुरुष स्थूल प्राणातिपात से यावज्जीवन निवृत्त होते हैं और सूक्ष्म प्राणातिपात अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा, से निवृत्त नहीं हुए हैं। इसी प्रकार अन्य सावद्य एवं अबोधि के कारण भूत तथा अन्य प्राणियों को परितापना उपजाने वाले कर्म व्यापार से एक देश से विरत और एक देश से अविरत हैं, अर्थात् जो देशविरति का पालन करते हैं। वे मनुष्य विरताविरत कहलाते हैं॥ ४१॥

मूल-से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा, उवलद्ध-पुण्णपावा, आसवसंवरवेयणाणिज्जरा-किरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला, असहेज्जदेवासुरनागसुवण्ण-जक्खरक्खस किन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा, इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता, अयमाउसो, निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, उसियफलिहा, अवंगुयदुवारा, अचियत्तंतउरपरघरपवेसा, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं

पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढफलग सेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा, बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति । पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति । बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेन्ति । बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तंजहा– महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवं आहिए ॥ ४२ ॥

अर्थ–इस तृतीय पक्ष में श्रमणोपासक होते हैं । वे जीव, अजीव के ज्ञाता, पुण्य–पाप के ज्ञाता आस्रव, सवर वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष का स्वरूप जानने में कुशल होते हैं । वे किसी सहायता की आकांक्षा नहीं करते फिर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, किन्नर, किम्पुरुप, गरुड़, गंधर्व, महोरग आदि भी उन्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन से चलित नही कर सकते । वे निर्ग्रन्थ प्रवचन में शका कांक्षा और विचिकित्सा से रहित होते हैं, अर्थात् उन्हें जिनवचनो में शंका नहीं होती, अन्यधर्म को ग्रहण करने की इच्छा नही होती और धर्म के फल में सन्देह नहीं होता । वे शास्त्र के अर्थ के ज्ञाता एव उसे ग्रहण किये हुए होते है, कोई बात समझ में न आने पर गुरु से पूछकर निर्णय कर लेते हैं, अच्छी तरह समझ लेते हैं । उनकी हड्डी एवं मज्जा भी जिनप्रवचन के अनुराग से रंगी होती है । उनकी ऐसी श्रद्धा प्ररूपणा होती है कि–हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, शेष सब प्रवचन अनर्थ है । वे उदार और निर्मल चित्त वाले होते है । उनके घर के द्वार सदा खुले रहते है । वे राजा के अन्तःपुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश करना उचित नही समझते (और कदाचित् प्रवेश करें तो किसी को अप्रीति नही होती । ) वे श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि तिथियों के अवसर पर प्रतिपूर्ण पोषधोपवास करते है । निर्ग्रन्थ श्रमणों को अशन, पान,

खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, औषध, भेषज, पीठ, फलक, शय्या और तृण आदि का दान करते हैं। वे अपनी योग्यतानुसार ग्रहण किये हुए शीलव्रत, गुणव्रत, नवकारसी पोरसी आदि त्याग-प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास आदि तपश्चरण से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते है।

वे श्रावक इस प्रकार के आचार में प्रवृत्ति करते हुए बहुत वर्षों तक श्रावक-पर्याय का पालन करते हैं। श्रावकपर्याय का पालन करके रोग आदि की बाधा उत्पन्न होने पर अथवा न होने पर भी आहार-पानी का त्याग कर देते हैं और अनशन अंगीकार कर लेते हैं। अनशन करके संथारा पूर्ण करते है तथा जो पाप लगे हों, उनका आलोचन एवं प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करते है। समाधि प्राप्त करके काल के अवसर पर काल करके महान् ऋद्धि द्युति और महान् सुख वाले किसी देवलोक में उत्पन्न होते है। देवलोक और वहां की ऋद्धि आदि का वर्णन पहले के समान समझ लेना चाहिये।

यह स्थानक आर्य अर्थात् धर्मपक्ष का है। एकान्त सम्यक् और उत्तम है। इस प्रकार मिश्रपक्ष का स्वरूप कहा गया ॥ ४२ ॥

मूल-अविरइं पडुच्च वाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरइं पडुच्च वालपडिए आहिज्जइ। तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे अरंभट्ठाणे, अणारिए, जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू।

तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई, एस ठाणे अणारंभट्ठाणे, आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे, एगंतसम्मे साहू।

तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभ-णो-आरंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंत-सम्मे साहू ॥ ४३ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त तीनों स्थानों का संक्षेप में वर्णन करते हैः —अविरति की अपेक्षा से जीव बाल कहलाता है, विरति की अपेक्षा से पंडित कहलाता है और विरति-अविरति (देश विरति) की अपेक्षा से बालपंडित कहलाता है।

यह जो सर्वथा अविरति है, सो एकान्त रूप से आरंभ का स्थान है, अनार्य है, यावत् समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग नहीं है। यह एकान्त मिथ्या और निकृष्ट है।

यह जो सर्वथा विरति है, सो आरंभ त्याग का स्थान है, आर्य है, यावत् समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग है। यह एकान्त सम्यक् है और उत्तम है।

यह जो तीसरा विरति-अविरति स्थान है, सो आरंभ और नोआरंभ का स्थान है। यह स्थान आर्य और समस्त दुःखों का विनाशक है। एकान्त सम्यक् है, उत्तम है॥ ४३॥

## अहिंसा की तुला

मूल—एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति, तंजहा-धम्मे चेव, अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवंतीति मक्खायं। तंजहा-किरियावाईणं, अकिरियावाईणं, अन्नाणियवाईणं, वेणइयवाईणं। तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु, तेऽवि मोक्खमाहंसु, तेऽवि लवंति, सावगा! तेऽवि लवंति सावइत्तारो॥४४॥

अर्थ-यदि संक्षेप में विचार किया जाय तो इन दो स्थानों में ही सब पक्षों का समावेश हो जाता है, जैसे-धर्म और अधर्म अथवा उपशान्त और अनुपशान्त। इनमें से पहले अधर्म पक्ष का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमें तीन सौ त्रेसठ प्रावादुक (मतों के प्रतिपादक) अन्तर्गत हो जाते हैं, ऐसा कहा गया है। वे प्रावादुक इस प्रकार है—क्रियावादी एक सौ अस्सी, अक्रियावादी चौरासी, अज्ञानवादी सड़सठ और विनयवादी बत्तीस। इन सबका एक ही अधर्मपक्ष में समावेश हो जाता है। वे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार परिनिर्वाण का और कर्मों से मुक्ति पाने का कथन करते है, अपने श्रावकों को धर्म का उपदेश करते हैं और अपना धर्म सुनाते हैं।

मूल--ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं, णाणापन्ना, णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाजझवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति।

पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं णाणापन्ने जाव

णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी हंभो ! पावाउयो ! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भे सागडियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तगं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह; णो बहुसंडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहुअग्गि थंभणियं कुज्जा णो बहुसाहम्मियवेयावडियं कुज्जा, णो बहुपरधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह ॥४५॥

अर्थ–यह सब ( तीन सौ त्रेसठ ) धर्म की आदि करने वाले, नाना प्रकार की प्रज्ञा, अभिप्राय, आचार, दृष्टि, रुचि, आरंभ और निश्चय वाले प्रावादुक एक मंडल बना कर किसी जगह बैठे हों। ऐसे अवसर पर कोई पुरुष आग के अंगारों से पूरी भरी हुई पात्री को संडासी से पकड़ कर ले आवे और उन धर्म के आद्य प्रवर्त्तकों तथा नाना प्रकार की बुद्धि यावत् निश्चय वाले प्रवादियों से इस प्रकार कहे–हे धर्म के आद्य प्रवर्त्तको ! हे नाना प्रज्ञा यावत् नाना निश्चय करने वालो ! आप लोग अग्नि के अंगारों से पूरी भरी हुई इस पात्री को लेकर थोड़ी-थोड़ी देर तक अपने-अपने हाथ पर रक्खो। संडासी की सहायता मत लेना, मंत्र आदि के प्रयोग से अग्नि को स्तंभित मत करना, अपने स्वधर्मी की सहायता न माँगना और किसी परधर्मी की भी सहायता न लेना। सरल भाव से, मोक्ष के आराधक होकर, कपट न करते हुए हाथ फैलाओ और अंगारों के इस पात्र को हथेली में थामो ॥४५॥

मूल—इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागडियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति।

तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावादुया ! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ? पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ? दुक्खं दुक्खं ति मन्नमाणा पडिसाहरह ! एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे।

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेन्ति-सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा, किलामेयव्वा, उद्दवेयव्वा; ते आगंतुछेयाए, ते आगंतुभेयाए, जाव ते आगंतुजाइ जरा-मरण-जोणि-जम्मण संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भव-पवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति। ते बहूणं दंडणाणं, बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूयासुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति। अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति। ते णो सिज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे ॥४६॥

अर्थ–इस प्रकार कह कर वह पुरुष, अग्नि के अंगारों से पूरी भरी हुई उस पात्री को, सडासी से पकड़ कर उन प्रवादियों के हाथों में रखने लगे। तो वे धर्मों के आद्य प्रवर्तक, नाना प्रज्ञा, यावत् नाना निश्चय वाले प्रवादी अपने हाथ को दूर हटा लेंगे।

उन्हें अपना हाथ हटाते देख कर वह पुरुष उन धर्मों के आद्य प्रवर्त्तकों यावत् विभिन्न निश्चय करने वाले प्रवादियों से इस प्रकार कहता है–अरे धर्मों के आदि प्रवर्त्तको! अरे नाना प्रज्ञा एवं निश्चय वाले प्रवादियो! क्यों अपना हाथ हटा रहे हो? इसलिए कि हाथ कहीं जल न जाय? हाथ जल गया तो क्या होगा? तुम सोचते हो–दुःख होगा! दुःख के भय से ही तुम अपना हाथ हटा रहे हो! तो यही बात अन्य प्राणियों के विषय में जानो। दुःख अप्रिय है, यही तुला है, यही प्रमाण है और यही धर्म का सार है। यही बात प्रत्येक प्राणी के लिए तुला है, प्रत्यक के लिए प्रमाण है और प्रत्येक प्राणी के लिए धर्म का सार है।

जो श्रमण और माहन ऐसा कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सब प्राणियों का यावत् सत्वों का हनन करना चाहिए, उन्हें आज्ञा देकर काम में लगाना चाहिए,

दास-दासी के रूप में ग्रहण करना चाहिए, उन्हें परिताप पहुँचाना चाहिए, क्लेश और उपद्रव करना चाहिए; वे अपने को भविष्य में छेदन-भेदन का पात्र बनाते हैं। हिंसा का विधान करने वाले वे लोग भविष्य में जाति, जरा मरण, विभिन्न योनियों में जन्म, संसार, पुनर्भव, गर्भवास और संसार के प्रपंचों में फँसकर घोर दुःख के भागी होंगे। वे बार-बार बहुत दंडित होंगे, मूंड़े जाएँगे, तर्जना और ताड़ना सहेंगे, बंधन में पड़ेंगे और पके आम के फल की तरह घो. -मथे जाएँगे। उन्हें मातृमरण, पितृमरण, भ्रातृमरण, भगिनिमरण, पत्नीमरण, पुत्रमरण, पुत्रवधूमरण, दरिद्रता, दुर्भाग्य, अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग आदि के बहुत दु:ख और दुर्मनस्कता का पात्र बनना पड़ेगा। वे अनादि अनन्त एवं दीर्घ मध्य वाले चतुर्गति रूप संसार-अटवी में परिभ्रमण करेंगे। उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होगी, बोधि प्राप्त नहीं होगी, यावत् वे समस्त दुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे।

बस, इसी तुला (कसौटी) इसी प्रमाण और इसी समवसरण (सिद्धान्त) से कसो, नापो और समझो।

मूल—तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा, ते णो आगंतुछेयाए, ते णो आगंतुभेयाए, जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति। ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं, जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति। अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति, ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥४७॥

अर्थ—जो श्रमण और माहन इस प्रकार कहते और प्ररूपणा करते हैं कि–सब प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों का हनन नहीं करना चाहिए, उन्हें आज्ञा नही देना चाहिए, दास-दासी के रूप में नहीं रखना चाहिए, उनका उपद्रव नहीं करना चाहिए, उन्हें भविष्य में छेदन और भेदन का पात्र नहीं बनना पड़ेगा। वे जन्म, जरा, मरण, योनिजन्म, संसार, पुनर्भव, गर्भवास एवं भवप्रपंच आदि के क्लेशों के भागी नहीं होंगे। वे बहुत दंडों के पात्र नहीं होंगे, मुंडन के पात्र नही होंगे, यावत् दुःख और दुर्मनस्कता के पात्र नहीं होंगे। वे अनादि, अनन्त, दीर्घमध्य वाले चतुर्गति रूप संसार-अटवी में पुनः पुनः परिभ्रमण नही करेंगे। उन्हें सिद्धि प्राप्त होगी, यावत् वे समस्त दुःखों का अन्त करेंगे ॥४७॥

## उपसंहार

मूल-इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिसु, णो बुज्झिसु, णो मुच्चिंसु णो परिणिव्वाइंसु, जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, णो करेंति वा, णो करिस्संति वा ॥ एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु, मुच्चिसु, परिणिव्वाइंसु, जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा।

एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे, आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्ति बेमि ॥४८॥

अर्थ-पूर्वोक्त तेरह क्रियास्थानों में से प्रारंभ के बारह क्रियास्थानों में रहने वाले जीव सिद्ध नही हुए, लोकालोक का बोध उन्हें प्राप्त नहीं, वे कर्म से मुक्त नहीं हुए, परिनिर्वाण नही पा सके यावत् समस्त दुःखों का अन्त नहीं कर सके, न वर्तमान में कर सकते है और न भविष्य में कर सकेंगे। हां, तेरहवें क्रिया-स्थान में वर्तमान जीव सिद्ध हुए, बुद्ध हुए, मुक्त हुए और परिनिर्वाण के भागी हुए, यावत् उन्होंने अपने समस्त दुःखो का अन्त किया, करते है और करेंगे।

इस प्रकार बारह क्रियास्थानों का त्याग करने वाला मोक्षार्थी, आत्मा का हित करने वाला, आत्मा का गोपन करने वाला, योगों को अपने वश में करने वाला, आत्महित के लिए पराक्रम करने वाला, आत्मा को रक्षा करने वाला, आत्मा की अनुकम्पा करने वाला तथा आत्मा को भव-परम्परा से मुक्त करने वाला मुनि समस्त पापों से अपनी आत्मा को निवृत्त करे। ऐसा मैं कहता हूँ ॥४८॥

## इति किरियाठाणं णाम बीयमज्झयणं समत्तं

# तीसरा आहारपरिज्ञा अध्ययन

दूसरे अध्ययन में तेरह क्रियास्थानों की प्ररूपणा की गई है और यह बतलाया गया है कि जो श्रमण बारह क्रियास्थानों का परित्याग करके तेरहवें स्थान में स्थित होता है, वही सिद्धि लाभ कर सकता है, वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब तक आहार की निर्दोषता को समझ कर अनेषणीय और सचित्त आहार का त्याग न किया जाय, तब तक न तो सकल सावद्य कर्मों का त्याग हो सकता है और न तेरहवां क्रियास्थान ही प्राप्त हो सकता है। अतएव साधु को संयम यात्रा का निर्वाह करने के लिए निरवद्य आहार का ही उपयोग करना चाहिए और सदोष आहार से बचना चाहिए। यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

मूल—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु आहारपरिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे-इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तंजहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया। तेसिं च णं अहाबीयाणं अहावगासेणं इहेगइया सत्ता पुढवी-जोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति॥

ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं॥

**अवरेऽवि य णं तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणा फासा णाणासंठाण-संठिया णाणाविहसरीर-पुग्गल-विउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंति त्ति मक्खायं ॥१॥**

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं–हे आयुष्मन् ! भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने ऐसा फर्माया था, मैंने सुना है। जिन प्रवचन में आहार-परिज्ञा नामक अध्ययन है। उसका अर्थ इस प्रकार है–इस जगत् में पूर्व आदि सभी दिशाओं में एवं विदिशाओं में, सर्वत्र सम्पूर्ण लोक में चार प्रकार के बीज काय जीव होते हैं। वे इस प्रकार कहे गये हैं–(१) अग्रबीज (जिनके बीज अग्रभाग में होते हैं, ऐसे तिल, ताल, आम आदि वनस्पतियां) (२) मूल बीज (मूल से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियां, जैसे अदरख आदि), (३) पर्वबीज (पर्व-पोर से उत्पन्न होने वाली इक्षु आदि वनस्पतियां), (४) स्कंध बीज (स्कंध से उत्पन्न होने वाली वड़, सल्लकी आदि वनस्पतियां)।

इन बीजकाय के जीवों में जो जिस बीज से और जिस स्थान में उत्पन्न होने योग्य होते हैं, वे वहां और उस बीज से पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही स्थित रहते हैं और पृथ्वी पर ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वह पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले, रहने वाले और बढ़ने वाले जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार तथा कर्म से आकृष्ट होकर विविध प्रकार की योनि वाली पृथिवियों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। वे पृथ्वी पर उत्पन्न होकर विविध योनि वाली पृथ्वी के स्नेह (चिकास) का आहार करते हैं ( परन्तु पृथ्वी को कुछ भी दुःख नहीं होता। इस विषय में माता-पुत्र का दृष्टान्त समझना चाहिए।) वे जीव पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी आहार करते हैं। वे नाना प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों के शरीर का आहार करके उन्हें निर्जीव कर देते हैं और, कुछ विध्वस्त हुए पृथ्वी आदि के शरीर को तथा पहले और त्वचा द्वारा उत्पत्ति के बाद ग्रहण किये हुए, पृथ्वी शरीर आदि को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। इससे उनके पत्र, पुष्प फल फूल आदि अवयवों में नाना प्रकार के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श तथा आकार उत्पन्न होते हैं। वे सब नाना प्रकार के पुद्गलों से ही निर्मित होते हैं। वे कर्मों के वशीभूत हो कर ही स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं। ऐसा श्रीतीर्थंकर भगवान् ने कहा है॥ १॥

**मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्ख-संभवा रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तद्दुवक्कमा कम्मोवगा**

कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणा फासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥२॥

अर्थ—पृथ्वीकाय के पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने वनस्पतिकाय का अधिकार कहा है। इस जगत में कोई जीव वृक्षयोनिक होते है, अर्थात् वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं और वृक्ष में ही बढते हैं। वृक्षों में उत्पन्न होने वाले, वृक्षों में स्थित रहने वाले और वृक्षों में बढ़ने वाले वे जीव कर्म के अधीन होकर तथा कर्म से आकृष्ट होकर पृथ्वीयोनि वाले वृक्षों में वृक्ष रूप से परिणत होते हैं। वे जीव पृथ्वीयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते है। वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे नाना प्रकार के त्रस एव स्थावर जीवों के शरीर को अचित्त कर देते है। वे अचित्त किये हुए, पहले ग्रहण किये हुए तथा उत्पत्ति के पश्चात् त्वचा द्वारा ग्रहण किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को परिणत कर लेते है। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना प्रकार के वर्ण गंध रस स्पर्श तथा अवयवरचना वाले अन्य शरीर भी होते है जो नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से बने होते है। वे जीव कर्म के वशीभूत होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। ऐसा श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है ॥२॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुकमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं

तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥३॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर देव ने वनस्पतिकाय का दूसरा भेद कहा है। कोई-कोई जीव वृक्षयोनिक होते हैं। वे वृक्ष में उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही रहते हैं और वृक्ष में ही बढ़े होते हैं। वृक्ष में उत्पन्न होने वाले, रहने वाले और बढ़ने वाले वे जीव कर्म के वशीभूत होकर और कर्म से आकृष्ट होकर वृक्षों में आकर वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। वे वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं। अचित्त किये हुए तथा पहले आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को अपने शरीर के रूप में परिणत करते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले अन्य शरीर भी होते हैं। वे कर्म के वशीभूत होकर वृक्ष-योनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं। ऐसा श्रीतीर्थंकर देव ने फरमाया है ॥३॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥४॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर देव ने वनस्पति जीवों का और भी भेद कहा है। इस जगत् में कोई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं, और वृक्ष में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वे वृक्ष से उत्पन्न तथा वृक्ष में ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव कर्म-वशीभूत तथा कर्म से प्रेरित होकर वृक्ष में आते हैं और वृक्ष योनिक वृक्षों में वे

मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्ता, फूल, फल और बीज रूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्ष योनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वी जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। वे जीव नानाप्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं। वे उनके शरीरों को प्रासुक करके अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन वृक्षों से उत्पन्न मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और बीज रूप जीवों के नाना वर्ण और नाना गन्ध आदि से युक्त तथा नाना प्रकार के पुद्गलों से बने हुए शरीर होते हैं। वे जीव कर्म वशीभूत होकर यहां उत्पन्न होते हैं। यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है ॥४॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसम्भवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेन्ति; ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे विय णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥५॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् ने वनस्पतिकाय के जीवों का एक भेद और कहा है। इस जगत में कोई-कोई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में स्थित रहते हैं और वृक्ष में ही वृद्धि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वृक्ष से उत्पन्न होने वाले, वृक्ष में रहने वाले और वृक्ष में बढ़ने वाले वे जीव कर्म के वश होकर, कर्म से आकृष्ट होकर वनस्पतिकाय को प्राप्त करके, वृक्ष से उत्पन्न वृक्षों में अध्यारूह नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें अपने शरीर के रूप में परिणत करते हैं, उन वृक्ष योनिक अध्यारूह वृक्षों के नाना प्रकार के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा अवयवरचना वाले अन्य शरीर भी होते हैं। श्रीतीर्थंकर भगवान ने कहा है कि जीव इन शरीरों को कर्मोदय के कारण प्राप्त करता है ॥५॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुकमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा पुढवीसरीरं जाव

सारुविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं, अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥६।

अर्थ—वनस्पतिकाय का अन्य भेद भी कहा गया है। इस जगत् में कोई-कोई जीव पूर्वोक्त अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होते, रहते और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वे अपने कर्म के उदय से ही वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं और अध्यारुह वृक्ष के रूप में रहते हैं। ये वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति का भी आहार करते हैं और उन्हें अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के विविध प्रकार के वर्ण रस गंध स्पर्श और आकार वाले अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकर भगवान् ने कहा है ॥ ६ ॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं आउसरीरं जाव सारुविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥७॥

अर्थ—वनस्पतिकाय का अन्य भेद भी कहा गया है। इस जगत् में कोई-कोई वनस्पतिकाय के जीव अध्यारुहयोनिक होते हैं। वे अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में रहते हैं और उन्हीं में बढते हैं। यावत् अपने किये कर्म के वशीभूत होकर अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं। वे अध्यारुहयोनि वाले अध्यारुह वृक्षों के मूल यावत् बीज आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं और पृथ्वी आदि का भी आहार करते हैं। उन अध्यारुहयोनिक मूल यावत् बीजों के नाना वर्ण गंध आदि वाले अन्य शरीर भी होते हैं। ऐसा श्री तीर्थंकर भगवान् ने कहा है ।।७॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेऽवि

य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणा-वन्ना जावमक्खायं ॥८॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर देव ने अध्यारुह वृक्षों के भेद और भी बताये हैं। इस जगत् में कोई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होकर उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वहां आते है और अध्यारुह योनिक अध्यारुह वृक्षों के मूल तथा कन्द आदि से लेकर बीज तक के रूपों में उत्पन्न होते है। वे जीव उन अध्यारुह-योनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते है। उन अध्यारुहयोनिक मूल और बीज आदि के नाना वर्ण, गन्ध और रस स्पर्श वाले दूसरे शरीर भी तीर्थंकरों ने कहे हैं ॥८॥

मूल-अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढवि-संभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेन्ति, जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीतिमक्खायं ॥६॥

अर्थ—वनस्पतिकाय का और भेद भी कहा गया है। संसार में कोई-कोई वनस्पतिकाय के जीव पृथ्वीकाय योनिक होते हैं, वे पृथ्वी में ही स्थित रहते है और पृथ्वी पर ही बढते है। वे यावत् नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वी पर तृण रूप से उत्पन्न होते हैं। वे नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वी का आहार करते है। इत्यादि सब आलापक वृक्षों के पूर्वोक्त वर्णन के समान ही समझना चाहिए। वे जीव कर्म के वशीभूत होकर उत्पन्न होते है, ऐसा तीर्थंकर भगवान ने कहा है ॥९॥

मूल–(१) एवं पुढवि जोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, जाव मक्खायं। (२) एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारेन्ति जाव मक्खायं। (३) एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं।

एवं ओसहीण वि चत्तारि आलावगा। एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा ॥१०॥

अर्थ—इसी प्रकार कोई-कोई वनस्पति जीव पृथ्वी योनिक तृणों में तृण के रूप में उत्पन्न होते हैं। शेष कथन पूर्ववत् समझना चाहिए। इसी प्रकार कोई-कोई

जीव तृण-योनिक तृणों में तृण रूप से उत्पन्न होते हैं और वे तृण-योनिक तृण शरीर का आहार करते हैं। शेष पूर्ववत् जानना चाहिए। इसी प्रकार कोई-कोई जीव तृणयोनिक तृणों में मूल यावत् कंद आदि रूप से उत्पन्न होते हैं। इनका वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार औषधियों (धान्यों) के भी चार आलापक समझ लेने चाहिए और हरित काय के भी चार आलापक समझ लेना चाहिए ॥१०॥ (ये सब मिलकर बीस आलापक हुए)

मूल—आहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति। तेऽवि जीवा आहारति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। एगो चेव आलावगो, सेसा तिण्णि नत्थि।११।

अर्थ—श्रीतीर्थंकर भगवान् ने वनस्पति का और भी भेद कहा है। इस जगत् में कोई-कोई प्राणी अपने कर्मों से आकर्षित होकर पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में ही रहते और बढ़ते हैं। वे नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वी में आर्य, वाय, काय, कूहण, कदुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सच्छत्र, छत्रक, वासणी और कूर नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वी के सार का आहार करते है, तथा अन्य कायों का भी आहार करते हैं। और उन्हें अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन आर्य यावत् कूर वनस्पतियों के नाना वर्ण आदि वाले दूसरे शरीर भी होते हैं इन वनस्पतियों के विषय में एक ही आलापक कहना चाहिए, शेष तीन आलापक नहीं ॥११॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव

ं। अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा
णावण्णा जाव मक्खायं।

जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा अज्झारूहाण
तहेव। तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा
णियव्वा एक्केक्के ॥ १२ ॥

अर्थ–श्री तीर्थंकर भगवान् ने वनस्पति काय का और भी भेद कहा है। इस
गत् में कई जीव अपने कर्मों से खिच कर पानी में उत्पन्न होते हैं और पानी में
रहते एवं वृद्धि पाते हैं। वे नाना प्रकार की योनि वाले जल में वृक्ष रूप से उत्पन्न
ते हैं। वे उस नाना प्रकार की योनि वाले जल का आहार करते हैं और पृथ्वी
दि के शरीरों का आहार करते हैं। जल में उत्पन्न होने वाले उन वृक्षों के नाना
र्ण गंध आदि वाले अनेक शरीर होते हैं।

जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्षों के चार आलापक कहे हैं, उसी प्रकार अध्यारूह वृक्षों
णों, औषधियों और हरित कायों के चार-चार आलापक जान लेना चाहिये।

पृथ्वीयोनिक वृक्षों के चार, अध्यारूह वृक्षों के चार, तृणयोनिक के चार
षधियों (धान्यों) के चार, हरितकाय के चार तथा आर्द्र आदि वनस्पतियों का एक,
२१ आलापक पृथ्वीयोनिक वनस्पति के और २० जलयोनिक वनस्पति के, इस
कार यहां तक सब मिल कर ४१ आलापक वनस्पति के होते हैं ॥ १२ ॥

मूल–अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदग-
संभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु
उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए
हडत्ताए कसेरूगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए
कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियमहापोंड-
रियत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हार कोंकणयत्ताए
अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणाल पुक्खलत्ताए पुक्खलच्छि
भगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं
सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं।
अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं
सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। एगो चेव आलावगो ॥ १३ ॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवान ने फर्माया है कि इस जगत् में कितने ही प्राणी अपने कर्म के वशीभूत होकर जल में उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकाय के रूप में जन्म लेते हैं। वे वहीं स्थित रहते और बढ़ते हैं। नाना प्रकार की योनि वाले जल में उदक अवक (वनस्पति विशेष) पनक, शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्र पत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, बिस, मृणाल, पुष्कर और पुष्कराक्ष भग आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना प्रकार की योनि वालें जलों के स्नेह का आहार करते हैं और पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। उदक यावत् पुष्कराक्षभग पर्यन्त के वनस्पति जीवों के नाना प्रकार के वर्ण गंध रस स्पर्श एवं आकार के अन्य शरीर भी होते हैं। इनका एक ही आलापक है। इस प्रकार इन उदकयोनि जीवों के २१ आलापक होते हैं। सब मिलकर वनस्पतिकाय के ४२ आलापक हुए ॥१३॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता तेसिं चेव पुढवी-जोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं, अज्झारोह-जोणिएहिं अज्झारूहेहिं, अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं, पुढविजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं, मूलेहिं जाव बीएहिं, एवं ओसहीहि वि तिन्नि आलावगा, एवं हरिएहि वि तिन्नि आलावगा, पुढविजोणिएहि वि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं, एवं अज्झारूहेहि वि तिण्णि, तणेहिं पि तिण्णि आलावगा, ओसहीहिं पि तिण्णि, हरिएहिं पि, तिण्णि, उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहि तसपाणत्ताए विउट्टंति।

ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणि-याणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारूहाणं तणाणं, ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुरवाणं (कूराणं)

उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेन्ति । ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं जाव संतं । अवरे वि य णं तेसिं रूक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥१४॥

अर्थ—अब अन्य प्रकार से वनस्पति का स्वरूप कहते हैं । इस जगत् में कोई जीव पृथ्वीयोनिक वृक्षों से, वृक्षयोनिक वृक्षों से, वृक्षय निक मूल यावत् बीज से, वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों से, अध्यारुहयोनिक अध्यारुहों से, अध्यारुहयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों से, पृथ्वीयोनिक तृणों से, तृणयोनिक तृणों से, तृणयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार तीनों के तीन–तीन आलापक मिल कर नौ आलापक हुए । इसी तरह धान्य ( औषधियों ) के तथा हरितकाय के तीन–तीन आलापक समझने चाहिए । तथा पृथ्वीयोनिक आर्य नामक वनस्पति से, काय नामक वनस्पति से, कूर नामक वनस्पति से, उदकयोनिक वृक्षों से, वृक्षयोनिक वृक्षों से, वृक्षयोनिक मूल यावत् बीजों से, इसी प्रकार अध्यारुहों से, तृणों से, औषधि से तथा हरित काय से भी तीन-तीन आलापक कहना चाहिए । तथा जलयोनिक उदक, अवक और पुष्कराक्ष से भी त्रस प्राणी के रूप में जन्म लेते हैं ।

यह सब मिलकर ३२ आलापक हुए । इनमें पूर्वोक्त ४२ आलापक मिला देने से सब ७४ आलापक हो जाते हैं ।

वनस्पतियों में उत्पन्न होने वाले ये प्राणी पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, उदकयोनिक वृक्षों के, वृक्षयोनिक वृक्षों के, अध्यारूहयोनिक वृक्षों के तथा तृणयोनिक औषधयोनिक एवं हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष अध्यारूह तृण औषध हरित मूल, बीज, आयवृक्ष, कायवृक्ष, कूरवृक्ष, उदक, अवक एवं पुष्कराक्ष वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं । वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं । वृक्षों से उत्पन्न होने वाले, अध्यारूहों से उत्पन्न होने वाले, इसी प्रकार तृणों, औषधों, हरितों, मूलों, कन्दों तथा बीजों से उत्पन्न होने वाले, तथा आय काय कूर उदक अवक और पुष्कराक्ष से उत्पन्न होने वाले इन त्रस प्राणियों के नाना वर्ण गंध रस स्पर्श वाले अन्य शरीर भी तीर्थंकर भगवान् ने कहे हैं । ये जीव अपने कर्मों के वशीभूत होकर ही इस रूप में उत्पन्न होते हैं ।

यहाँ तक वनस्पतिकाय का स्वरूप बतलाया गया। शेष चार एकेन्द्रिय जीवों का स्वरूप आगे बतलाया जायगा। वनस्पतिकाय के पश्चात् त्रस जीवों का अधिकार कहते हैं ॥१४॥

मूल–अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं, तंजहा-कम्म भूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए तत्थ णं मेहुणवत्तियाए (व) णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति। ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसविहीओ आहारमाहारेति, ततो एगदेसेणं ओयमाहारेन्ति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति। आणुपुव्वेण वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीतिमक्खायं ५ ॥

अर्थ–वनस्पतिकाय के पश्चात् मनुष्यों का स्वरूप बतलाया गया है। मनुष्य भी नाना प्रकार के होते हैं। जैसे–कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले, अकर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले अन्तर्द्वीप में उत्पन्न होने वाले, आर्य और म्लेच्छ। इन मनुष्यों की [1]बीज और [2]अवकाश के अनुसार उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होने वाले जीव के कर्म के अनुकूल, स्त्री-पुरुष का मैथुन नामक संयोग होता है। वह संयोग उस जीव

१–शुक्र अधिक हो तो पुरुष, रुधिर अधिक हो तो स्त्री और दोनों बराबर हों तो नपुंसक हो। यह बीज की भिन्नता है।

२–माता की वाम कुक्षि में स्त्री, दक्षिण में पुरुष और वामदक्षिणाश्रित कुक्षि में नपुंसक हो, यह अवकाश की भिन्नता है।

की उस योनि में उत्पन्न होने का निमित्त होता है। संयोग होने पर जीव तैजस और कार्मण शरीर को लेकर जन्म लेते हैं। वह उत्पन्न होने वाले जीव माता-पिता के स्नेह का आहार करते हैं और वहीं स्त्री, पुरुष या नपुंसक रूप में उत्पन्न होते है। वे जीव पहले पहल माता के आर्तव और पिता के शुक्र को, जो परस्पर मिले हुए, मलिन और घृणास्पद होते, है आहार के रूप में ग्रहण करते है। तदनन्तर माता जो नाना प्रकार के रस वाले आहार को ग्रहण करती है, उसके एक भाग का ओज आहार करते हैं। इस प्रकार क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए और परिपक्वता को प्राप्त करते हुए माता के शरीर से बाहर निकलते हैं। कोई स्त्री रूप में, कोई पुरुष रूप में और कोई नपुंसक रूप में जन्म लेते है। वे जब बालक रूप में होते है तो माता के दूध और घृत का आहार करते हैं। धीरे-धीरे बड़े हो जाते है तो वे ओदन (भात वगैरह) कुल्माष (उड़द) तथा त्रस एवं स्थावर जीवों का आहार करते हैं। वे लवण आदि के रूप में पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते है और उस आहार को अपने शरीर के रूप में परिणत करते है। उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज अन्तर्द्वीपज, आर्य तथा अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्यों के शरीर नाना वर्णों वाले होते हैं। ऐसा श्री तीर्थंकर भगवान् ने फर्माया है॥ १५॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपाग-मणुप्पवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति। से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति, नपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेन्ति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारंन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जाव-मक्खायं॥१६॥

अर्थ—अनेक प्रकार के जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—इस जगत् में मच्छ, कच्छ मकर यावत् सुंसुमार आदि जलचर प्राणी

है। ये अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार, स्त्री-पुरुष का संयोग होने पर अपने कृत कर्म के उदय से गर्भ में उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति का वर्णन पहले के अनुसार समझ लेना चाहिये वे जीव गर्भ में आते ही ओज आहार ग्रहण करते है। गर्भ में अनुक्रम से वृद्धि पाते हुए, गर्भ का परिपाक हो जाने पर बाहर आते हैं। कोई अंडे के रूप में और कोई पोत (थैली) के रूप में जन्म लेते हैं। फिर उस अंडे के फूट जाने पर नर, मादा अथवा नपुंसक रूप में उत्पन्न होते हैं। जब वे जीव बाल्यावस्था में होते है तो अप्काय के स्नेह का आहार करते है। फिर क्रम से बढ़ते हुए वनस्पतिकाय तथा त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं और उस आहार को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते है। विविध प्रकार के जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि वाले उन मच्छ यावत् सुंसुमार आदि जीवों के शरीर यावत् अनेक वर्णों वाले होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है॥ १६॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-एगखुराणं, दुखुराणं, गंडीपदाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिए पुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ सिणेहं संचिणंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति। ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं। इत्थिं पि वेगया जणयंति, पुरिसंपि नपुंसगं पि। ते जाव डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेन्ति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइ कायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरि-क्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं॥१७॥

अर्थ—इस जगत् में चतुष्पद स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीवों के नाना भेद कहे गये है। जैसे—एक खुर वाले अश्व आदि, दो खुरों वाले गाय-भैंस आदि, गंडीपद हाथी आदि तथा नखयुक्त पैरो वाले सिंह व्याघ्र आदि। यह जीव बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का मैथुन रूप सयोग होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार गर्भ में आते हैं। वे पहले पहल माता और पिता के स्नेह

( विकास ) का आहार करते हैं। गर्भ में वे स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक रूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव गर्भ में माता के आर्तव और पिता के शुक्र को ग्रहण करते हैं। जैसे मनुष्य के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार इनके विषय में समझ लेना चाहिये। वे स्त्री, पुरुष या नपुंसक के रूप में जन्म लेते हैं। बाल्यावस्था में वे माता के दूध और घी का आहार करते हैं। अनुक्रम से बढने पर वे वनस्पतिकाय तथा त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। उन नाना प्रकार के एकखुर से लेकर नख युक्त पैर वाले चतुष्पद स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के और भी नाना वर्णों के शरीर होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है ॥ १७ ॥

मूल-अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्प-थलयर-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-अहीणं, अयगराणं, आसालियाणं, महोरगाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव ॥ नाणत्तं अंडं वेगइया जणयंति, पोयं वेगइया जणयंति। से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगइया जणयंति, पुरिसंपि णपुंसगंपि। ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेन्ति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव मक्खायं। १८ ॥

अर्थ-श्री तीर्थंकर देव ने नाना प्रकार के उरपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का स्वरूप कहा है। वे इस प्रकार हैं—सर्प, अजगर, असालिया और महोरग ये चार भेद हैं। वे अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का मैथुन संयोग होने पर, अपने कर्म से प्रेरित होकर उस-उस योनि में उत्पन्न होते हैं। शेष कथन पहले के समान समझना चाहिये। इनमें से कोई अंडे के फूट जाने पर कोई स्त्री के रूप में, कोई पुरुष के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव जब बाल्यावस्था में होते हैं तो वायुकाय का आहार करते हैं। अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए वनस्पति का तथा त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं और उस आहार को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन नाना प्रकार के उरपरिसर्प ( छाती के बल

चलने वाले ) स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के, जो सर्प से लेकर महोरग तक कहे गये हैं, शरीर नाना वर्ण गंध आदि वाले होते हैं। ऐसा श्री तीर्थंकर भगवान् ने कहा है ॥१८॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयर-पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-गोहाणं, नउलाणं, सिहाणं, सरडाणं, सल्लाणं, सरघाणं, खराणं, घरकोइलियाणं, विस्संभराणं, मुसगाणं, मंगुसाणं पइलाइयाणं, चिरालियाणं, जोहाणं, चउप्पाइयाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं, जाव सारुविकडं संतं। अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं० गोहाणं जावमक्खायं ॥१९॥

अर्थ—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर भगवान् ने भुजपरिसर्प ( भुजाओं के बल से चलने वाले ) स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का स्वरूप बतलाया है। वे इस प्रकार हैं–गोह, नकुल, सिंह, (गिलहरी), सरट (गिरगिट), सल्लक, सरघ, खर, गृह कोकिला विश्वंभर, (छिपकली) मूषिक, मंगुस, पदलालित, बिडाल, जोध और चउप्पाई। ये सब जीव भी अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री-पुरुष का संयोग होने पर उत्पन्न होते हैं। शेष कथन उरपरिसर्प के समान समझना चाहिए। यावत् ये जीव भी ग्रहण किये आहार को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। इन भुजपरिसर्प पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के अन्य भी अनेक प्रकार के वर्ण आदि वाले शरीर होते हैं। ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है ॥१९॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खेचरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं, तंजहा-चम्मपक्खीणं, लोमपक्खीणं, समुग्गपक्खीणं, विततपक्खीणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जाव उरपरिसप्पाणं। नाणत्तं ते जाव डहरा समाणा माउगत्त सिणेहमाहारेन्ति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं खेचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव मक्खायं ॥२०॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने खेचर (आकाश में उड़ने वाले) पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का स्वरूप कहा है। वे इस प्रकार हैं—चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत पक्षी। ये अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं। स्त्री और पुरुष का संसर्ग होने पर अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर वे उस योनि में जन्म लेते हैं। शेष कथन उरपरिसर्पजीवों के समान समझना चाहिए। गर्भ का परिपाक होने पर जब ये जीव बाहर आते हैं तो माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हैं। अनुक्रम से बढ़कर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर का आहार करते हैं और उसे अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। इन चर्म पक्षी आदि खेचर पचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के अन्य भी नाना वर्ण वाले शरीर होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने फर्माया है ॥२०॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं-इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं, तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। एवं दुरूवसंभवत्ताए। एवं खुरदुगत्ताए ॥२१॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने पूर्वोक्त मनुष्यों और तिर्यंचों के के अतिरिक्त अन्य जीवों का भी वर्णन किया है। इस जगत् में जीव अनेक योनियों में उत्पन्न होते है, अनेक योनियों में स्थित रहते है, और अनेक योनियों में वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उन नाना योनियों में उत्पन्न होने वाले, स्थिर रहने वाले और बढ़ने वाले ये जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार ही उन-उन योनियों में उत्पन्न हुए है। ये जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के सचित्त[1] एवं अचित्त[2] शरीरों में, उनका आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं। ये विविध प्रकार के त्रस एवं स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते है। पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते है। इन विविध प्रकार के त्रस एवं स्थावर जीवों के शरीर पुद्गलों में उत्पन्न होने वाले और उनके आश्रय में रहने वाले जीवों के नाना वर्ण आदि वाले अन्य शरीर भी होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर

१—जैसे-मनुष्य के शरीर में जूं, लीख आदि।

२—जैसे-खाट में खटमल आदि।

भगवान ने कहा ॥ इसी तरह पुरीष और मूत्र आदि से विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय, भैंस आदि के शरीर में चर्मकीट उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा, णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा, तं सरीरगं वायसंसिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति । अहेवाएसु अहेभागी भवति । तिरियवाएसु तिरियभागी भवति । तंजहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेन्ति । ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं । अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥२२॥

अर्थ—इसके अनन्तर तीर्थंकर भगवान् ने अप्काय का स्वरूप बतलाया है। इस जगत में कई प्राणी नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर अपने किये कर्म के उदय से वायुयोनिक अप्काय में आते हैं वे जीव अप्काय में आकर त्रस एवं स्थावर जीवों के सचित्त तथा अचित शरीर में अप्काय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वह अप्काय वायु से बना हुआ होता है। अतः जब वायु ऊपर जाता है, तब वह अपकाय भी ऊपर जाता है। जब वायु नीचे जाता है तब वह अप्काय भी नीचे जाता है और जब वह वायु तिर्छा जाता है तो वह अप्काय भी तिर्छा जाता है। इस अप्काय के नाम ये हैं— अवश्याय (ओस), हिम, मिहिका, करक (ओले), हरतनु और शुद्धोदक। वे जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। त्रस एवं स्थावर योनि से उत्पन्न होने वाले उस अवश्याय से लेकर शुद्धोदक पर्यंत अप्काय के विविध वर्ण वाले अन्य शरीर भी कहे गये हैं ॥२२॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेन्ति । ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं । अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥२३॥

अर्थ—वायुकाय से उत्पन्न होने वाले अप्काय का वर्णन करने के पश्चात् यहां अप्काय से उत्पन्न होने वाले अप्काय का वर्णन किया जाता है। इस जगत् में कितने ही जीव ऐसे हैं जो अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से अप्काय योनिक होते हैं, अप्काय में ही स्थित रहते हैं और अप्काय में ही उत्पन्न होते हैं। वे जीव त्रस और स्थावर योनिक जल के स्नेह का आहार करते हैं और पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। उस आहार को वे अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उस आहार को वे अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन त्रस, स्थावर योनिक जलों के नाना वर्ण आदि वाले अन्य शरीर भी कहे गये हैं॥ २३ ॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा। उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेन्ति ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवियणं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥२४॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने अप्योनि अप्काय का वर्णन किया है। इस जगत् में कोई-कोई जीव अपने कर्मों के प्रभाव से अप्योनिक में आते हैं। वे उदकयोनिक उदकों में उदक रूप से उत्पन्न होते है। वे उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं और उस आहार को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते है। उन उदकयोनिक उदकों के नाना वर्ण वाले दूसरे भी शरीर होते है, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है॥ २४॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ।२५।

अर्थ—इस जगत् में कितनेक जीव अपने कर्म के वशीभूत होकर उदकयोनिक उदक में आते हैं और उस उदकयोनिक उदक में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन उदकयोनिक त्रस जीवों के नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये है॥ २५ ॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेन्ति। ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं॥ २६॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने तेजस्काय के जीवों का स्वरूप कहा है। जगत् में कितने ही ऐसे जीव हैं, जो पहले नाना योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ उपार्जित किये हुए कर्मों के प्रभाव से विविध प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के शरीरों में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्निकाय के जीवों के नाना वर्ण वाले अन्य शरीर भी होते हैं, ऐसा भगवान् ने कहा है शेष तीन आलापक उदक के समान हैं॥ २६॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति। जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा, चत्तारि गमा॥२७॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीर्थंकर भगवान् ने वायुकाय के विषय में कहा है। इस संसार में कितनेक प्राणी पूर्वजन्म में विविध प्रकार की योनियों में जन्म लेकर वहाँ उपार्जित किये हुए कर्मों से आकृष्ट होकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त एवं अचित्त शरीरों में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी अग्निकाय के समान चार आलापक समझ लेने चाहिए॥ २७॥

मूल—अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए, इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ:—

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला या लोणूसे ।
अय-तउअ-तंब-सीसग-रुप्पसुवण्णे य वइरे य ॥ १ ॥
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सासगंजणपवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ॥ २ ॥
गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगयमसारगल्ले, भुयमोयगइंदणीले य ॥ ३ ॥
चंदणगेरुयहंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे ।
चंदप्पभवेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥

एयाओ एएसु भाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेन्ति । ते जीवा आहारेन्ति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं । सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥२८॥

अर्थ—वायुकाय के पश्चात् भगवान् ने पृथ्वीकाय का स्वरूप कहा है। इस जगत् में कई जीव नाना योनियों में उपार्जित कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के सचित्त या अचित्त शरीरों में पृथ्वी रूप से शर्करा रूप से अथवा बालुका रूप से उत्पन्न होते हैं। इन गाथाओं के अनुसार पृथ्वीकाय के भेद समझने चाहिए:—

(१) पृथिवी (२) शर्करा (३) बालुका (४) पत्थर (५) शिला (६) नमक (७) लोहा (८) रांगा (९) तांबा (१०) सीसा (११) चान्दी (१२) सोना (१३) वज्र (१४) हरिताल (१५) हिंगलु (१६) मैनसिल (१७) सासक (१८) अजन (१९) प्रवाल (२०) अभ्रक (२१) अभ्रबालुका, ये बादर पृथ्वीकाय के भेद हैं।

अब मणियों एवं रत्नों के भेद बतलाते हैं:-(१) गोमेद (२) रजत रत्न (३) अक (४) स्फटिक (५) लोहित (६) मरकत (७) मसारगल्ल (८) भुजपरिमोचक (९) इन्द्रनील (१०) चन्दन (११) गेरुक (१२) हंसगर्भ (१३) पुलक (१४) सौगंधिक (१५) चन्द्रप्रभ (१६) वैडूर्य (१७) जलकान्त और (१८) सूर्यकान्त; ये सब मणियों के भेद हैं।

इन गाथाओं में वर्णित पृथिवी से लेकर सूर्यकान्त तक के रूप में वे जीव उत्पन्न होते हैं। ये पृथ्वीकाय के जीव विविध प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह

का आहार करते हैं। पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्त पर्यंत जीवों के विविध वर्ण वाले अन्य शरीर भी होते हैं शेष तीन आलापक जलकाय के समान समझने चाहिए ॥ २८ ॥

मूल-अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परिया-समुवेन्ति ।

से एवमायाणह, से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्ति बेमि ॥ २९ ॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर देव ने सब जीवों के सम्बन्ध में इस प्रकार फर्माया है-सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व विविध प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। उन्हीं योनियों में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उन्हीं योनियों में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही स्थित रहते हैं और शरीर में ही वृद्धि प्राप्त करते है। वे शरीरों का आहार करते हैं। अपने-अपने कर्मों के अनुगामी हैं, कर्म ही उनकी उत्पत्ति का कारण है। कर्म के अनुसार ही उनकी गति होती है और कर्म के अनुसार ही वे उस योनि में स्थित रहते हैं। कर्म के उदय से ही वे एक पर्याय से दूसरी पर्याय को प्राप्त करते हैं और दुःख के भागी होते हैं।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं-हे जम्बू! जैसा मैंने कहा है, तुम वैसा ही समझो। समझ कर विवेकवान् आहार गुप्त बने अर्थात् सदोष आहार का त्याग करे, ज्ञानादि गुणों से युक्त बने, पाँच समितियों से युक्त हो और सदा काल यतनावान् होकर विचरे। ऐसा मैं तीर्थंकर भगवान् के कथनानुसार कहता हूँ ॥ २९ ॥

इति आहारपरिण्णा नाम तइयं अज्झयणं समत्तं ॥

# प्रत्याख्यानक्रिया नामक चौथा अध्ययन

तीसरे अध्ययन में षट्काय का स्वरूप बतला कर अन्त में आहार की शुद्धि का विधान किया गया है। आहार की शुद्धि प्रत्याख्यान से ही हो सकती है। अतएव इस अध्ययन में प्रत्याख्यान का विधान किया जाता है।

मूल—सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे। तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिए यावि भवति, आया एगंतदंडे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति। एस खलु भगवता अक्खाए असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते। से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति। पावे य से कम्मे कज्जई ॥६३॥

अर्थ—श्री सुधर्मा स्वामी, श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं—हे शिष्य! आयुष्मान् भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था। मैंने उनका कथन सुना था। इस जिनागम में प्रत्याख्यान-क्रिया नामक अध्ययन है। उस अध्ययन का अर्थ इस प्रकार है। आत्मा अप्रत्याख्यानी होता है, परन्तु प्रत्याख्यानी भी हो जाता है, अर्थात् संसारी जीव अनादिकाल से प्रत्याख्यान से रहित चला आ रहा है, किन्तु जब शुभ कर्म का संयोग मिलता है तो प्रत्याख्यानी भी हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा शुभ क्रिया को न करने वाला अर्थात् सदाचार से रहित भी होता है, परन्तु बाद में शुभ क्रिया से युक्त भी हो जाता है। आत्मा मिथ्यात्व सहित भी होता है, आत्मा दूसरे प्राणियों को एकान्त रूप से दंड देने वाला भी होता है, आत्मा एकान्त अज्ञानवान् भी होता है,

आत्मा एकान्त सुप्त भी होता है, आत्मा अपने मन, वचन और काया से वक्र और विचार न करने वाला भी होता है। आत्मा अपने अतीत कालीन पापों का आलोचना आदि के द्वारा घात न करने वाला और भविष्यत्कालीन पापों का प्रत्याख्यान न करने वाला भी होता है। ऐसे आत्मा को भगवान् तीर्थंकर ने असंयमी, अविरत, पाप कर्मों का प्रतिघात एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, क्रिया-युक्त, संवर रहित, एकान्त दंड देने वाला, एकान्त बाल और एकान्त सोया हुआ कहा है। वह अज्ञानी जीव, जो मन, वचन और काया से वक्र और विचार से रहित है, चाहे स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात् अत्यन्त ही अप्रकट ज्ञान वाला भी क्यों न हो, तो भी पाप कर्म का बंध करता है ॥१॥

मूल–तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी–असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वईए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अविचारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ। कस्स णं तं हेउं ?

चोयए एवं बवीति–अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वईए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावेणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ।

पुणरवि चोयए एवं बवीति–तत्थ णं जे ते एवमाहंसु असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतीयाए वतिए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ ॥

तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु ॥२॥

अर्थ—अत्यन्त अप्रकट ज्ञान वाला जीव भी पाप कर्म का बंध करता है, इस प्रकार की प्ररूपणा सुनकर प्रश्नकर्ता प्ररूपणा करने वाले से कहता है–यदि पापयुक्त मन न हो, पापयुक्त वचन न हो, पापयुक्त काय न हो, जीव प्राणियों की हिंसा न करता हो, हिंसा के विचार से रहित मन वचन काय और वाक्य वाला हो और

अत्यन्त अप्रकट ज्ञान वाला हो, तो ऐसा जीव ( जैसे निगोदिया जीव पाप-कर्म ) नहीं करता है।

एसा जीव पाप-कर्म क्यों नही करता है ?

इस प्रकार प्रश्न करने पर प्रश्नकर्त्ता उसका समाधान करता है–मन पापयुक्त हो तो मानसिक पाप किया जाता है, वचन पापयुक्त हो तो वाचनिक पाप किया जाता है, काय पापयुक्त हो तो कायिक पाप किया जाता है। जो जीव प्राणियो की घात करता है, जो मन से युक्त है और जो मन, वचन, काय तथा वाक्य के विचार से युक्त है और जो व्यक्त ज्ञान वाला है, जो प्राणी इस प्रकार के गुणो से सम्पन्न है, वही पाप-कर्म कर सकता है।

प्रश्नकर्त्ता फिर कहता है–जिसके पापरूप मन, पापरूप वचन और पापरूप काय नही है, जो प्राणियो की घात नही कर रहा है, जा अमनस्क है मन वचन काय और वाक्य के विचार से रहित है और जा स्वप्न भी नही देखता अर्थात् व्यक्त ज्ञान से रहित है, ऐसे प्राणी द्वारा भी पापकर्म किया जाता है, ऐसा जो कहते है सो मिथ्या कहते है ॥ २ ॥

**मूल—तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी–तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं । असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वइए पाविआए, असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अविआरमणवयण-कायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति, तं सम्मं। कस्स णं तं हेउं ?-आयरिया ( आचार्य ) आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता, तंजहा-पुढविकाइया जाव तसकाइया। इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तंजहा पाणातिवाए जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥३॥**

अर्थ—पूर्वोक्त प्रश्न के विषय मे प्रश्नकर्त्ता से प्ररूपक ( उत्तरदाता ) ने इस प्रकार कहा–मैंने पहले जो कहा है, वह सम्यक् है। भले हो कोई जीव पापयुक्त मन पापयुक्त वचन और पापयुक्त काय वाला न हो, अमनस्क हो, विचारयुक्त मन वचन काय एवं वाक्य वाला न हो और स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात् व्यक्त ज्ञान से हीन हो, फिर भी वह पापकर्म करता है। यह कथन सत्य है। इसका कारण क्या है ? आचार्य उत्तर देते हैं— भगवान् तीर्थंकर ने छह जीवनिकायो को कर्मबंध का कारण कहा है। पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक छह जीवनिकाय हैं। जिस जीव ने छह

जीवनिकायों की हिंसा से हुए पाप का आलोचन, गर्हा एवं तपस्या आदि के द्वारा नाश नहीं किया है और भविष्य के लिए जिसने त्याग नहीं किया है, जिसका चित्त नित्य ही पापकर्म में लीन रहता है- जो निरन्तर प्राणियों को दण्ड देने का विचार करता रहता है, प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक और क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के सभी पापों से निवृत्त नहीं हुआ है । उसे पापकर्म का बंध अवश्य होता है ।

तात्पर्य यह है कि चाहे कोई जीव संज्ञी हो या असंज्ञी हो, जानबूझ कर प्राणियों की हिंसा करता हो या न करता हो, व्यक्त ज्ञान वाला हो अथवा न हो, यदि उसने भूतकालीन पापों का प्रतिघात और भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है तो वह अवश्य ही पापकर्म का भागी होता है । पापकर्म के बंध से वही जीव मुक्त होता है जो सब पापों से निवृत्त हो चुका हो ॥ ३ ॥

मूल-आयरिय ( आचार्य ) आह-तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठते पण्णत्ते । से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा, गाहावइपुत्तस्स वा, रण्णो वा रायपुरिसस्स वा, खणं निद्दाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि, संपहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए- हंता, भवति ॥ ४ ॥

अर्थ-उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने के लिए आचार्य कहते हैं-इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने वधक का दृष्टान्त फर्माया है । जैसे कोई हत्यारा हो और वह गाथापति का, गाथापति के पुत्र का, राजा का अथवा किसी राज पुरुष का वध करना चाहता है । वह चिन्तन करता है कि अवसर पाकर मैं इसके घर में प्रवेश करूँगा और अवसर पाकर इसका वध करूँगा । इस प्रकार गाथापति, गाथापति के पुत्र, राजा अथवा राजपुरुष के घर में अवसर पाकर प्रवेश करूँगा और अवसर पाकर उसका वध करूँगा, ऐसा संकल्प करने वाला पुरुष दिन में और रात्रि में, सोते समय और जागते समय निरन्तर उसका शत्रु और उसके वध की इच्छा वाला कहा जायगा या नहीं ? तब प्रश्नकर्त्ता कहता हैं-हाँ, कहा जायगा-आप यथार्थ कहते हैं ॥ ४ ॥

मूल—आयरिया आह-जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा, तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा, रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि त्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं०-पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥५॥

अर्थ—आचार्य फर्माते हैं-जैसे वह वधक उस गाथापति, गाथापति के पुत्र, राजा या राजपुरुष का वध करना चाहता है और सोचता है कि अवसर पाकर इसके घर में प्रवेश करूँगा और अवसर पाकर इसका वध करूँगा। इस प्रकार सोचने वाला वह वधक दिन में और रात में तथा सोते समय और जागते समय सदैव उसका शत्रु है और प्रतिकूल व्यवहार करने वाला है, निरन्तर उनके घात को बात ही उसके चित्त में बनी रहती है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी दिन-रात, सोता-जागता सब प्राणियों एवं सत्वों का शत्रु बना रहता है, उनके विरुद्ध होता है, उनके प्रति शठता से हिंसा का भाव रखता है, क्योंकि वह प्राणातिपात से लगा कर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारहों पापों में विद्यमान रहता है। इस कारण भगवान् तीर्थंकर ने कहा है कि ऐसा जीव असयत है, अविरत है, अप्रतिहतपापकर्मा है, अप्रत्याख्यातपापकर्मा है, एकान्त बाल है, एकान्त सोया हुआ है। ऐसा अज्ञानी जीव विचारविहीन मन वचन काय और वाक्य वाला हो और व्यक्त ज्ञान वाला न हो तो भी वह पापकर्म करने वाला है ॥ ५ ॥

मूल—जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते, निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं

पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ॥६॥

अर्थ—जैसे यह हत्यारा पुरुष, उस गाथापति, गाथापतिपुत्र राजा और राजपुरुष के प्रति निरन्तर हिंसा का भाव धारण करता है, दिन में तथा रात्रि में, सोते समय और जागते समय सर्वदा ही उनका शत्रु है, उनके प्रति प्रतिकूल आचरण करने वाला है; शठता से युक्त होकर उनके घात का चित्त में विचार करता है, इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पापों का परित्याग न करने वाला अज्ञानी जीव प्रत्येक प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा की भावना रखता हुआ दिन-रात, सोते-जागते उनका शत्रु है, उनके प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, और शठता के साथ हिंसा युक्त चित्त धारण करता है।

तात्पर्य यह है कि गाथापति की हत्या की ताक में रहने वाला वधक चाहे घात का अवसर न पावे और घात न कर पावे, फिर भी वह उनका वधक ही कहलाता है. उन समस्त प्राणियों को हिंसा का त्याग न करने वाला जीव अवश्य ही पाप कर्म का बंध करता है ॥ ६ ॥

मूल—णो इणट्ठे समट्ठे। चोयए-इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा, नाभिमया वा विन्नाया वा, जेसिं णो पत्तेय चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥७॥

अर्थ-आचार्य के कहने पर प्रश्नकर्ता कहता है-आपने जो अर्थ कहा, सो योग्य नही है। इस लोक में बहुत (अनन्त) प्राणी विद्यमान हैं। उन प्राणियों को शरीर-युक्त रूप में न देखा है और न सुना है। उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार भी नहीं किया है और न उन्हें जाना ही है। उन एक-एक जीवों के विनाश का विचार भी नही किया हैं। तथापि रात-दिन सोते-जागते उनका शत्रु बना रहना, उनको धोखा देना एवं सदैव शठता युक्त हिंसामय मनोभाव रखना कैसे संभव हो सकता है ? और प्राणातिपात आदि अठारह पाप स्थानों का सेवन किये बिना पापकर्म का बंध कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

मूल—आयरिया आह-तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता तं० सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य। से किं तं सन्निदिट्ठंते ? जे इमे

सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसि णं छज्जीवनिकाए पडुच्च, तं०-पुढवीकायं जाव तसकायं। से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि, कारवेइ वि, तस्स णं एवं भवइ एवं खलु अहं पुढवीकाएणं किच्चं करेमि वि, कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ इमेण वा इमेण वा, से एतेण पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि, कारवेइ वि, से णं तत्तो पुढवीकायाओ असंजय-अविरय-अप्पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ। एवं जाव तसकाए त्ति भाणियव्वं।

से एगइओ छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेइ वि, कारवेइ वि तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि, कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ इमेहिं वा, इमेहिं वा। से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं कारवेइ वि। से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे, तं०-पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से कम्मे कज्जइ; से तं सन्निदिट्ठंते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रश्नकर्ता द्वारा पूर्वोक्त प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते हैं-इस विषय में भगवान् ने दो दृष्टान्त कहे है-एक संज्ञी का दृष्टान्त और दूसरा असंज्ञी का दृष्टान्त। इन दोनों में से संज्ञी का दृष्टान्त क्या है ? जो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं, उनमें से कदाचित् कोई जीव पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त छह जीवनिकायों में से केवल पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और दूसरों से करवाता है तो, उसके मन में यही अभिप्राय होता है कि—मैं पृथ्वीकाय से कार्य करता हूँ और करवाता हूँ। उसके मन में ऐसा अभिप्राय नहीं होता कि मैं श्वेत, काली या पीली आदि अमुक-अमुक पृथ्वी से कार्य करता और करवाता हूँ, सम्पूर्ण पृथ्वी से नहीं। जब तक उसके मन में ऐसा अभिप्राय नहीं है कि मैं अमुक-अमुक पृथ्वी से ही कार्य करता और करवाता हूँ, तब तक उसे समस्त पृथ्वीकाय का पाप लगता है। वह पुरुष पृथ्वीकाय का असंयमी है, पृथ्वीकाय संबंधी पाप से विरत नहीं है, उसने पृथ्वीकाय की हिंसा का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसी प्रकार त्रसकाय तक सभी कायों के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

पत्तेयं पत्तेयं, चित्तसमादाए, दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ॥६॥

अर्थ—जैसे वह हत्यारा पुरुष, उस गाथापति, गाथापतिपुत्र राजा और राजपुरुष के प्रति निरन्तर हिंसा का भाव धारण करता है, दिन में तथा रात्रि में, सोते समय और जागते समय सर्वदा ही उनका शत्रु है, उनके प्रति प्रतिकूल आचरण करने वाला है; शठता से युक्त होकर उनके घात का चित्त में विचार करता है, इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पापों का परित्याग न करने वाला अज्ञानी जीव प्रत्येक प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा की भावना रखता हुआ दिन-रात, सोते-जागते उनका शत्रु है, उनके प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, और शठता के साथ हिंसा युक्त चित्त धारण करता है।

तात्पर्य यह है कि गाथापति की हत्या की ताक में रहने वाला वधक चाहे घात का अवसर न पावे और घात न कर पावे, फिर भी वह उनका वधक ही कहलाता है, उन समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग न करने वाला जीव अवश्य ही पाप कर्म का बंध करता है ॥ ६ ॥

मूल—णो इणट्ठे समट्ठे । चोयए-इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा, नाभिमया वा विन्नाया वा, जेसिं णो पत्तेयं, चित्तसमायाए, दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते । मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्त० दंडे, तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥७॥

अर्थ-आचार्य के कहने पर प्रश्नकर्त्ता कहता है-आपने जो अर्थ कहा, सो योग्य नही है। इस लोक में बहुत (अनन्त) प्राणी विद्यमान हैं। उन प्राणियों को शरीर-युक्त रूप में न देखा है और न सुना है। उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार भी नही किया है और न उन्हें जाना ही है। उन एक-एक जीवो के विनाश का विचार भी नही किया है। तथापि रात-दिन सोते-जागते उनका शत्रु बना रहना, उनको धोखा देना एव सदैव शठता युक्त हिंसामय मनोभाव रखना कैसे संभव हो सकता है ? और प्राणातिपात आदि अठारह पाप स्थानों का सेवन किये बिना पापकर्म का बंध कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

मूल—आयरिया आह-तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता तं० सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य । से किं तं सन्निदिट्ठंते ? जे इमे

पाणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन-शल्य तक के अठारहों पापस्थानों का सेवन करते है। अतएव यद्यपि इन जीवों में मन नहीं है, वचन भी नही है, फिर भी ये समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों को दुःख देने से शोक पहुँचाने से, झुराने से, पीटने से, परिताप देने से तथा एक ही साथ दुःख शोक यावत् परिताप वध, बन्धन क्लेश आदि पहुँचाने से विरत नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

मूल-इति खलु से असन्निणो वि सत्ता अहोनिसिं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति, जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति, जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंत्ति, (एवं भूतवादी) सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होन्ति, असन्निणो हुच्चा सन्निणो होन्ति, होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी, तत्थ से अविविचित्ता अविधूणित्ता असंमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकायाए संकमंति, सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति, सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति, असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति। जे एए सन्नि वा असन्नि वा, सव्वे ते मिच्छायारा, निच्चं पसढविउवाय चित्तदंडा, तं०-पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते; से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार वे जीव असंज्ञी होकर भी दिन-रात प्राणातिपात में स्थित कहे जाते हैं, परिग्रह में स्थित कहे जाते हैं, यावत् मिथ्यादर्शन शल्य में स्थित कहे जाते हैं। सभी योनियों के जीव संज्ञी होकर आगामी जन्म में असंज्ञी रूप से उत्पन्न हो जाते हैं और असंज्ञी जीव मरकर संज्ञी के रूप में जन्म ले लेते है। (जीवों की स्थिति सदा एक सी नहीं रहती। असज्ञी जीव सदैव जन्मान्तर में भी असज्ञी ही रहे या सज्ञी सदा सज्ञी ही रहे ऐसा नियम नहीं है। वे जीव संज्ञी अथवा असज्ञी रूप में जन्म धारण करके अपने उपार्जित कर्मों को अलग न करके, उनका छेदन न करके, उनके लिए पश्चाताप न करके असंज्ञी पर्याय से संज्ञी पर्याय में और संज्ञी पर्याय से असज्ञी पर्याय में उत्पन्न होते हैं, सज्ञी पर्याय से सज्ञी पर्याय में भी उत्पन्न होते हैं और असज्ञी पर्याय से असंज्ञी पर्याय में भी उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात्

कोई पुरुष छहों कायों के जीवों से कार्य करता है और कराता है तो उसके मन में यही अभिप्राय होता है कि मैं छहों कायों के जीवों से कार्य करता हूँ या कराता हूँ। वह ऐसा नहीं सोचता कि मैं अमुक-अमुक काय से ही कार्य करता हूँ अथवा कराता हूँ-सब से नहीं करता या कराता। ऐसा पुरुष उन छहों जीवनिकायों के जीवों का असंयमी है, अविरत है, उसने उनको हिंसा का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया है। वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक के सभी पापों का सेवन करने वाला है। ऐसे पुरुष को भगवान् ने असंयत, अविरत, पाप कर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान न करने वाला कहा है। वह भले ही स्वप्न भी न देखता हो, फिर भी उसे पाप का बंध होता है। यह सज्ञी का दृष्टान्त हुआ ॥ ८ ॥

मूल—से किं तं असन्नि-दिट्ठंते ? जे इमे असन्निणो पाणा, तं० पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया, छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं णो तक्काइ वा, सन्ना ति वा, पन्ना ति वा, मणा ति वा, वईति वा, सयं वा करणाए, अन्नेहिं वा कारावेत्तए, करतं वा समणुजाणित्तए, ते ऽ वि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिया निच्चं पसढविउवातचित्तदंडा, तं०-पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए, ते दुक्खणसोयण जाव परितप्पणवह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥९॥

अर्थ—अब असंज्ञी का दृष्टान्त कहते हैं। इस संसार में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, यह पाँच स्थावर, तथा कोई-कोई त्रस प्राणी असज्ञी होते हैं। इन असंज्ञी जीवों में न तर्क होता है, न संज्ञा होती है, न प्रज्ञा होता है, न मन होता है, न *वाणी होती है। ये जीव न स्वयं कार्य कर सकते हैं, न दूसरे से करा सकते हैं और न करने वाले को अच्छा जान सकते हैं। ऐसे अज्ञानी जीव भी समस्त प्राणियों यावत् सत्वों के दिन-रात, सोते-जागते शत्रु बने रहते हैं, उन्हें धोखा देना चाहते हैं और उनके प्रति शठतायुक्त हिंसामय चित्तवृत्ति धारण किये रहते हैं।

*यद्यपि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को जिह्वेन्द्रिय प्राप्त है, फिर भी उनमें स्पष्ट अर्थ वाली वाणी नहीं होती, अतः वाणी का निषेध किया है।

आचार्य उत्तर देते है—इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने छह जीवनिकाय को कारण बतलाया है; जैसे कि पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय। जैसे डंडे से, हड्डी से, मिट्टी के ढेले से, या ठीकरी से ताड़ना करने पर यावत् उपद्रव करने पर, यहाँ तक कि रोम उखाड़ने पर भी मुझको हिंसाकृत दुःख और भय की अनुभूति होती है, उसी प्रकार सब प्राणियों एवं सब सत्वों के विषय में जानना चाहिए। अर्थात् सभी प्राणियों को दुःख एवं भय होता है। वे भी दंड से यावत् ठीकरी से मारने पर, हनन किये जाने पर, तर्जित किये जाने पर, ताड़ित किये जाने पर यावत् उपद्रव किये जाने पर यावत् रोम भी उखाड़ने पर हिंसाकृत दुःख और भय का अनुभव करते हैं। ऐसा जान कर किसी भी प्राणी यावत् सत्व का हनन नहीं करना चाहिए, यावत् उसका उपद्रव नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और लोक के स्वरूप को जान कर तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है।

ऐसा जान कर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के अठारहों पापों से विरत होता है। अठारह पापों का त्यागी साधु दातुन से या दूसरे साधनों से दांतों का प्रक्षालन न करे, आंखों में अंजन न लगावे, औषध लेकर वमन न करे, धूप से शरीर या वस्त्र आदि को सुगंधित न करे। ऐसा साधु सावद्य क्रिया से रहित, हिंसा से रहित, क्रोध मान माया लोभ से रहित, उपशान्त तथा निष्पाप होकर विचरे।

इस प्रकार के पुरुष को भगवान् ने संयत, विरत, पापों का प्रतिघात एवं प्रत्याख्यान करने वाला, सावद्य क्रिया से रहित, संवरयुक्त और एकान्त पंडित कहा है।

तात्पर्य यह है कि जो विवेकवान् पुरुष समस्त प्राणियों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के समान समझता है और ऐसा समझ कर किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचाता, जो समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है, वही संयत, विरत आदि कहलाता है।१। ऐसा मैं कहता हूँ।

इति पच्चक्खाणकिरिया णाम चउत्थमज्झयणं समत्तं।।

चारों भंगों में से कोई किसी भी भंग में उत्पन्न हो सकता है। यह सभी संज्ञी और असंज्ञी जीव मिथ्या आचार वाले तथा शठतायुक्त हिंसामय चित्तवृत्ति वाले होते हैं। प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक अठारह पापों का सेवन करते हैं। अतएव भगवान् ने उन जीवों को असंयत, अविरत, पापों का आलोचना तपश्चर्या आदि द्वारा घात न करने वाले तथा प्रत्याख्यान न करने वाले, क्रियायुक्त, संवर रहित, एकान्त दंड देने वाले, एकान्त बाल तथा एकान्त सुप्त कहा है। ऐसा अज्ञानी जीव मन वचन काय और वाक्य के विचार से रहित तथा अव्यक्त ज्ञान वाला होने पर भी पापकर्म का बंध करता है ॥ १० ॥

मूल-चोयए:-से किं कुव्वं, किं कारवं, कहं संजयविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ ?

आयरिए आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता तंजहा-पुढवी काइया जाव तसकाइया। से जहाणामए मम अस्सातं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स, वा जाव लोमुक्खणण-मायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति। एवं णच्चा-सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा जाव न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए। एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं णो धूवणं पि आइत्ते। से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे जाव अलोभे, उवसंते, परिनिव्वुडे। एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ त्ति बेमि ॥ ११ ॥

अर्थ—शिष्य पूछता है—क्या करता हुआ और क्या कराता हुआ मनुष्य किस प्रकार संयत, विरत, पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ?

एकान्त नित्यता का अर्थ है वस्तु की उत्पत्ति न होना, विनाश न होना, किन्तु सद काल एक ही रूप में रहना। इस प्रकार की नित्यता स्वीकार करने से बंध-मोक्ष आदि का अभाव हो जाएगा। जो बद्ध है वह सदैव बद्ध रहेगा, कभी मुक्त नहीं हो सकेगा रोगी सदैव रोगी ही रहेगा, दुखी सदा दुखी रहेगा। इसके विपरीत एकान्त-अनित्यत का अर्थ है-क्षण भगुरता। क्षणभंगुर पदार्थ एक क्षण से अधिक नहीं ठहरता। ऐस मानने से लेन-देन आदि संसार संबंधी समस्त व्यवहार नष्ट हो जाएँगे। इस तर दोनों एकान्तवाद परमार्थ एवं व्यवहार से विरुद्ध हैं; अतः उनका सेवन करन अनाचार है ॥ ३ ॥

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥ ४ ॥

अर्थ—सभी भव्य जीव मोक्ष में चले जाएँगे, अतः संसार भव्य जीवों से शू हो जायगा। समस्त प्राणी एक दूसरे से विलक्षण स्वभाव वाले हैं, सब जीव कर्म रूप ग्रंथि से युक्त ही रहेंगे अथवा तीर्थंकर भगवान् सदैव स्थायी रहेंगे, ऐसे एकान्त वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

अर्थ—इन दोनों एकान्त स्थानों से व्यवहार नहीं होता है। अतः इन दोन स्थानों ( पक्षों ) का सेवन करना अनाचार का सेवन करना जानना चाहिए ॥ ५ ॥

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती य णो वदे ॥ ६ ॥

अर्थ—इस संसार में जो एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्मकाय प्राणी हैं और जो हाथ घोड़ा आदि स्थूलकाय प्राणी हैं, उनको मारने से समान ही वैर होता है अथवा समा वैर नहीं ही होता है, ऐसा एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि हिंसाजनित पाप की तीव्रता अथवा मन्दता का एक मा आधार जीव के शरीर की स्थूलता या सूक्ष्मता नहीं है। पापबंध की तीव्रता-मन्दत का प्रधान आधार कषाय रूप परिणाम की तीव्रता-मन्दता है। अतएव किसी प्राण के शरीर की सूक्ष्मता-स्थूलता के आधार पर पाप की न्यूनता या अधिकता का निर्ण नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

# पांचवाँ अध्ययन-आचारश्रुत

गत चतुर्थ अध्ययन में प्रत्याख्यान की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्याख्यान का पालन करने के लिए अनाचार का परित्याग करके आचार में स्थित होने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर ही प्रत्याख्यान का सम्यक् प्रकार से पालन हो सकता है। अतएव इस अध्ययन में आचार-अनाचार का प्रतिपादन किया जाता है।

आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वइ।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥१॥

अर्थ-विवेकी पुरुष ब्रह्मचर्य ( जिनशासन ) को अंगीकार करके तथा प्रस्तुत अध्ययन को समझ कर कभी भी इस धर्म में अनाचार का सेवन न करे ॥ १ ॥

अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो।
सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

अर्थ-आचार और अनाचार का स्वरूप बतलाने की इच्छा से सर्व प्रथम लोक का स्वरूप बतलाया गया है। चतुर्दश रज्जुपरिमित इस लोक को अनादि और अनन्त जानकर ऐसी दृष्टि न धारण करे कि यह लोक एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है।

तात्पर्य यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं। लोक के विषय में भी यही बात है। अतएव लोक को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य कहना अनाचार है। उसे कथंचित् नित्यानित्य ही मानना और कहना चाहिए ॥ २ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

अर्थ-इन पूर्वोक्त दोनों स्थानों से अर्थात् एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता रूप पक्षों से जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता। अतएव इन दोनों एकान्त पक्षों को ग्रहण करना अनाचार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जगत् का कोई भी व्यवहार न तो एकान्त नित्यता मानने से चल सकता है और न एकान्त अनित्यता को स्वीकार करने से ही चल सकता है।

णत्थि जीवा अजीवा वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१३॥

अर्थ—उपयोग लक्षण वाले संसारी या मुक्त जीव नहीं हैं, तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय काल, आकाश और पुदगलात्मक अजीव भी नहीं हैं, ऐसी संज्ञा नही रखनी चाहिए किन्तु जीव हैं और अजीव हैं, ऐसी संज्ञा रखनी चाहिए। अर्थात् जीव और जड़ पदार्थ दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए ॥ १३ ॥

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१४॥

अर्थ—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का सद्भाव नहीं है तथा मिथ्यात्व अविरति आदि रूप अधर्म की भी सत्ता नहीं है, ऐसा नही समझना चाहिए। किन्तु धर्म भी है और अधर्म भी है, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१५॥

अर्थ—जीव को बध नहीं होता और मोक्ष भी नहीं होता, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु बध भी होता है और मोक्ष भी होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १५ ॥

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

अर्थ—शुभ प्रकृति रूप पुण्य और अशुभ प्रकृति रूप पाप नहीं हैं, ऐसा न कहे; किन्तु पुण्य और पाप—दोनो का सद्भाव है, ऐसा कहे ॥ १६ ॥

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १७ ॥

अर्थ—कर्मग्रहण का कारणभूत प्राणातिपात आदि आस्रव तथा आस्रव-निरोध रूप संवर नही है, ऐसा नही समझना चाहिए; किन्तु आस्रव भी है और संवर भी है; ऐसा समझना चाहिए ॥ १७ ॥

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१८॥

अर्थ-इन दोनों एकान्तमय पक्षों से व्यवहार नहीं होता है। अतएव इन दोनों एकान्त पक्षों का सेवन करना अनाचार जानना चाहिए ॥ ८ ॥

अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्ते ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥ ८ ॥

अर्थ-जो साधु आधाकर्मी आहार खाते हैं, वे परस्पर पापकर्म से लिप्त होते ही हैं, अथवा पाप से लिप्त नहीं ही होते है ऐसा न कहे ॥ ८ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

अर्थः—इन दोनों एकान्त पक्षों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तमय वचनों का प्रयोग करना अनाचार समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कदाचित् अपवादमार्ग में, शास्त्रविधि के अनुसार आधाकर्मी आहार भी कर्मबंध का कारण नहीं होता है और जिह्वालोलुपता आदि से ग्रहण किया हुआ आधाकर्मी आहार कर्मबंध का कारण होता है। अतएव दोनों प्रकार के एकान्त वचनों का व्यवहार अनाचार है ॥ ९ ॥

जमिदं ओरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥११॥

अर्थ-यह जो ओदारिक, आहारक, कार्मण आदि शरीर है सो एकान्त रूप से भिन्न ही है या एकान्त रूप से अभिन्न ही है। तथा सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति विद्यमान है अथवा सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति विद्यमान नहीं है। इन दोनों एकान्त पक्षों से व्यवहार नहीं होता अतएव दोनों प्रकार के एकान्तों का सेवन करना अनाचार जानना चाहिए ॥ १०-११ ॥

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१२॥

अर्थ-शून्यवादी के मत का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं-पंचास्तिकाय रूप लोक और आकाश रूप अलोक नहीं हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु लोक हैं और अलोक भी है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १२ ॥

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

अर्थ—सिद्धि ( मुक्ति ) नहीं है या असिद्धि ( संसार ) नहीं है, ऐसा न कहे, किन्तु सिद्धि भी है और असिद्धि भी है, ऐसा कहना चाहिए ॥ २५ ॥

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

अर्थ—सिद्धि जीव का निज-स्थान नहीं है, अर्थात् लोकाग्रभागवर्त्ती सिद्धशिला नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, पर सिद्धि जीव का निज-स्थान है, ऐसा मानना चाहिए ॥ २६ ॥

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

अर्थ—जगत् में न कोई साधु है और न कोई असाधु है; ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु साधु भी हैं और असाधु भी हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ २७ ॥

नत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

अर्थ—संसार में न कोई कल्याण है, न कल्याणवान् है और न कोई अकल्याण है, न अकल्याणवान् ( पापी ) है; ऐसा नहीं समझना चाहिए। किन्तु यह समझना चाहिए कि जगत् में कल्याण भी है, अकल्याण भी है, अर्थात् पुण्यात्मा भी हैं और पापात्मा भी हैं ॥ २८ ॥

कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥ २९ ॥

अर्थ—पुनः एकान्त मार्ग का दोष बतलाते हैं-यह पुरुष एकान्त कल्याणवान् है अथवा एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता ( क्योंकि जगत् में एकान्त कुछ भी नहीं है ) तथापि अज्ञानी होने पर भी अपने को ज्ञानी समझने वाले शाक्य आदि श्रमण एकांत पक्ष का आश्रय लेने से जो कर्मबंध होता है, उसे नहीं जानते ॥२९॥

असेसं अक्खयं वावि, सव्वदुक्खेति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झ त्ति, इति वायं न नीसरे ॥ ३० ॥

अर्थ—कर्म के फल का अनुभव करना वेदना है और फल देने के पश्चात् कर्म का आत्मा से पृथक हो जाना निर्जरा है। यह वेदना और निर्जरा नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु वेदना भी है और निर्जरा भी है, ऐसा समझना चाहिए ॥१८॥

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१६॥

अर्थः—चलना-फिरना आदि क्रिया नहीं है अथवा अक्रिया नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु क्रिया भी है और अक्रिया भी है, ऐसा समझना चाहिए ॥१९॥

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

अर्थ—क्रोध या मान नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु क्रोध भी है और मान भी है, ऐसा मानना चाहिए ॥ २० ॥

णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

अर्थ—माया एवं लोभ नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु माया और लोभ हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ २१ ॥

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

अर्थ—राग या द्वेष नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु राग भी है और द्वेष भी है ऐसा समझना चाहिए ॥ २२ ॥

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥

अर्थ—चार गति रूप संसार नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु चार गति रूप संसार है, ऐसा समझना चाहिए ॥ २३ ॥

णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २४ ॥

अर्थ—देव नहीं है अथवा देवी नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु देव भी है देवी भी है, ऐसा मानना चाहिए। २४ ॥

# आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन

पंचम अध्ययन में आचार के सेवन और अनाचार के परित्याग का उपदेश दिया गया है। इस अध्ययन में मुनि आर्द्रक के दृष्टान्त से उसी उपदेश का अधिक सुगम रूप से प्रतिपादन करते हैं और यह भी बतलाते हैं कि आचार का सेवन एव अनाचार का त्याग कोई अशक्य नुष्ठान नहीं है। पूर्वकालोन महापुरुष ऐसा करते आये है, अतएव अव भी इसे व्यवहार में लाया जा सकता है।

आर्द्रक कुमार की कथा इस प्रकार सुनी जाती है—आर्द्रकपुर के राजा आर्द्रक के पुत्र का नाम आर्द्रककुमार था। किसी समय राजा आर्द्रक राजग्रही नगरी के राजा श्रेणिक को कुछ उत्तम वस्तु भेंट रूप में किसो के साथ भेजने लगे तब आर्द्रककुमार ने भी श्रेणिक राजा के पुत्र अभयकुमार के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए बहुमूल्य उपहार कुमार के लिए भेजे। आर्द्रक के भेजे पुरुष ने राजग्रही पहुँच कर राजा का उपहार राजा को और राजकुमार का भेजा उपहार राजकुमार अभय को प्रदान कर दिया। अभयकुमार ने आर्द्रक कुमार के विपय में पूछताछ की तो उस पुरुष ने आर्द्रक कुमार के सद्गुणों की प्रशंसा करते हुए सब वृत्तान्त सुनाया।

आर्द्रक कुमार का परिचय पाकर बुद्धिशाली अभयकुमार समझ गया कि वह भव्य पुरुष जान पड़ता है। अतएव आर्द्रक कुमार को धर्म का स्वरूप समझाने के लिए अभय कुमार ने उसी पुरुप के साथ मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरण भेजे। वह पुरुष लौट कर वापिस आर्द्रकपुर आया। उसने अभयकुमार द्वारा प्रेपित उपहार आर्द्रककुमार को प्रदान किये। आर्द्रककुमार वह उपहार लेकर आरिसाभवन में गये। एक-एक करके धर्मोपकरणों को देखने लगे। उन्होने मुखवस्त्रिका अपने शरीर के कई अंगो पर बांध कर देखी, परन्तु किसी अंग पर वह सुशोभित नही दिखाई दी। तब उसे मुख पर बाँधी। काच में देखा तो उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो ऐसा मुखवस्त्रिका वाला रूप उन्होने पहले भी कभी देखा है। विचार करते-करते उन्हें जातिस्मरणज्ञान की प्राप्ति हुई। अब वह अपने पूर्वभव जानने लगे। उन्हें स्मरण आया कि:—

मैं वसन्तपुर नामक नगर में एक गृहस्थ था। मैंने अपनी पत्नी के साथ धर्मघोष अनगार के निकट साधु दीक्षा अंगीकार की थी। दीक्षित अवस्था में मुझे अपनी पत्नी को देख कर राग उत्पन्न हुआ था। उस पाप की आलोचना किये बिना ही, संथारा

अर्थ—जगत् के समस्त पदार्थ एकान्त नित्य-अविनाशी हैं या एकान्त क्षणभंगुर हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह सम्पूर्ण जगत् एकान्त दुःखमय है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। अपराधी प्राणी वध करने योग्य है या वध करने योग्य नहीं है, ऐसा वचन भी साधु को नहीं बोलना चाहिए।

सांख्यमतावलम्बी जगत् के प्रत्येक पदार्थ को एकान्त नित्य मानते हैं। उनके मत के अनुसार किसी भी पदार्थ का उत्पाद-विनाश नहीं होता, सिर्फ आविर्भाव-तिरोभाव होता है। किन्तु उनकी मान्यता यथार्थ नहीं है। बौद्धमतावलम्बी जगत् को एकान्त दुःखमय मानते हे। उनकी इस मान्यता का भी यहां निषेध किया गया है॥ ३०॥

दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवन्ति, इति दिट्ठिं न धारए॥ ३१॥

अर्थ—इस जगत् में कितने ही चारित्रवान्-सदाचार का पालन करने वाले और भिक्षा से ही जीवन निर्वाह करने वाले साधु देखे जाते हैं। अतएव ऐसे साधुओं को देख कर 'ये लोग कपट से आजीविका करने वाले हैं' ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।।३१।।

दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च बूहए॥३२॥

अर्थ—बुद्धिमान् साधु को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि दक्षिणा ( दान ) की प्राप्ति इससे होती हैं अथवा नहीं होती। साधु को वही वचन कहना चाहिए, जिससे मोक्षमार्ग की वृद्धि हो॥ ३२॥

इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिवएज्जासि॥ ३३॥ त्तिबेमि॥

अर्थ—इस अध्ययन में जो स्थान कहे हैं, वह सब जिनेन्द्रदेव द्वारा देखे हुए हैं। उन स्थानो से अपनी आत्मा को संयम में स्थापित करता हुआ साधु सम्पूर्ण मुक्ति के लिए प्रयत्न करता रहे॥ ३३॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

इति अणायारणामं पंचममज्झयणं समत्तं॥

गोशालक के इन आक्षेपों का समाधान करते हुए आर्द्रक मुनि ने कहा—भगवान् महावीर स्वामी भूतकाल में भी एकान्त का अनुभव करते थे, वर्तमान में साधुओं के साथ रहते हुए भी एकान्त का अनुभव करते हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। भगवान् राग-द्वेष से सर्वथा अतीत हो चुके हैं, अतः वे सदैव एकान्त विहारी हैं। ( भगवान् ने भूतकाल में मौनव्रत और एकाकी विचरण अंगीकार किया था, सो घातिया कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से किया था। अब वह धर्मदेशना देते हैं सो अघातिक कर्मों का क्षय करने के लिए देते हैं। इस प्रकार उनके पहले के और अब के आचरण में कोई भेद नहीं है। ) ॥ ३ ॥

समिच्च लोगं तसथावराणं, खेमंकरे समणे माहणे य।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं सारयती तहच्चे ॥४॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या करने वाले तथा 'प्राणियों को मत मारो' ऐसा उपदेश करने वाले भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को जान कर त्रस एवं स्थावर जीवों के क्षेम के लिए हजारों श्रोताओं के मध्य में स्थित होकर धर्म का कथन करते हुए भी एकान्त का ही अनुभव करते हैं; क्योंकि वे राग-द्वेष का अभाव होने से सदैव एकाकी हैं ॥ ४ ॥

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय निसेवगस्स ॥५॥

अर्थ—परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करने वाले, मन को वशीभूत करने वाले, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले, भाषा के समस्त दोषों से बचने वाले तथा भाषा के समस्त गुणों का सेवन करने वाले भगवान् अगर धर्म का कथन करते हैं तो कोई दोष नहीं है। (इस प्रकार धर्म का उपदेश करने पर भी भगवान् मौनी ही हैं।) ॥ ५ ॥

महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासवसंवरे य।
विरतिं इहस्सामणियंमि पन्ने लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥६॥

अर्थ—घातिक कर्मों को नष्ट कर देने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी साधुओं के लिए पांच महाव्रतों का, श्रावकों के लिए पांच अणुव्रतों का, पांच आस्रवों और पांच संवरों का उपदेश करते हैं और पूर्ण साधुपन में विरति का भी उपदेश करते हैं। ऐसा मैं कहता हूं ॥ ६ ॥

सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥७॥

करके मैंने शरीर का त्याग किया और देवलोक में उत्पन्न हुआ। देवलोक से च्यवन करके यहाँ राजकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ हूँ।

इस प्रकार पूर्वभव संबंधी वृत्तान्त विदित हो जाने से आर्द्रककुमार को संयम धारण करने की इच्छा जागृत हुई। अतः वह आर्यदेश में आकर, स्वतः दीक्षा अंगीकार करके, भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन के लिए रवाना हुए। मार्ग में उन्हें गोशालक आदि अन्यमतावलम्बी मिले। उनके साथ मुनि आर्द्रककुमार का जो संवाद हुआ, इस अध्ययन में उसी का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम गोशालक के साथ उनका संवाद हुआ जो इस प्रकार है:—

**पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगंतयारी समणे पुरासी ।**
**से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हिं पुढो वित्थरेणं ॥१॥**

अर्थ—गोशालक ने कहा-हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने जो पहले किया था सो सुनो। वे पहले एकाकी विचरण करने वाले श्रमण थे; किन्तु अब बहुत से साधुओं को इकट्ठा करके अलग-अलग विस्तार के साथ धर्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

**साऽऽजीविया पट्ठविताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।**
**आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥**

अर्थ—हे आर्द्रककुमार ! तुम्हारे गुरु ने धर्मोपदेश करने के बहाने आजीविका शुरु की है। वे चंचल चित्त वाले हैं, अर्थात् पहले मेरे साथ रह कर अन्त-प्रान्त आहार करते थे और शून्य देवकुल आदि में रहते थे। मगर वे उग्र आचार पालने में असमर्थ होने के कारण अब सभा में जाकर अनेक भिक्षुओं के मध्य में स्थित होकर बहुत लोगों के लिए धर्मोपदेश करते है उनका यह वर्त्तमानकालीन व्यवहार पहले के आचार से कुछ भी मेल नही खाता ॥ २ ॥

**एगंतमेवं अदुवा वि इण्हिं, दोऽवण्णमन्नं न समेति जम्हा ।**
**पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥ ३ ॥**

अर्थ—गोशालक पुनः कहता है-हे आर्द्रक ! या तो महावीर का पहला व्यवहार अर्थात् एकाकी विहार ही अच्छा हो सकता है। या अनेक साधुओं के साथ रहने का इस समय का आचार ही ठीक हो सकता है। तात्पर्य यह कि एकान्त विचरण को अच्छा समझ कर यदि उसे अपनाया था तो अब भी अपनाना चाहिए। यदि साधुओं के परिवार को रखने में ही मान है तो पहले से ही ऐसा करना चाहिए था। मगर दोनों परस्पर विरोधी आचार तो ठीक नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों का आपस में मेल नही है।

तब आर्द्रककुमार मुनि उत्तर देते हैं-सभी प्रवादी पृथक् पृथक् अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रकट करते हैं और अपने ही दर्शन को सर्वश्रेष्ठ वतलाते है। ( मैं भी अपने दर्शन को प्रकट कर रहा हूं। इसमें निन्दा-प्रशंसा की क्या बात है ! )॥ ११॥

से अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि ।१२।

अर्थ—आर्द्रककुमार पुनः कहते हैं-समस्त श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हुए अपने पक्ष की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं-हमारा दर्शन अंगीकार करने से पुण्य होता है और अन्य का दर्शन अंगीकार करने से पुण्य नही होता है। मैं उनकी एकान्त दृष्टि की निन्दा करता हूँ; और किसी की निन्दा नहीं करता। सत्य वस्तु-स्वरूप को प्रकट करना निन्दा करना नहीं कहलाता ॥ १२ ॥

ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥१३॥

अर्थ—हम किसी के रूप अथवा वेष की बुराई नही करते हैं, किन्तु अपने दर्शन के मार्ग को प्रकाशित करते हैं। यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य सत्पुरुषों ने उसे सरल एवं सत्यमार्ग बतलाया है॥ १३ ॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा, णो गरहती वुसिमं किंचि लोए ।१४।

अर्थ—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्छी दिशा में जो कोई भी त्रस और स्थावर प्राणी है उनकी घात से निवृत्त हो जाने वाले संयमी पुरुष लोक में किसी की निन्दा नही करते है। ( केवल वस्तु का सत्य स्वरूप प्रकाशित करते है। इसी को निन्दा समझा जाय तो अग्नि को उष्ण और पानी को शीतल कहना भी निन्दा करना कहलाने लगेगा ! ) ॥ १४ ॥

आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।
दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ।१५।

अर्थ—गोशालक कहता है-हे आर्द्रककुमार ! तुम्हारे श्रमण डरपोक हैं, इस कारण वे धर्मशाला अथवा आराम-गृह में नही ठहरते हैं; क्योंकि वे सोचते हैं कि इन स्थानों में बहुत-से मनुष्य होते हैं। उनमें कोई हीन होते हैं तो कोई बढ़कर भी होते हैं। कोई वक्ता होते हैं तो कोई मौनी होते हैं। उनसे डर कर और अपने पराभव का विचार करके ही वे इन स्थानो से कतराते हैं॥ १५ ॥

अर्थ—गोशालक ने मुनि आर्द्रकुमार का उत्तर सुन कर अपने धर्म का स्वरूप समझाने के उद्देश्य से कहा—हे आर्द्रककुमार ! हमारे धर्म के अनुसार जो पुरुष अकेला विचरने वाला है, वह चाहे सचित्त जल का सेवन करे, चाहे बीजकाय का उपभोग करे, चाहे आधाकर्मी आहार खावे, यहाँ तक कि स्त्री का सेवन करे, तो भी उसे पाप नहीं लगता ॥ ७ ॥

सीतोदगं वा तह बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एयाइ जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥८॥

अर्थ—गोशालक के मत का खंडन करते हुए आर्द्रककुमार कहते हैं—सचित्त जल का, बीजकाय का, आधाकर्मी आहार का तथा स्त्रियों का सेवन करने वाले तो गृहस्थ होते हैं, श्रमण नहीं हो सकते ॥ ८ ॥

सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंतु ।
अगारिणोऽवि समणा भवंतु, सेवंति उ तेऽवि तहप्पगारं ॥९॥

अर्थ—यदि बीजकाय का सचित्त जल का और स्त्रियों का सेवन करने वाले भी श्रमण कहलाते हों तो सब गृहस्थ भी श्रमण कहलाए। आखिर गृहस्थ भी तो इन्हीं सब वस्तुओं का सेवन करते हैं। तात्पर्य यह है कि बीजकाय आदि का सेवन करने वालों को यदि साधु मान लिया जाय तो असाधु कौन रहेगा ? फिर तो सभी गृहस्थ, साधु कहलाने लगेंगे। (अतएव हे गोशालक, तुम्हारी मान्यता दूषित है।) ॥ ९ ॥

जे यावि बीओदगभोइ भिक्खू, भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति ॥१०॥

अर्थ—हे गोशालक ! जो पुरुष भिक्षुक हो करके भी सचित्त बीजकाय का, सचित्त जल आदि का सेवन करते हैं और फिर भी आजीविका चलाने के लिए भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं, वे ज्ञाति आदि के संयोग का परित्याग करके भी अपने शरीर के पोषक हैं। वे अपने दुखों का अन्त नहीं कर सकते हैं ॥ १० ॥

इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।
पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥११॥

अर्थ—आर्द्रककुमार मुनि का कथन सुनकर अन्यान्य दर्शनियों को अपना सहायक बनाने के लिए गोशालक कहता है—"आर्द्रककुमार ! ऐसे वचन बोलते हुए तुम सभी अन्य प्रवादियों की निन्दा करते हो, क्योंकि सभी प्रवादी सचित्त बीज आदि का सेवन करते हुए कर्मो—दुःखों का अन्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।"

तब आर्द्रककुमार मुनि उत्तर देते है-सभी प्रवादी पृथक् पृथक् अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रकट करते हैं और अपने ही दर्शन को सर्वश्रेष्ठ बतलाते है। ( मैं भी अपने दर्शन को प्रकट कर रहा हूं। इसमें निन्दा-प्रशंसा की क्या बात है ! )॥ ११॥

**से अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य।**
**सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि।१२।**

अर्थ—आर्द्रककुमार पुनः कहते हैं-समस्त श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हुए अपने पक्ष की प्रशंसा करते है और कहते हैं-हमारा दर्शन अंगीकार करने से पुण्य होता है और अन्य का दर्शन अंगीकार करने से पुण्य नहीं होता है। मैं उनकी एकान्त दृष्टि की निन्दा करता हूँ; और किसी की निन्दा नहीं करता। सत्य वस्तु-स्वरूप को प्रकट करना निन्दा करना नही कहलाता॥ १२॥

**ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं।**
**मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू॥१३॥**

अर्थ—हम किसी के रूप अथवा वेष की बुराई नही करते हैं, किन्तु अपने दर्शन के मार्ग को प्रकाशित करते है। यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य सत्पुरुषों ने उसे सरल एवं सत्यमार्ग बतलाया है॥ १३॥

**उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।**
**भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा, णो गरहती वुसिमं किंचि लोए।१४।**

अर्थ—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्छी दिशा में जो कोई भी त्रस और स्थावर प्राणी है उनकी घात से निवृत्त हो जाने वाले संयमी पुरुष लोक में किसी की निन्दा नही करते हैं। ( केवल वस्तु का सत्य स्वरूप प्रकाशित करते हैं। इसी को निन्दा समझा जाय तो अग्नि को उष्ण और पानी को शीतल कहना भी निन्दा करना कहलाने लगेगा ! )॥ १४॥

**आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।**
**दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य।१५।**

अर्थ—गोशालक कहता है-हे आर्द्रककुमार ! तुम्हारे श्रमण डरपोक हैं, इस कारण वे धर्मशाला अथवा आराम-गृह में नही ठहरते हैं; क्योकि वे सोचते हैं कि इन स्थानों में बहुत-से मनुष्य होते हैं। उनमें कोई हीन होते हैं तो कोई बढकर भी होते हैं। कोई वक्ता होते हैं तो कोई मौनी होते हैं। उनसे डर कर और अपने पराभव का विचार करके ही वे इन स्थानों से कतराते हैं॥ १५॥

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयण्णा।
पुच्छिंसु मा णे अणगार अन्ने, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१६॥

अर्थ-धर्मशाला, उद्यान गृह आदि स्थानों में कोई-कोई मेधावी ठहरते हैं, कोई शिक्षित ठहरते हैं, कोई बुद्धिमान और कोई-कोई सूत्र एवं अर्थ का निश्चय किये हुए विद्वान रहते हैं। इनमें से कोई साधु कुछ प्रश्न न पूछ बैठे, ऐसी आशका करके महावीर वहां नही ठहरते ! ॥ १६ ॥

णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएणं।
वियागरेज्ज पसिणं न यावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं। १७ ॥

अर्थ–गोशालक द्वारा किये हुए मिथ्या आक्षेप का समाधान करते हुए आर्द्रक मुनि कहते हैं–हे गोशालक ! भगवान् महावीर स्वामी बिना प्रयोजन कोई कार्य नहीं करते हैं और न बालक की भांति बिना विचारे कोई कार्य करते हैं। वे राजा के भय से भी धर्म का उपदेश नहीं करते तो दूसरे के भय की बात ही क्या है ! वे किसी के भय से प्रश्न का उत्तर नहीं देते और किसी के भय से चुप नहीं रहते। अवसर देखते हैं तो उत्तर देते हैं, अवसर नहीं होता तो नही भी देते। वे अपने तीर्थंकर नाम कर्म का क्षय करने के लिए और जगत् के भव्य जीवों का उपकार करने के लिए धर्म का उपदेश करते हैं ॥ १७ ॥

गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने।
अणारिया दंसणओ परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१८॥

अर्थ–अगर उपकार होता हो तो सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी श्रोताओं के पास जाकर अथवा न जाकर भी समभाव से उपदेश देते हैं। किन्तु अब भगवान् अनार्य देश में नही विचरते, क्योंकि वहां के बहुकर्मी अनार्यजन भगवान् को देखते ही कर्मों का बंध कर लेते हैं ॥ १८ ॥

पन्नं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं।
तऊवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥१९॥

अर्थ–गोशालक पुन: आक्षेप करता है–आर्द्रक कुमार ! मेरे खयाल से तो महावीर मुनाफाखोर बनिये के समान है। जैसे लाभ का अभिलाषी वणिक् विक्रय के योग्य वस्तुओं को लेकर आय के लिए महाजनों का संग करता है, वैसे ही तुम्हारे श्रमण ज्ञात-पुत्र है, ऐसी मेरी कल्पना है ॥ १९ ॥

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ताइ य साह एवं ।
एतोवया बंभवति त्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥२०।

अर्थ–गोशालक का कथन सुनकर आर्द्रक मुनि कहते हैं-अहो गोशालक ! तुमने भगवान् को वैश्य की जो उपमा दी है, वह एक देशीय है या सर्वदेशीय है ? यदि एकदेशीय है तो उससे हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि वणिक् जहां लाभ देखता है, वहां जाता है, उसी प्रकार भगवान जहां-जहां उपकार होता देखते है, यहां-वहां विचरते और उपदेश करते हे । जहां लाभ नहीं देखते वहा उपदेश नहीं देते है । यदि उस उपमा को तुम सर्वदेशीय कहते हो तो घट नहीं सकती, क्योंकि सावद्यानुष्ठान से रहित भगवान महावीर स्वामी नवीन कर्म का उपार्जन नही करते है, किन्तु पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय करते हैं । वे ऐसा उपदेश करते हैं कि दुर्मति का त्याग करके हो मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। भगवान् उसी मोक्ष रूप उदय की इच्छा वाले हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २० ॥

समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥२१॥

अर्थ–गोशालक ! वणिक् तो प्राणियों का आरंभ करते हे और परिग्रह के प्रति ममत्व धारण करते हैं । वे ज्ञाति-स्वजन आदि का संयोग का त्याग न करके लाभ के लिए दूसरों के साथ संबंध स्थापित करते हैं । किन्तु भगवान पट्काय के रक्षक, निष्परिग्रह, ज्ञातिजनों का त्याग करके अप्रतिबंध रूप से धर्म के लाभ की गवेषणा करते हुए ही देशना देते हैं । अतएव उनके विषय में की वणिक् उपमा सर्वदेशीय रूप से घटित नही हो सकती ॥ २१ ॥

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥२२॥

अर्थ—वणिक् जन धन की गवेषणा करने वाले और मैथुन में आसक्त होते हैं । वे भोजन के लिए इधर-उधर परिभ्रमण करते हैं । इसलिए हम उन्हें कामभोग में आसक्त, ( अप्रशस्त ) प्रेम-रस में आसक्त एव अनार्य कहते हैं; परन्तु भगवान् ऐसे नहीं है, अतएव वणिक् के साथ उनकी तुलना करना अयोग्य है ॥ २२ ॥

आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥

अर्थ—वणिक् जन आरम और परिग्रह के त्यागी नहीं होते हैं, किन्तु उसमें अत्यन्त आसक्त होते हैं । वे आत्मा को दंड देने वाले भी होते हैं, अर्थात् आरंभ-परिग्रह

का त्याग न करने के कारण अपने आपको दंड का पात्र बनाते हैं। उनका उदय, जिसे तुम उदय कहते हो, वास्तव में उदय नहीं है। वह तो चातुर्गतिक संसार को बढ़ाने वाला और दुःख का कारण है। यह सच्चा उदय नहीं है ॥ २३ ॥

णेगंत णच्चंतिय ओदए सो, वयंति ते दो विगुणोदयंमि ।
से उदए साइमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥

अर्थ—आरंभ-परिग्रह रूप सावद्य क्रिया से होने वाला वणिक् का उदय एकान्त उदय नहीं है और आत्यन्तिक उदय भी नहीं है। अर्थात् उसके लाभ में हानि भी छिपी रहती है और वह लाभ सदा काल स्थायी रहने वाला नहीं होता। जो उदय ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं है, उसमें कोई गुण नहीं है, ऐसे उदय से क्या लाभ है! भगवान् महावीर तो सादि किन्तु अनन्त उदय को प्राप्त हैं। जीवों की रक्षा करते हुए और सर्व वस्तुओं को जानते हुए भगवान् दूसरों को भी ऐसे ही उदय का उपदेश देते हैं ॥ २४ ॥

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्म विवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

अर्थ—देवों द्वारा निर्मित समवसरण आदि का उपयोग करने के कारण भगवान् को कर्मबंध क्यों नहीं होता? इस प्रकार की गोशालक की आशंका का निवारण करने के लिए आर्द्रककुमार कहते हैं—भगवान महावीर जीवों की हिंसा नहीं करते, वे समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाले हैं। वे सदैव धर्म में स्थित हैं और कर्मों का क्षय करने वाले हैं। ऐसी विशेषताओं से युक्त भगवान् को तुम्हारे सदृश आत्मा को दंडित करने वाले पुरुष ही वणिक् के समान कह सकते हैं। ऐसा करना तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है। अर्थात् यह तुलना करके तुमने अपने अज्ञान को ही प्रदर्शित किया है ॥ २५ ॥

पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमे त्ति ।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥२६॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से गोशालक को उत्तर देकर आर्द्रक मुनि आगे चले तो मार्ग में उन्हें कहीं शाक्य भिक्षु मिल गये। वह कहने लगे—आर्द्रककुमार! आपने गोशालक के वणिक् के दृष्टान्त को दूषित करके अच्छा ही किया, क्योंकि बाह्य अनुष्ठान निष्फल है। आन्तरिक क्रिया ही वास्तव में मोक्ष का कारण होती है। हमारे सिद्धान्त में भी अन्तरंग अनुष्ठान की साधना का ही विधान किया गया है। वह विधान इस प्रकार है।

कोई पुरुष खल के पिण्ड को 'यह पुरुष है' ऐसा समझकर और उसे शूल से वेध कर आग में पकावे, अथवा तुम्बे को 'यह बालक है' ऐसा समझ कर पकावे, तो वह हमारे मत के अनुसार हिंसा के पाप से लिप्त होता है।

इसका कारण यह है कि कर्म बंध का प्रधान कारण मन का शुभ एवं अशुभ भाव है। जिसके चित्त में जीवघात का परिणाम रहा हुआ है, वह जीवघात न करके भी हिंसा के पाप का भागी होता है ॥ २६ ॥

अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नाग-बुद्धीइ नरं पएज्जा।
कुमारगं वावि अलाबुयं ति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं ॥२७॥

अर्थ—शाक्य भिक्षु पुनः कहता है—अथवा कोई अनार्य पुरुष किसी मनुष्य को खल का पिंड समझ कर और उसे शूल से वेध कर पकावे तथा बालक को तूंबा समझ कर पकावे, तो वह मनुष्य की हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता है। ऐसा हमारा सिद्धान्त है ॥ २७ ॥

पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए।
पिन्नायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥

अर्थ—किसी पुरुष को अथवा कुमार को शूल से वेध कर आग में पकावे और मन में ऐसा भाव रक्खे कि यह खलपिंड है, तो वह पवित्र है और बुद्ध के भी पारणा करने के योग्य है! अन्य का तो कहना ही क्या है! ॥ २८ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं।
ते पुण्णखंधं सुमहं जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

अर्थ-शाक्य भिक्षु पुनः कहता है-जो पुरुष दो सहस्र स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन जिमाता है वह महान् पुण्य की उपार्जना करके महान् सत्वशाली आरोप्य (बौद्ध शास्त्रों में बताई हुई एक देव जाति) नामक सर्वोत्तम देवता होता है ॥ २९ ॥

अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥३०॥

अर्थ-शाक्य-भिक्षु का यह कथन सुनकर आर्द्रक कुमार कहते हैं-तुमने जो कहा है, वह संयमी पुरुषों के लिए अयोग्य है। तुम प्राणियों की हिंसा का पाप करके भी पाप का अभाव कहते हो, यह दोनों के लिए अर्थात् कहने वाले और मानने वाले के लिए भी अबोधि का कारण है और अनुचित है ॥ ३० ॥

का त्याग न करने के कारण अपने आपको दंड का पात्र बनाते हैं। उनका उदय, जिसे तुम उदय कहते हो, वास्तव में उदय नहीं है। यह तो चतुर्गतिक संसार को बढ़ाने वाला और दुःख का कारण है। यह सच्चा उदय नहीं है ॥ २३ ॥

णेगंत णच्चंतिव ओदए सो, वयंति ते दो विगुणोदयंमि।
से उदए साइमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥

अर्थ—आरंभ-परिग्रह रूप सावद्य क्रिया से होने वाला वणिक् का उदय एकान्त उदय नहीं है और आत्यन्तिक उदय भी नहीं है। अर्थात् उसके लाभ में हानि भी छिपी रहती है और वह लाभ सदा काल स्थायी रहने वाला नहीं होता। जो उदय ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं है, उसमें कोई गुण नहीं है, ऐसे उदय से क्या लाभ है! भगवान् महावीर तो सादि किन्तु अनन्त उदय को प्राप्त हैं। जीवों की रक्षा करते हुए और सर्व वस्तुओं को जानते हुए भगवान् दूसरों को भी ऐसे ही उदय का उपदेश देते हैं ॥ २४ ॥

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्म विवेगहेउं।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

अर्थ-देवों द्वारा निर्मित समवसरण आदि का उपयोग करने के कारण भगवान् को कर्मबंध क्यों नहीं होता? इस प्रकार की गोशालक की आशंका का निवारण करने के लिए आर्द्रककुमार कहते हैं—भगवान महावीर जीवों की हिंसा नहीं करते, वे समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाले हैं। वे सदैव धर्म में स्थित हैं और कर्मों का क्षय करने वाले हैं। ऐसी विशेषताओं से युक्त भगवान् को तुम्हारे सदृश आत्मा को दंडित करने वाले पुरुष ही वणिक् के समान कह सकते हैं। ऐसा करना तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है। अर्थात् यह तुलना करके तुमने अपने अज्ञान को ही प्रदर्शित किया है ॥ २५ ॥

पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमे त्ति।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥२६॥

अर्थ-पूर्वोक्त प्रकार से गोशालक को उत्तर देकर आर्द्रक मुनि आगे चले तो मार्ग में उन्हें कहीं शाक्य भिक्षु मिल गये। वह कहने लगे—आर्द्रककुमार! आपने गोशालक के वणिक् के दृष्टान्त को दूषित करके अच्छा ही किया, क्योंकि बाह्य अनुष्ठान निष्फल है। आन्तरिक क्रिया ही वास्तव में मोक्ष का कारण होती है। हमारे सिद्धान्त में भी अन्तरंग अनुष्ठान की साधना का ही विधान किया गया है। वह विधान इस प्रकार है।

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीय सोहिं ।
न वियागरे-छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥३५॥

अर्थ–अब आर्द्रककुमार जिनशासन की विशेषता प्रकट करते हैं–जिनशासन के अनुयायी जीवों को होने वाली पीड़ा का विचार करके निर्दोष अन्न-पानी ही ग्रहण करते हैं। वे कपट पूर्वक आजीविका नहीं करते और कपटमय वचन भी नहीं बोलते॥ ३५॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नियए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से उ. णियच्छति गरिहमिहेव लोए ॥३६॥

अर्थ–जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, किन्तु वह यदि असयमी है और रुधिर से लिप्त हाथ वाला है तो इसी लोक में निन्दा का पात्र बनता है और परलोक में अनार्य जनों की गति को प्राप्त होता है॥ ३६॥

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

अर्थ–आर्द्रककुमार अब बौद्ध भिक्षुओं के आहार के विषय में कहते हैं–बौद्ध मत के अनुयायी लोग मोटे–ताजे मेढे को मार कर, भिक्षुओं के निमित्त लवण और तेल के साथ पकाते हैं और पिप्पली आदि से उस मांस को बघारते है॥ ३७॥

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥३८॥

अर्थ–अनार्य पुरुषों के समान आचरण करने वाले, अनार्य, अज्ञानी और रसलंपट वे शाक्य श्रमण कहते हैं कि हम लोग खूब मांस खाते-हुए भी पाप से लिप्त नही होते॥ ३८॥

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥३९॥

अर्थ–जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से मांस का भक्षण करते हैं, वे अनजान जन पाप का सेवन करते है। विवेकवान् पुरुष मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते। मांसभक्षण में दोष नहीं है, इस प्रकार कहा हुआ वचन भी मिथ्या है॥ ३९॥

सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥४०॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तस-थावराणं।
भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणो, वदे करेज्जा व कुओ विहत्थी ॥३१॥

अर्थ—शाक्यमत का निराकरण करके आर्द्रककुमार अब अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं–ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्छी दिशाओं में त्रस और स्थावर जीवों के सद्भाव के चिह्न जानकर, उनकी हिंसा न हो जाय, इस बात की सावधानी रखता हुआ तथा हिंसा से घृणा करता हुआ विचार पूर्वक बोले–धर्मोपदेश करे और कार्य करे। इस प्रकार बोलने वाले को दोष कैसे हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

पुरिसे त्ति विन्नत्ति न एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो पिन्नगपिंडिगाए, वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥३२॥

अर्थ—खलपिण्ड में पुरुष-बुद्धि की असंभावना बतलाते हुए आर्द्रककुमार कहते है–अत्यन्त मूर्ख मनुष्य को भी खल के पिण्ड में, 'यह पुरुष है' ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती। तथापि खल-पिंड में पुरुष बुद्धि और पुरुष में खलपिण्ड की बुद्धि करने वाले अनार्य है। आखिर खल के पिंड को पुरुष कैसे समझा जा सकता है। वास्तव में इस प्रकार की बात कहना ही मिथ्या है ॥ ३२ ॥

वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय मुरालमेयं ॥३३॥

अर्थ—जिस वचन के बोलने से पाप लगता हो, वह वचन विवेकवान् पुरुष को कदापि नहीं बोलना चाहिए। तुम्हारा यह पूर्वोक्त वचन गुणों का स्थान नहीं है। दीक्षित हुए पुरुष को ऐसा तथ्यहीन वचन नहीं बोलना चाहिए, अर्थात् तूंबे को बालक और बालक को तूंबा आदि नहीं कहना चाहिए। ॥ ३३ ॥

लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए व।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, उलोइए पाणितले ठिए वा ॥३४॥

अर्थ—आर्द्रककुमार शाक्य भिक्षुओं के मन्तव्य का निराकरण करके उन पर व्यंग करते हुए कहते हैं–सत्य अर्थ तो बस तुम्हीं ने पाया है! जीवों के कर्मविपाक का तुमने बहुत अच्छा चिन्तन किया है! इस ज्ञान के प्रभाव से तुम्हारा यश पूर्व समुद्र से लगाकर पश्चिम समुद्र तक फैल गया है! तुमने इस अखिल संसार को हथेली पर रखी हुई वस्तु के समान स्पष्ट रूप से जान लिया है! (खलपिण्ड को बालक और बालक को खलपिण्ड जानने वाले तुम्हारे जैसे ज्ञानी अन्यत्र कहाँ मिलेंगे! सचमुच आपके ज्ञान में कुछ कसर नहीं रह गई है!) ॥ ३४ ॥

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीय सोहिं ।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥३५॥

अर्थ—अब आर्द्रककुमार जिनशासन की विशेषता प्रकट करते हैं—जिनशासन के अनुयायी जीवों को होने वाली पीड़ा का विचार करके निर्दोष अन्न-पानी ही ग्रहण करते हैं। वे कपट पूर्वक आजीविका नहीं करते और कपटमय वचन भी नहीं बोलते॥ ३५॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नियए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से उ, णियच्छति गरिहमिहेव लोए ॥३६॥

अर्थ—जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, किन्तु वह यदि असयमी है और रुधिर से लिप्त हाथ वाला है तो इसी लोक में निन्दा का पात्र बनता है और परलोक में अनार्य जनों की गति को प्राप्त होता है॥ ३६॥

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

अर्थ—आर्द्रककुमार अब बौद्ध भिक्षुओं के आहार के विषय में कहते हैं—बौद्ध मत के अनुयायी लोग मोटे-ताजे मेढे को मार कर, भिक्षुओं के निमित्त लवण और तेल के साथ पकाते हैं और पिप्पली आदि से उस मांस को बघारते हैं॥ ३७॥

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥३८॥

अर्थ—अनार्य पुरुषों के समान आचरण करने वाले, अनार्य, अज्ञानी और रसलंपट वे शाक्य श्रमण कहते हैं कि हम लोग खूब मांस खाते हुए भी पाप से लिप्त नहीं होते॥ ३८॥

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥३९॥

अर्थ—जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से मांस का भक्षण करते हैं, वे अनजान जन पाप का सेवन करते है। विवेकवान् पुरुष मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते। मांसभक्षण में दोष नहीं है, इस प्रकार कहा हुआ वचन भी मिथ्या है॥ ३९॥

सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥४०॥

अर्थ—सब जीवों की दया करने के लिए सावद्य दोषों का परिहार करने वाले तथा सावद्य दोष की आशंका करने वाले श्री महावीर देव के शिष्य ऋषिगण उद्दिष्ट आहार का त्याग करते हैं। अर्थात् अपने उद्देश्य से बनाये गये आहार का सेवन नहीं करते हैं ॥ ४० ॥

भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेंसि पाणाण निहाय दंडं।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥४१॥

अर्थ—प्राणियों के उपमर्दन की शंका से सावद्यानुष्ठान का परित्याग करने वाले जैन मुनि समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग करके दोष युक्त आहार-पानी का सेवन नहीं करते हैं। संयमी पुरुषों का यही परम्परागत धर्म है ॥ ४१ ॥

निग्गंथ-धम्मम्मि इमं समाहिं, अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थओ (तं) पाउणती सिलोगं ॥४२॥

अर्थ—निर्ग्रन्थों के धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके तथा उसमें भलीभांति स्थित होकर, निष्कपट भाव से संयम का आचारण करे, मूलगुणों से युक्त, तत्वों का ज्ञाता मुनि अपने धर्म के प्रभाव से अत्यन्त प्रशंसा का पात्र बनता है ॥ ४२ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुन्नखंधे सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेदवाओ ॥४३॥

अर्थ—आर्द्रककुमार ने शाक्य श्रमणों को पराजित कर दिया। यह देख ब्राह्मण उनके समीप आये। वे बोले-गोशालक मत और शाक्यमत वेदबाह्य है। उनका निराकरण करके आपने अच्छा किया। मगर यह आर्हतमत भी वेद-बाह्य है। अतएव आप इसका भी त्याग कर दीजिए। आप क्षत्रिय है और क्षत्रियों को ब्राह्मणों की सेवा करना चाहिए। यही उनका प्रधान धर्म है। ब्राह्मणों की सेवा का फल क्या होता है सो सुनो—

जो पुरुष दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन जिमाता है, वह अत्यन्त महान् पुण्य का उपार्जन करके देवगति पाता है। यह वेद का कथन है ॥४३॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

अर्थ—आर्द्रककुमार उत्तर देते है-जैसे बिल्ली मांस की प्राप्ति के लिए एक घर से दूसरे घर भटकती फिरती है, उसी प्रकार क्षत्रियों आदि के घरों में भोजन-लोलुप होकर घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला पुरुष मांस-लोलुप पक्षियों से परिपूर्ण नरक में उत्पन्न होता है। वह उस नरक में भयानक वेदना को सहन करता है ॥ ४४ ॥

**दयावरं धम्म दुगुंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा।**
**एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं ॥४५॥**

अर्थ—दयामय धर्म की निन्दा करने वाला और हिंसामय धर्म की प्रशंसा करने वाला राजा यदि एक भी सदाचार-रहित मनुष्य को जिमाता है, तो वह अंधकार पूर्ण नरक में उत्पन्न होता है। देवगति में उत्पन्न होने का तो बात ही क्या है ॥ ४५ ॥

**दुहओ वि धम्मंमि समुट्ठियामो, अस्सिं सुठिचा तह एसकालं।**
**आयारसीले वुइएह नाणी, ण संपरायंमि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥**

अर्थ—आर्द्रककुमार ब्राह्मणों को उत्तर देकर आगे चलने लगे तो एकदंडी (सांख्यमतानुयायी) उनके पास आये। वे उनसे इस प्रकार कहने लगे—

हम और तुम दोनों ही धर्म में प्रवृत्त हैं। भूत, वर्त्तमान और भविष्य—तीनों कालों में हम दोनों धर्म में स्थित हैं। दोनों के मत में सदाचारशील पुरुष ही ज्ञानी माने गये हैं। तुम्हारे और हमारे मत में जगत् के स्वरूप में भी भिन्नता नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे तुम पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष आदि स्वीकार करते हो, उसी प्रकार हम भी मानते हैं। तुम पाँच महाव्रत मानते हो तो हम भी पाँच यम मानते हैं। हम प्रत्येक पदार्थ को नित्य मानते हैं और जन भी द्रव्य रूप से सब पदार्थों को नित्य मानते हैं। इस प्रकार तुम्हारे हमारे मत में बहुत-सी समानता है ॥ ४६ ॥

**अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च।**
**सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो से, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ॥४७॥**

अर्थ—हमारे मत के अनुसार पुरुष अर्थात् जीवात्मा अव्यक्त है, इन्द्रियों और मन से नहीं जाना जा सकता। वह सर्वव्यापी है और नित्य है उसका कभी क्षय नहीं होता और व्यय भी नहीं होता। वह समस्त भूतों में पूर्ण रूप से संबंध करता है। अर्थात् जैसे चन्द्रमा का अश्विनी आदि नक्षत्रों के साथ पूर्ण रूप से संबंध होता है, उसी प्रकार आत्मा का शरीर रूप से परिणत समस्त भूतों के साथ संबंध है ॥ ४७

एवं ण मिज्जंति ण संसरंति, ण माहणा खत्तिय वेस पेसा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ॥४८॥

अर्थ—आर्द्रककुमार एकदण्डियों को उत्तर देते हैं-जैसा आप कहते हैं, वैसा जीव का स्वरूप मान लिया जाय तो जीवात्माओं में भिन्नता नहीं होनी चाहिए । जीव एक गति से मर कर दूसरी गति में उत्पन्न नहीं होना चाहिए-एक भव से दूसरे भव में नहीं जाना चाहिए । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि का भेद भी नहीं होना चाहिए । कोई कीट, कोई पक्षी और कोई सर्प आदि सरीसृप होता है सो वह भी नहीं होना चाहिए । मनुष्य और देव आदि गतियों का भेद भी नहीं होना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि-आप जीवात्मा को एकान्ततः सर्वव्यापक और नित्य मानते है, इस कारण अनेक दोष उपस्थित होते हैं । जो सर्वव्यापक है, उसमें गति नहीं हो सकती । जो एकान्त नित्य है, वह एक पर्याय त्याग कर दूसरे पर्याय को धारण नहीं कर सकता । आत्मा को एकान्त नित्य मानने से जो दुखी है, वह सदैव दुखी रहेगा, जो रोगी है सदा रोगी ही रहेगा । जो जिस अवस्था में है, वह सदैव उसी अवस्था में रहेगा । ऐसी स्थिति में धर्म का अनुष्ठान करना भी निष्फल हो जायगा । आप अकेले ज्ञान से मुक्ति मानते है, पर क्रिया रहित ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती । इस प्रकार आपके एकान्तवाद में अनेक बाधाएँ है, जो अनेकान्तवाद में नही होती । अतएव आपके और हमारे मत में एक रूपता नहीं है ॥ ४८ ॥

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ॥४९॥

अर्थ—जिन्होंने केवलज्ञान से लोक के स्वरूप को नहीं जाना है (तथा केवलज्ञानी के प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा भी नही रखते हैं) वे अज्ञानी लोक में धर्म का उपदेश करते हैं; तो वे अपना भी विनाश करते हैं और दूसरों का भी नाश करते हैं-वे इस घोर ससार-सागर में स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं ॥ ४९ ॥

लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥५०॥

अर्थ—जो समाधि से सम्पन्न पुरुष परिपूर्ण केवल ज्ञान से लोक के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं और समस्त सत्य धर्म का उपदेश करते हैं, वे पापों से पार हुए महापुरुष संसार-सागर से अपने आपको भी पार करते हैं और दूसरों को भी पार करते हैं ॥५०॥

जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥५१॥

अर्थ–आर्द्रककुमार पुनः कहते है–इस जगत् में जो निन्दनीय आचरण करते हैं और जो उत्तम चारित्र से युक्त है, उन दोनों के आचार को अज्ञानी ही अपनी बुद्धि से समान बतलाते हैं ! वे सदाचारियों को दुराचारी और दुराचारियों को सदाचारी बतला कर विपरीत कथन करते है। तात्पर्य यह है कि अच्छाई और बुराई में भेद न समझना और अच्छाई को बुराई तथा बुराई को अच्छाई समझना बुद्धि की जड़ता है ॥ ५१ ॥

**संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु ।**
**सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्तिं पकप्पयामो ॥५२॥**

अर्थ—आर्द्रककुमार मुनि जब सांख्यों के मत का निराकरण करके आगे बढ़ने लगे तो हस्तितापस उन्हें मिल गये। उन्होंने कहा–आर्द्रककुमार ! विवेकशील पुरुष को सदैव अल्पता–बहुता का विचार करना चाहिए। जो तापस कन्द मूल फल आदि खाकर अपनी जीविका चलाते हैं, वे बहुत स्थावरों और उनके आश्रित त्रस जीवों का विनाश करते है। इस बहुत पाप से बचने के लिए हम क्या करते हैं, सो सुनोः—

हम लोग शेष जीवों की दया के लिए वर्ष भर में एक बड़े हाथी को बाण से मार लेते हैं और वर्ष भर उसी के मांस से अपना उदर–निर्वाह करते हैं।

ऐसा करने से सिर्फ एक ही जीव की हिंसा होती है और बहुत जीवों की हिंसा बच जाती है। अतएव हमारा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है ॥ ५२ ॥

**संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।**
**सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणोऽवि तम्हा ॥५३॥**

अर्थः–आर्द्रककुमार हस्तितापसों से कहते हैं-वर्ष में एक-एक प्राणी का घात करने वाले भी जीवहिंसा से निवृत्त नही कहला सकते। हस्ती का वध करने वाले पचेन्द्रिय जीव की हिंसा के भागी होते है सच्चे साधु तो चार हाथ भूमि देखकर चलते हैं, समस्त दोषों से रहित आहार लेते है और कीड़ी तक का घात नहीं करते हैं। तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो गृहस्थ भी अन्य क्षेत्र-कालवर्ती जीवों की हिंसा नहीं करते, अतएव वे भी निर्दोष–अहिंसक हो जाने चाहिए ! ॥ ५३ ॥

**संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता समणव्वएसु ।**
**आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥५४॥**

अर्थ—जो पुरुष श्रमण के व्रत में रह कर अर्थात् साधु बन कर वर्ष भर में एक भी प्राणी का वध करता है, वह अनार्य पुरुष कहा गया है। ऐसा करने वाले और उपदेश देने वाले केवलज्ञानी नहीं हो सकते ॥ ५४ ॥

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ।५५।त्तिबेमि।

अर्थः—मुनि आर्द्रककुमार अन्यमतावलम्बियों को प्रतिबोध देकर भगवान् महावीर के समीप पहुँचे । इस अंतिम गाथा में इस अध्ययन का उपसंहार किया गया है:—

केवलज्ञानी भगवान् की आज्ञा रूप समाधि में स्थित रहने वाला और त्रिकरण से प्राणियों की रक्षा करने वाला संयमी संसार रूपी घोर समुद्र को पार कर जाता है । अतः विवेकवान् पुरुष सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करे और उसी का उपदेश करे ॥ ५५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ।

इति अद्दइज्ज णामं छट्ठमज्झयणं समत्तं ॥

# सातवाँ नालन्दीय अध्ययन

इससे पहले के अध्ययनों में प्रायः साधु के आचार का वर्णन किया गया है। श्रावकों के आचार पर प्रकाश नहीं डाला गया। किन्तु चतुर्विध श्रमण संघ में श्रावकों का भी एक स्थान है, और उनका भी नियत आचार है। अतएव यहां श्रावकाचार का निरूपण किया जाता है। श्रावक के आचार का वर्णन करने में श्राविका के आचार का भी वर्णन हो जाता है क्योंकि दोनों का आचार एक ही सा है।

इस सप्तम अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' है नालन्दा, राजगृह नगर के बहिर्भागवर्ती एक स्थान का नाम है। 'नालन्दा' शब्द की व्युत्पत्ति है– 'न अलं ददाति इति नालन्दा ॥' इसमें नकार और अलं-दोनों ही शब्द निषेधार्थक है। दो-निषेध दान अर्थ की दृढता बताते है। अर्थात् जहां दान अवश्य दिया जाता है, वह नालन्दा है। इस व्युत्पत्ति से मालूम होता है कि वह स्थान याचकों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला था। उस स्थान में घटित घटना का वर्णन होने से इस अध्ययन का भी नाम 'नालन्दीय' हो गया है।

**मूल—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे। तस्स रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए तत्थ णं नालंदानामं बाहिरिया होत्था, अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा ॥१॥**

अर्थ—उस काल, उस समय में राजगृह नामक नगर था। वह विशाल भवनों से युक्त, धन-धान्य परिपूर्ण और अत्यन्त सुन्दर था। औपपातिक सूत्र से उसका वर्णन समझ लेना चाहिए। उस राजगृह के बाहर उत्तर पूर्व-ईशान-कोण में नालंदा नामक पाडा (छोटा गांव) था। वह पाडा भी सैकड़ों भवनों से सुशोभित था, यावत् सुन्दर था ॥ १ ॥

**मूल—तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था**

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोधं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ।५५।त्तिबेमि।

अर्थः—मुनि आर्द्रककुमार अन्यमतावलम्बियों को प्रतिबोध देकर भगवान् महावीर के समीप पहुँचे । इस अंतिम गाथा में इस अध्ययन का उपसंहार किया गया हैः—

केवलज्ञानी भगवान् की आज्ञा रूप समाधि में स्थित रहने वाला और त्रिकरण से प्राणियों की रक्षा करने वाला संयमी संसार रूपी घोर समुद्र को पार कर जाता है । अतः विवेकवान् पुरुष सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करे और उसी का उपदेश करे ॥ ५५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ ।

इति अद्दइज्ज णामं छट्ठमज्झयणं समत्तं ॥

था। राजाओं के अन्तःपुर में भी उसके प्रवेश पर प्रतिबंध नहीं था। चतुर्दशी अष्टमी पूर्णिमा आदि तिथियों में वह परिपूर्ण पौषध का पालन करता था। निर्ग्रन्थ श्रमणों को शुद्ध और एषणीय अशन पान खाद्य और स्वाद्य का दान देता था। वह पांच अणुव्रतों, चार शिक्षाव्रतों तथा तीन गुणव्रतों का पालन करता था और प्रत्याख्यान पौषध एवं उपवास आदि से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरता था॥ ३॥

मूल–तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नामं उदगसाला होत्था; अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥४॥

अर्थ—नालन्दा उपनगर से उत्तरपूर्व दिशा में लेप गाथापति की 'शेषद्रव्या नामक उदकशाला थी। वह उदकशाला सैकड़ों स्तंभों से युक्त थी, सुन्दर थी, चित्त को प्रसन्न कर देती थी। उस उदकशाला से भी उत्तरपूर्व दिशा में–ईशानकोण में–हस्तियाम नामक एक वनखण्ड था। वह कृष्ण वर्ण वाला था। उसका विशेष वर्ण औपपातिकसूत्र से जानना चाहिए ॥ ४ ॥

मूल–तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-आउसंतो गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे। तं च आउसो! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं॥

भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-अवियाइ आउसो! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो। ५।

अर्थ—उस वनखण्ड के गृहप्रदेश में भगवान् गौतम स्वामी विराजमान थे। भगवान् नीचे बगीचे में विराजमान थे। इसी समय भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य–परम्परा के निर्ग्रन्थ, मेदार्य मेतार्य ) गोत्रीय, पेढाल के पुत्र उदक भगवान् गौतम के पास आये। आकर उन्होंने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा–आयुष्मन् गौतम! मुझे आपसे कुछ स्थल पूछने हैं। आयुष्मन्! आपने जैसा भगवान् महावीर से सुना और समझा हो, वह मुझे वाद (तर्क-युक्ति) सहित कहिए।

अड्ढे, दित्ते, वित्ते, विच्छिन्नविपुल भवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरजते, आओगपओगसंपउत्ते, विच्छड्डियपउर-भत्तपाणे, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ॥

अर्थ—नालन्दा नामक उस पाड़े (उपनगर) में लेप नामक एक गृहस्थ निवास करता था। वह समृद्धिशाली, तेजस्वी और विख्यात था। उसके यहां विशाल और बहुसंख्यक भवन, शयन, आसन, यान और वाहन थे। उसके पास बहुत धन और सोना-चांदी था। वह धनोपार्जन के उपायों का ज्ञाता और उनका प्रयोग करने में भी कुशल था। उसके यहां से बहुत भोजन पानी दूसरों को दिया जाता था। वह बहु-संख्यक दासी, दासों, गायों, भैंसों और भेड़ों का स्वामी था। बहुत से लोग मिलकर भी उसका पराभव नहीं कर सकते थे ॥ २ ॥

मूल—से णं लेवे णामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था, अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ। निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अयमट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पा-वयदुवारे चियत्तंतेउरपवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमण-पच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ॥३॥

अर्थः—लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक था। वह जीव और अजीव तत्त्व का ज्ञाता था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंकारहित था, उसे अन्य दर्शनों को ग्रहण करने की आकांक्षा नहीं थी और धर्मक्रिया के फल में संशय नहीं था। वह वस्तु के स्वरूप को जानने वाला था, मोक्षमार्ग को अंगीकार करने वाला था, ज्ञानी जनों से पूछ कर वस्तु-स्वरूप का निश्चय कर चुका था, और इस प्रकार उसने वस्तुस्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया था। उसकी हड्डी और मिंजा में भी धर्मानुराग व्याप्त था। किसी से वार्ता का प्रसंग आता तो वह कहा करता था—आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है, अन्य सब अनर्थ है। उसका यश सर्वत्र फैला हुआ था या उसका हृदय स्फटिक के समान निर्मल था। दान देने के लिए उसके घर का द्वार सदैव खुला रहता

करता है, तो अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। इसी प्रकार त्रसजीव की हिंसा का त्यागी पुरुष यदि त्रसपर्याय छोड़ कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुए जीव की हिंसा करता है, तो वह भी अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। अतएव ऐसा प्रत्याख्यान दुष्ट प्रत्याख्यान ही माना जा सकता है ॥ ६ ॥

मूल—एवं एहं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ, एवं एहं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइएणं; णएणत्थ अभिओगेणं गाहावइचोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति, अयं पि णो उवएसे णो णेआउए भवइ। अवियाइं आउसो गोयमा! तुब्भं पि एवं रोयइ ? ॥७॥

अर्थः—पेढालपुत्र उदक अपना अभिमत प्रकट करते हैं—इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वालों का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है तथा इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वालों का प्रत्याख्यान कराना सम्यक् कहलाता है और इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वाले अपनी प्रतिज्ञा को भंग नहीं करते हैं। प्रत्याख्यान की वह विधि यह है—'राजा आदि के अभियोग के सिवाय; 'गाथापतिचोरविमोक्षणन्याय'* से वर्तमान काल में त्रसपर्याय को प्राप्त प्राणी, अर्थात् त्रसजीव जब तक त्रसपर्याय में रहे तब तक उस प्राणी की हिंसा का प्रत्याख्यान है। इस आशय को प्रकट करने के लिए 'त्रस' शब्द के आगे 'भूत' शब्द लगा देने से प्रत्याख्यान करने वाले का प्रत्याख्यान नष्ट नहीं होता। जो साधु क्रोध से या लोभ से 'भूत' शब्द को छोड़ कर प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा को भंग करते हैं अर्थात् उन्हें मृषावाद का दोष लगता है; और प्रत्याख्यान करने वाले को व्रतभंग का दोष लगता है। हे आयुष्मन् गौतम ! हमारा यह उपदेश क्या न्याययुक्त नहीं है ? क्या हमारा यह कथन आपको रुचता है ? ॥ ७ ॥

---

* गाथापति चोर के पकड़े जाने पर उसके छुड़ाने का उदाहरण गाथापति-चोरग्रहणविमोक्षणन्याय कहलाता है। उदाहरण इस प्रकार है:—

एक राजा ने नगर में कौमुदी—महोत्सव मनाने की घोषणा की, प्रजा को आदेश दिया कि नगर का बच्चा—बच्चा नगर से बाहर आ जाय और रात भर बाहर ही रहे। जो इस आज्ञा के विरुद्ध नगर में रह जायगा, उसे वध का दण्ड दिया जायगा, इस आज्ञा को सुनकर सब नगर निवासी सूर्यास्त के पूर्व ही बाहर चले गये, परन्तु एक वैश्य के छह पुत्र काम-काज की धुन में नगर में ही रह गये। सूर्यास्त के बाद उन्हें

भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक से कहा—आयुष्मन् ! आपका प्रश्न सुन कर मैं जान सकूंगा, अर्थात् उत्तर दे सकूंगा तो दूंगा। आप प्रश्न पूछिए ॥ ५ ॥

मूल-उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-आउसो गोयमा ! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासयं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेन्ति-णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं; एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ। एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियं भवइ। एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं। कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरकायाओ विमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥६॥

अर्थ—पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा-आयुष्मन् गौतम ! कुमारपुत्र नामक एक निर्ग्रन्थ श्रमण आपके प्रवचन की प्ररूपणा करने वाले हैं। वे अपने पास आये हुए गृहस्थ श्रावक को इस प्रकार प्रत्याख्यान करवाते हैं-राजा आदि के अभियोग-बलात्कार-के सिवाय गाथापति चोरविमोक्षणन्याय से, त्रस जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान है। किन्तु इस प्रकार से प्रत्याख्यान करना दुष्प्रत्याख्यान है और इस प्रकार से प्रत्याख्यान कराना दुष्प्रत्याख्यान कराना है। ऐसा प्रत्याख्यान कराने वाले स्वयं अपनी प्रतिज्ञा को भंग करते हैं। इसका क्या कारण है, सो सुनिये-प्राणी परिवर्त्तनशील हैं; कभी स्थावर प्राणी पुनर्जन्म लेकर त्रस के रूप में आ जाते हैं और त्रस प्राणी स्थावर रूप में आ जाते है। प्राणी, स्थावरकाय से छूट कर, त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। और त्रसकाय से छूटकर स्थावरकाय में जन्म ग्रहण कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में जब कोई त्रस-जीव स्थावर रूप में उत्पन्न हो जाता है तो उस त्रसजीव को दंड न देने की प्रतिज्ञा किये हुए श्रावकों द्वारा वह दंडनीय हो जाता है-

तात्पर्य यह है कि-त्रस जीव को हिंसा न करने की किसी श्रमणोपासक ने प्रतिज्ञा ली है। वह त्रसजीव मर कर अगर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हो जाता है तो वही श्रमणोपासक उस जीव की हिंसा कर सकता है। अतएव ऐसा त्याग दुष्ट त्याग है। मान लीजिए, किसी पुरुष ने यह प्रतिज्ञा ली है कि-'मैं नागरिक पुरुष का वध नहीं करूंगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला पुरुष यदि नगर से बाहर गये हुए नागरिक का वध

करता है, तो अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। इसी प्रकार त्रसजीव की हिंसा का त्यागी पुरुष यदि त्रसपर्याय छोड़ कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुए जीव की हिंसा करता है, तो वह भी अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। अतएव ऐसा प्रत्याख्यान दुष्ट प्रत्याख्यान ही माना जा सकता है ॥ ६ ॥

**मूल—एवं ण्हं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं; णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावइचोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति, अयं पि णो उवएसे णो णेआउए भवइ। अवियाइं आउसो गोयमा! तुब्भं पि एवं रोयइ ? ॥७॥**

अर्थः—पेढालपुत्र उदक अपना अभिमत प्रकट करते हैं—इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वालों का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है तथा इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वालों का प्रत्याख्यान कराना सम्यक् कहलाता है और इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वाले अपनी प्रतिज्ञा को भंग नहीं करते हैं। प्रत्याख्यान की वह विधि यह है—'राजा आदि के अभियोग के सिवाय; 'गाथापतिचोरविमोक्षणन्याय'* से वर्तमान काल में त्रसपर्याय को प्राप्त प्राणी, अर्थात् त्रसजीव जब तक त्रसपर्याय में रहे तब तक उस प्राणी की हिंसा का प्रत्याख्यान है। इस आशय को प्रकट करने के लिए 'त्रस' शब्द के आगे 'भूत' शब्द लगा देने से प्रत्याख्यान करने वाले का प्रत्याख्यान नष्ट नहीं होता। जो साधु क्रोध से या लोभ से 'भूत' शब्द को छोड़-कर प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा को भंग करते हैं अर्थात् उन्हें मृषावाद का दोष लगता है; और प्रत्याख्यान करने वाले को व्रतभंग का दोष लगता है। हे आयुष्मन् गौतम ! हमारा यह उपदेश क्या न्याययुक्त नहीं है ? क्या हमारा यह कथन आपको रुचता है ? ॥ ७ ॥

* गाथापति चोर के पकड़े जाने पर उसके छुड़ाने का उदाहरण गाथापति-चोरग्रहणविमोक्षणन्याय कहलाता है। उदाहरण इस प्रकार है:—

एक राजा ने नगर में कौमुदी-महोत्सव मनाने की घोषणा की, प्रजा को आदेश दिया कि नगर का बच्चा-बच्चा नगर से बाहर आ जाय और रात भर बाहर ही रहे। जो इस आज्ञा के विरुद्ध नगर में रह जायगा, उसे वध का दण्ड दिया जायगा, इस आज्ञा को सुनकर सब नगर निवासी सूर्यास्त के पूर्व ही बाहर चले गये, परन्तु एक वैश्य के छह पुत्र काम-काज की धुन में नगर में ही रह गये। सूर्यास्त के बाद उन्हें

मूल-सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-आउसंतो उदगा ! नो खलु अम्हे एयं रोयइ। जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति, णो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा मासं भासंति, अणुतावियं खलु ते मासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा; जेहिं वि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयन्ति, ताण वि ते अब्भक्खाइक्खंति। कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति; थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं ।८।

राजाज्ञा का स्मरण आया। मगर नगर के फाटक बंद हो चुके थे। वे बाहर न जा सके। प्रभात में वे पकड़े गये और राजा के समक्ष उपस्थित किये गये। अपनी घोषणा के अनुसार राजा ने उन्हें प्राणदण्ड का आदेश दिया।

वैश्य को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसके शोक की सीमा न रही। वह राजा के पास पहुँचा। बहुत अनुनय-विनय करने पर भी राजा ने उसके पुत्रों को वध दण्ड से मुक्त न किया। वैश्य ने निराश होकर कहा-महाराज ! यदि छहों को नहीं छोड़ सकते तो पाँच पुत्रों को ही छोड़ दीजिए मगर राजा ने इस मांग को भी स्वीकार न किया। तब वैश्य ने पहले चार को, तीन को और फिर दो को बचा देने की प्रार्थना की राजा इस पर भी राजी न हुआ। अन्त में अत्यन्त निराशा और दुःख के साथ वैश्य ने कहा--पृथ्वीनाथ ! मेरे कुल का क्षय हो जायगा। दया कीजिए और एक पुत्र को ही प्राणदण्ड से मुक्त कर दीजिए !

बड़ी कठिनाई से राजा पसीजा। वैश्य के एक पुत्र को प्राण दण्ड से मुक्त करके उसके कुल को क्षय से बचाया।

यही उदाहरण जीवहिंसा के विषय में लागू होता है। साधु वैश्य के समान सभी प्राणियों की रक्षा करना चाहता है। वह नहीं चाहता कि कोई किसी भी प्राणी की हिंसा करे। किन्तु जब कोई पुरुष सब जीवों हिंसा का त्याग नहीं कर सकता तो साधु यथा संभव अधिक से अधिक प्राणियों की हिंसा त्यागने का उपदेश देता है। फिर भी जैसे वैश्य अपने सभी पुत्रों की रक्षा चाहता था, उसी प्रकार साधु भी सब प्राणियों की रक्षा का ही इच्छुक होता है।

यह *'गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षण'* न्याय का आशय है।

अर्थ–भगवान गौतम ने पेढालपुत्र उदक से, वाद सहित इस प्रकार कहा–आयुष्मन् उदक ! तुम्हारा कथन हमें नहीं रुचता । जो श्रमण या माहन तुम्हारे कहने के अनुसार प्ररूपणा करते हैं, वे श्रमण और निर्ग्रन्थ सत्य भाषा बोलने वाले नहीं हैं। वे ताप उत्पन्न करने वाली भाषा बोलते हैं वे श्रमणों को और श्रमणोपासकों को झूठा कलक लगाते हैं । जो लोग जीवों, प्राणीयों भूतों और सत्वों के विषय में संयम धारण करते हैं, उन्हें भी कलंक लगाते हैं । इसका क्या कारण है, सो सुनो–सब प्राणी परिवर्तन शील हैं । त्रस प्राणी, स्थावर-अवस्था को प्राप्त होते हैं और स्थावर प्राणी त्रस-अवस्था को प्राप्त होते हैं । वे त्रसकाय से छूट कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं । और स्थावर काय से छूटकर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं त्रसकाय में उत्पन्न होने पर वे त्रसहिंसा के त्यागियों द्वारा हनन करने योग्य नहीं रहते ॥ ८ ॥

मूल–सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा आउ अन्नहा ? सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी–आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा, ते वयं वयामो तसा पाणा । जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा । एए संति दुवे ठाणा तुल्ला, एगट्ठा । किमाउसो इमे मे सुप्पणीयतराए भवइ तसभूया पाणा तसा, इमे मे दुप्पणीयतराए भवइ तसा पाणा तसा, ततो एगयाउसो ! पडिक्कोसह, एक्कं अभिणंदह । अयंपि भेदो से णो णेआउए भवइ ॥६॥

अर्थ–वाद के साथ पेढालपुत्र उदक ने भगवान गौतम से इस प्रकार कहा–आयुष्मन् गौतम ! आप किन प्राणियों को त्रस कहते हैं ? आप त्रस को ही त्रस कहते हैं या अन्य प्रकार से कथन करते हैं ?.

वाद के साथ भगवान गौतम ने पेढाल पुत्र उदक से कहा आयुष्मन् उदक ! जिन्हे तुम 'त्रसभूत' प्राणी कहते हो उन्ही को हम त्रस प्राणी कहते हैं और जिन्हे हम त्रस प्राणी कहते हैं तुम उन्ही को 'त्रसभूत' प्राणी कहते हो । 'त्रस' और 'त्रसभूत' ये दोनों शब्द समान हैं और दोनों का एक ही अभिप्राय है । फिर क्या कारण है कि त्रसभूत त्रस कहना तुम शुद्ध समझते हो ? और त्रस प्राणी कहना अशुद्ध समझते हो । दोनों एकार्थक शब्द होने पर भी क्यों एक की निन्दा और दूसरे की प्रशंसा करते हो ? आपका यह भेद करना न्याय युक्त नहीं है ॥९॥

मूल—भगवं च णं उदाहु-संतेगइआ मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। सावयं यहं अणुपुव्वेण गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखवंति ते एवं संखं ठवयंति-नन्नत्थ अभिओएणं, गाहावइ-चोरग्गहणविमोक्खणयाए, तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव ॥१०॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी पुनः बोले—जगत् में कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो इस प्रकार कहते हैं—हम गृहस्थी त्याग कर, मुंडित होकर साधुवृत्ति का पालन करने में समर्थ नहीं है अर्थात् समस्त त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकते, इस कारण हम पहले देशविरति रूप श्रावक धर्म का पालन करेंगे, फिर अनुक्रम से साधुविरति पालेंगे। वे अपने मन में ऐसा ही विचार करते हैं, ऐसा ही निश्चय करते हैं। वे राजाभियोग आदि कारणों की छूट रखकर त्रस जीव की हिंसा का त्याग करते हैं और साधु भी, उन्हें ऐसा त्याग कराते हैं, क्योंकि जो समस्त पाप का त्याग नहीं कर सकता वह जितना पाप त्यागे उतना ही अच्छा है। यह एकदेश त्याग भी उनके लिए कल्याणकारी है ॥१०॥

मूल—तसा वि वुच्चंति तसा, तससंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ। तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ। तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति। ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि वुच्चंति थावरा, थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ। थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ। थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया ॥११॥

अर्थ—पेढालपुत्र उदक ने कहा था कि त्रसजीव की हिंसा का त्याग करने वाला श्रावक, त्रसपर्याय त्याग कर स्थावरपर्याय में उत्पन्न हुए जीव की हिंसा करता है, तो उसका व्रत भंग हो जाता है। नागरिक का दृष्टान्त देकर उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन किया था। गौतम स्वामी यहां उसका उत्तर दे रहे हैं:—

त्रसनाम कर्म के उदय से जीव त्रस कहलाते हैं। वे त्रस नाम कर्म का फल भोगने के कारण ही त्रस कहे जाते हैं। त्रसपर्याय में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट साधिक दो हजार सागरोपम तक रह कर, आयुष्य क्षीण होने पर स्थिति का कारण त्रसनाम कर्म भी क्षीण हो जाता है और तब उनकी उस आयु का अन्त हो जाता है। त्रस-आयु क्षीण होने पर वे स्थावरपर्याय में आते हैं। स्थावरजीव भी स्थावरनामकर्म के फल का अनुभव करने के कारण स्थावर कहलाते हैं। स्थावरनामकर्म का उदय होने के कारण ही उनका नाम स्थावर होता है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्त काल ( असंख्यात पुद्गलपरावर्त्तन ) तक की उनकी आयु जब क्षीण हो जाती है, तब वे उस आयु का त्याग कर देते हैं और त्रसपर्याय को प्राप्त करते हैं। उस समय उन्हें प्राणी भी कहते है, त्रस भी कहते हैं, महाकाय भी कहते हैं। वे लम्बी स्थिति वाले भी हो सकते हैं।

अभिप्राय यह है कि—श्रावक ने त्रसपर्याय को प्राप्त जीव की हिंसा का त्याग किया है, स्थावरपर्याय में उत्पन्न हुए भूतपूर्व त्रसजीवों की हिंसा का त्याग नही किया है। अतएव उसके व्रतभंग का कोई कारण नहीं है। इस विषय में नागरिक का जो दृष्टान्त दिया है, वह यहाँ घटित नही होता। नगर में निवास करने वाला नागरिक कहलाता है। वह जब उद्यान में बाहर बैठा है, तब भी नागरिक ही कहलाता है। उसकी वह अवस्था बदली नही है। अतएव नागरिक को न मारने की प्रतिज्ञा लेने वाला अगर उद्यान में उसे मारता है तो भी अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है। मगर त्रस-जीव जब त्रसपर्याय त्याग कर स्थावरपर्याय में उत्पन्न हो जाता है तो उसका त्रसनाम-कर्म, त्रसआयु और त्रसपर्याय नही रहती, अतएव त्रसजीव की हिंसा का त्यागी अगर उसकी हिंसा करे तो भी उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती। उसे स्थावरहिंसा का पाप लगता है, त्रसहिंसा या प्रतिज्ञाभंग का पाप नहीं लगता। अतएव नागरिक का दृष्टान्त देना उचित नही है ॥११॥

मूल—सवायं उदए पेढालपुत्तो भयवं गोयमं एवं वयासी-आउसंतो गोयमा ! णत्थि णं से केइ परियाए जएणं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे णिक्खित्ते। कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा। थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं ॥१२॥

अर्थ—पेढालपुत्र उदक ने तर्क के साथ भगवान् गौतम से कहा—आयुष्मन् गौतम ! ऐसी कोई पर्याय नहीं है, जिसकी हिंसा न करके श्रावक एक प्राणातिपातविरति को सफल कर सके, क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील है कभी स्थावर प्राणी त्रस हो जाते हैं और त्रस प्राणी स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। कभी ऐसा भी समय आ जाता है कि ये सब स्थावरकाय को त्याग कर त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रसकाय को त्याग कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। जब सब प्राणी स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तब ये श्रावक के लिए हिंसा करने योग्य हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव की ऐसी कोई पर्याय नहीं कि श्रावक जिसकी हिंसा का त्याग कर सके। श्रावक ने त्रस की हिंसा का त्याग किया और सब जीव यदि त्रसपर्याय त्याग कर स्थावरपर्याय में आ गये तो वह उनका घात करने लगेगा। ऐसी स्थिति में उसका व्रत भंग हो जाएगा ॥१२॥

मूल—सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी णो खलु आउसो ! अस्साकं (अस्माकं) वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ। कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा; तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह-णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे निक्खित्ते। अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥१३॥

अर्थ—पेढालपुत्र उदक से वाद के साथ भगवान् गौतम ने कहा—आयुष्मन् ! हमारे कथन के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् हमारा ऐसा कथन या मन्तव्य

नहीं है कि सभी स्थावर जीव किसी समय त्रस हो सकते हैं। क्योंकि स्थावर जीव अनन्त हैं और त्रस जीव असंख्यात ही है। असंख्यात में अनन्त का समावेश नहीं हो सकता। इसी प्रकार सभी त्रस जीव मर कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाएँ, ऐसा भी नहीं हो सकता। हां, तुम्हारे कथन के अनुसार ऐसा हो सकता है, परन्तु तुम्हारे कथनानुसार भी वह पर्याय अवश्य है, जिसमें श्रमणोपासक सब प्राणियों, सब भूतों, सब जीवों और सब सत्वों की हिंसा का त्याग कर सकता है। इसका क्या कारण है, सो सुनो। जगत के जीव परिवर्तनशील हैं अतः स्थावर प्राणी भी त्रस हो जाते हैं और त्रस प्राणी भी स्थावर हो जाते हैं। वे त्रसकाय से छूट कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं और स्थावरकाय को छोड़कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। वे जब सभी त्रस काय में उत्पन्न होते हैं, तब वह स्थान श्रावकों के लिए घात के योग्य नहीं रहता। वे प्राणी भी कहे जाते हैं, त्रस भी कहे जाते हैं, महाकाय भी कहे जाते हैं और वे चिरकाल तक स्थित रहने वाले भी हो सकते हैं। अतएव उस समय वे प्राणी बहुत-से हैं जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल होता है और उस समय वे (स्थावर) प्राणी होते ही नहीं हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता है। इस प्रकार वह श्रमणोपासक महान् त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त, एवं विरत होता है। ऐसी स्थिति में तुम अथवा दूसरे लोग ऐसा जो कहते हो कि एक भी पर्याय ऐसी नहीं जिसमें श्रावक का प्रत्याख्यान सफल हो सके, सो तुम्हारा यह कथन न्याय युक्त नहीं है।

आशय यह है–उदक का कथन था कि श्रावक का एक पर्याय-आश्रित हिंसा का त्याग कभी संभव ही नहीं हो सकता। इस कथन का यहां प्रतिवाद किया गया है। गौतम स्वामी का कथन है कि संसार के समस्त जीव कभी स्थावर हो जाएँ और एक भी त्रस जीव न रहे, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार सब जीव त्रस ही हो जाएँ और एक भी स्थावर जीव न रहे, यह भी असंभव है। मगर इस मान्यता को अगर स्वीकार कर लिया जाय तो भी एक स्थिति तो ऐसी है ही, जिसमें श्रावक का प्रत्याख्यान सफल हो सकता है। जब सभी जीव त्रस हो जाएँगे तो श्रावक के त्याग का क्षेत्र बहुत बढ़ जाएगा। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि श्रावक का त्याग सर्वथा निर्विषय है ! ॥ १३ ॥

मूल–भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा–आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति। तेसिं च एवं वुत्तपुव्वं भवइ–जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, एसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते। जे इमे अगारमावसंति एएसिं णं

आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते । केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाए छट्ठदसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा ? हंता आवसेज्जा । तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ? णो तिणट्ठे समट्ठे । एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ । से एवमायाणह णियंठा ! एवमायाणियव्वं ॥ १४ ॥

अर्थ-भगवान् गौतम कहते हैं-आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् में कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनकी ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि-'यह जो गृहत्याग करके साधु हो गये हैं, मैं जीवनपर्यन्त इनका हनन नहीं करूँगा; परन्तु जो गृह में निवास करते हैं-गृहस्थ हैं, उनको जीवनपर्यन्त हनन करने का मैं त्याग नहीं करता।' अब कोई साधु चार-पाँच वर्षों तक या छह-दस वर्षों तक, थोड़े या बहुत काल तक देशदेशान्तर में विचर कर गृहस्थ बन जाते हैं या नहीं !

निर्ग्रन्थ उत्तर देते हैं-हाँ, कोई-कोई साधु साधुपन त्याग कर गृहस्थ बन जाते हैं।

भगवान् गौतम फिर कहते हैं-तो क्या श्रमणों का हनन न करने की प्रतिज्ञा वाले उस प्रत्याख्यानी पुरुष का उस गृहस्थ का घात करने से प्रत्याख्यान भंग हो जाता है ?

निर्ग्रन्थ कहते हैं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् साधुपन त्याग कर गृहस्थ बने हुए पुरुष को मारने से साधु को न मारने की प्रतिज्ञा भंग नहीं होती।

तब गौतम स्वामी कहते हैं-तो इसी प्रकार श्रावक ने त्रसजीवों को दंड देना त्यागा है, स्थावर जीवों को दंड देना नहीं त्यागा। अतएव स्थावरकाय की हिंसा करने से उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। हे निर्ग्रन्थों ! इसी प्रकार समझो। आपको ऐसा ही समझना चाहिए ॥१४॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-नियंठा खलु पुच्छियव्वा 'आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?

'हंता, उवसंकमेज्जा ।'

'तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ?'

'हंता, आइक्खियव्वे ।'

'किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा-इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति वुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेन्ति । तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमो त्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?'

'हंता वएज्जा ?'

'किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ?'

'हंता कप्पंति ।'

'किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ?'

हंता, कप्पंति ।'

'किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ?'

'हंता, कप्पंति ।'

'किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए ?'

'हंता कप्पंति ।'

'तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं, जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?'

'हंता णिक्खित्ते ।'

'से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छट्ठदसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ?'

आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते । केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाए छट्ठद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा ? हंता आवसेज्जा । तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ? णो तिणट्ठे समट्ठे । एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ । से एवमायाणह णियंठा ! एवमायाणियव्वं ॥ १४ ॥

अर्थ-भगवान् गौतम कहते हैं-आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् में कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनकी ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि-'यह जो गृहत्याग करके साधु हो गये हैं, मैं जीवनपर्यन्त इनका हनन नहीं करूंगा; परन्तु जो गृह में निवास करते हैं-गृहस्थ हैं, उनको जीवनपर्यन्त हनन करने का मैं त्याग नहीं करता ।' अब कोई साधु चार-पाँच वर्षों तक या छह-दस वर्षों तक, थोड़े या बहुत काल तक देशदेशान्तर में विचर कर गृहस्थ बन जाते हैं या नहीं !

निर्ग्रन्थ उत्तर देते हैं-हाँ, कोई-कोई साधु साधुपन त्याग कर गृहस्थ बन जाते हैं ।

भगवान् गौतम फिर कहते हैं-तो क्या श्रमणों का हनन न करने की प्रतिज्ञा वाले उस प्रत्याख्यानी पुरुष का उस गृहस्थ का घात करने से प्रत्याख्यान भंग हो जाता है ?

निर्ग्रन्थ कहते हैं-नहीं, ऐसी बात नहीं है । अर्थात् साधुपन त्याग कर गृहस्थ बने हुए पुरुष को मारने से साधु को न मारने की प्रतिज्ञा भंग नहीं होती ।

तब गौतम स्वामी कहते हैं-तो इसी प्रकार श्रावक ने त्रसजीवों को दंड देना त्यागा है, स्थावर जीवों को दंड देना नहीं त्यागा । अतएव स्थावरकाय की हिंसा करने से उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता । हे निर्ग्रन्थों ! इसी प्रकार समझो । आपको ऐसा ही समझना चाहिए ॥१४॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-नियंठा खलु पुच्छियव्वा 'आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?'

'हंता, उवसंकमेज्जा ।'

निर्ग्रन्थ—हाँ, मुण्डित करना कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें शिक्षा देना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें प्रव्रज्या में उपस्थित करना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन लोगों ने दीक्षित होकर समस्त प्राणियों एवं सत्वों की हिंसा करना त्याग दिया ?

निर्ग्रन्थ—हाँ त्याग दिया।

गौतम—वे संयम-विहार से विचरते हुए चार, पाँच, छह या दश वर्षों तक थोड़े-बहुत देश-देशान्तर में विचर कर फिर गृहवास में आ सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, जा सकते हैं।

गौतम स्वामी—गृहस्थ बन कर भी क्या उन्होंने समस्त प्राणियों एवं जीवों की हिंसा त्यागी हुई है ?

निर्ग्रन्थ—नहीं ऐसा नहीं है।

गौतम स्वामी—वह जीव वही है जिसने दीक्षा ग्रहण करने से पहले प्राणियों यावत् सत्वो की हिंसा का त्याग नहीं किया था। वह जीव वही है जिसने दीक्षा धारण करने पर समस्त प्राणियों यावत् सत्वों की हिंसा त्याग दी थी। और वह वही जीव है जो पुनः गृहस्थ बन कर समस्त प्राणियों यावत् सत्वों की हिंसा का त्यागी नहीं है। वह वही है जो पहले असंयमी था, फिर सयमी हो गया और अब पुनः असंयमी हो गया है। असयमो जीव सब प्राणियों की हिंसा का त्यागी नहीं होता है। हे निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार समझो और इसी प्रकार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि साधुपन त्याग कर असाधु बन जाने पर साधु-पर्याय नहीं रहती। उसी प्रकार त्रस-पर्याय त्याग कर स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाने पर जीव त्रस नहीं रहता। जैसे साधु को दंड न देने की प्रतिज्ञा लेने वाला पुरुष यदि साधुता-त्यागी असाधु को दंड देता है तो उसकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं होती, उसी प्रकार त्रस जीव को न मारने की प्रतिज्ञा लेने वाला पुरुष यदि त्रसपर्याय त्याग कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुए जीव की हिंसा करता है तो उसकी भी प्रतिज्ञा खंडित नहीं होती ॥१५॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-नियंठा खलु पुच्छियव्वा-'आउसंतो नियंठा ! इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?'

हंता वएज्जा ।'

'तस्स णं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?'

'णो तिणट्ठे समट्ठे !'

से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, परेणं असंजए, आरेणं संजए, इयाणिं असंजए असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ । से एवमायाणह नियंठा ! से एवमायाणियव्वं ॥१५॥

अर्थ—भगवान् गौतम पुनः अपने मत का समर्थन करते हुए बोले—मैं निर्ग्रन्थों से पूछता हूँ—हे आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् में, अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ कोई गृहस्थ या गृहस्थ का पुत्र धर्म को श्रवण करने के लिए साधु के समीप आ सकता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, आ सकता है ।

गौतम स्वामी—तो क्या उन्हें धर्म का उपदेश करना चाहिए ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, उपदेश करना चाहिए ।

गौतम स्वामी—वे उस प्रकार के धर्म को सुन कर और समझ कर ऐसा कह सकते हैं कि—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, सर्वज्ञभाषित है, पूर्ण रूप से शुद्ध है, न्यायसंगत है, हृदय के शल्यों को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याण और निर्वाण का मार्ग है, मिथ्या नहीं है, असंदिग्ध है, समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग है, इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित जीव सिद्धि प्राप्त करते है, बोध प्राप्त करते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का अन्त करते हैं । हम निर्ग्रन्थ प्रवचन के आदेशानुसार ही चलेंगे, ठहरेंगे, बैठेंगे, लेटेंगे, भोजन करेंगे, भाषण करेंगे । इसी धर्म के अनुसार हम उद्यम करेंगे और उद्यम करके समस्त प्राणियों भूतों जीवों और सत्वों की रक्षा के हेतु संयम पूर्वक सब प्रवृत्ति करेंगे । क्या वे ऐसा भी कह सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, कह सकते हैं ।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें दीक्षित करना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ कल्पता है ।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें मुण्डित करना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, मुण्डित करना कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें शिक्षा देना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन्हें प्रव्रज्या में उपस्थित करना कल्पता है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ कल्पता है।

गौतम स्वामी—क्या उन लोगों ने दीक्षित होकर समस्त प्राणियों एवं सत्वों की हिंसा करना त्याग दिया ?

निर्ग्रन्थ—हाँ त्याग दिया।

गौतम—वे संयम-विहार से विचरते हुए चार, पाँच, छह या दश वर्षों तक थोड़े-बहुत देश-देशान्तर में विचर कर फिर गृहवास में जा सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, जा सकते हैं।

गौतम स्वामी—गृहस्थ बन कर भी क्या उन्होंने समस्त प्राणियों एवं जीवों की हिंसा त्यागी हुई है ?

निर्ग्रन्थ—नहीं ऐसा नहीं है।

गौतम स्वामी—वह जीव वही है जिसने दीक्षा ग्रहण करने से पहले प्राणियों यावत् सत्वों की हिंसा का त्याग नहीं किया था। वह जीव वही है जिसने दीक्षा धारण करने पर समस्त प्राणियों यावत् सत्वों की हिंसा त्याग दी थी। और वह वही जीव है जो पुनः गृहस्थ बन कर समस्त प्राणियों यावत् सत्वों की हिंसा का त्यागी नहीं है। वह वही है जो पहले असंयमी था, फिर संयमी हो गया और अब पुनः असंयमी हो गया है। असंयमी जीव सब प्राणियों की हिंसा का त्यागी नहीं होता है। हे निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार समझो और इसी प्रकार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि साधुपन त्याग कर असाधु बन जाने पर साधु-पर्याय नहीं रहती। उसी प्रकार त्रस-पर्याय त्याग कर स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाने पर जीव त्रस नहीं रहता। जैसे साधु को दंड न देने की प्रतिज्ञा लेने वाला पुरुष यदि साधुता-त्यागी असाधु को दंड देता है तो उसकी प्रतिज्ञा खंडित नहीं होती, उसी प्रकार त्रस जीव को न मारने की प्रतिज्ञा लेने वाला पुरुष यदि त्रसपर्याय त्याग कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुए जीव की हिंसा करता है तो उसकी भी प्रतिज्ञा खंडित नहीं होती ॥१५॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-नियंठा खलु पुच्छियव्वा-'आउसंतो नियंठा ! इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?'

'हंता उवसंकमेज्जा ।'

'किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे ?'

'हंता, आइक्खियव्वे ।'

तं चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंति ?

'हंता, कप्पंति ।'

'किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ?'

'हंता, कप्पंति ।'

तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव जाव अगारं वएज्जा ?

'हंता वएज्जा ।

'ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ?'

'णो इणट्ठे समट्ठे ।'

'से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए । परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाण निग्गंथाणं संभुंजित्तए, से एवमायाणह नियंठा ! से एवमायाणियव्वं ॥१६॥

अर्थ—भगवान् गौतम ने दूसरा उदाहरण देते हुए कहा—मैं निर्ग्रन्थों से पूछता हूं कि—आयुष्मन्त निर्ग्रन्थों ! इस जगत् में परिव्राजक अथवा परिव्राजिकाएँ, अन्य तीर्थ के स्थानों से धर्म को श्रवण करने के लिए साधु के समीप आ सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ–'हाँ, आ सकते हैं ।'

गौतम–'तो क्या उनके लिए धर्मोपदेश करना चाहिए ?'

निर्ग्रन्थ–'हाँ, करना चाहिए ।'

गौतम–'धर्मश्रवण करने के पश्चात् वैराग्य उत्पन्न होने पर उन्हें दीक्षा देना कल्पता है ?'

निर्ग्रन्थ–'हाँ, कल्पता है ।'

गौतम–दीक्षित होने के पश्चात् उन्हें मंडल में बिठलाना चाहिए ?

निर्ग्रन्थ-'हाँ, बिठलाना चाहिए।'

गौतम-वे संयम का पालन करते हुए कुछ समय के पश्चात् फिर गृहस्थ बन सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ-'हाँ, गृहस्थ बन सकते हैं।'

गौतम-'उस समय भी उन्हें आहार-पानी देना, उनसे लेना और साथ में भोजन करना उचित हैं ?'

निर्ग्रन्थ-'नहीं, उचित नहीं है।'

गौतम-वह तो वही जीव है जिसे दीक्षा धारण करने से पहले आहार-पानी देना-लेना नहीं कल्पता था, वह वही जीव है जिसे दीक्षित होने पर आहार-पानी देना लेना कल्पता था और वह वही जीव है जिसे दीक्षा त्याग देने पर अब आहार-पानी देना लेना नहीं कल्पता है। वह जीव पहले श्रमण नहीं था बाद में श्रमण हो गया और बाद में फिर श्रमण नहीं रहा। अश्रमण (श्रमणत्व को छोड़ देने वाले) के साथ श्रमण निर्ग्रन्थों को आहार-पानी का भोगना आदि नहीं कल्पता है। हे निर्ग्रन्थों ! ऐसा समझो, आपको ऐसा ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जैसे अश्रमण जब श्रमण बन जाता है तब असंभोग के बदले संभोग के योग्य हो जाता है, उसी प्रकार जब कोई जीव स्थावर पर्याय से त्रसपर्याय में उत्पन्न हो जाता है तो वह श्रावक के प्रत्याख्यान का विषय हो जाता है। और जैसे श्रमण जब पुनः अश्रमण हो जाता है तो वह संभोग का विषय नहीं रहता, उसी प्रकार जब त्रसजीव मर कर स्थावर बन जाता है तो वह श्रावक के प्रत्याख्यान का विषय नहीं रहता ॥१६॥

भगवं च णं उदाहु-संतेगइया समणोवासगा भवंति; तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं, थूलगं अदिन्नादाणं, थूलगं मेहुणं, थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं मा खलु ममट्ठाए किंचि करेह वा करावेह वा तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो। ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता। ते तहा कालगया किं

वत्तव्वं सिया-सम्मं कालगतत्ति ? वत्तव्वं सिया । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । इति से महयाओ जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥१७॥

अर्थ–कोई-कोई श्रमणोपासक होते हैं और वे इस प्रकार कहते हैं-हम दीक्षा अंगीकार करके, गृह का त्याग कर अनगार बनने में समर्थ नहीं हैं । हम चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णिमा-अमावस्या के दिन परिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए विचरेंगे । हम स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करेंगे इसी प्रकार स्थूल मृषावाद का, स्थूल अदत्तादान का, स्थूल मैथुन का तथा स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान करेंगे, इच्छा का परिमाण करेंगे । हम दो करण तीन योग से ऐसा भी प्रत्याख्यान करेंगे कि हमारे लिए मन-वचन-काया से कुछ न करो और न कराओ ।

वे श्रमणोपासक आहार का त्याग करके, पानी का त्याग करके, स्नान का त्याग करके, आसन-पीठिका का त्याग करके यदि काल करें तो उनके विषय में क्या कहना चाहिए ? उन्होंने समाधिपूर्वक काल किया, यही कहना चाहिए । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महान् काय वाले और चिरकालीन स्थिति वाले भी कहलाते हैं । ऐसे प्राणी बहुत हैं, जिनके विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और ऐसे प्राणी थोड़े है, जिनके विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान नहीं होता । अतएव श्रमणोपासक महान् त्रसकाय की हिंसा का त्यागी है, फिर भी आप उसके त्याग को निर्विषय कहते हैं, यह आपका कथन न्याययुक्त नहीं है ॥ १७ ॥

मूल–भगवं च णं उदाहु–संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए । णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए । वयं णं अपच्छिममारणंतियं संलेहणाजूसणाजूसिया भत्तपाणं पडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवायं पच्च-क्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं;

मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता । एते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया ? सम्मं कालगयत्ति वत्तव्वं सिया ? ते पाणा वि वुच्चंति, जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥१८॥

अर्थ--भगवान् गौतम ने कहा-संसार में कोई-कोई श्रावक ऐसे भी होते हैं जो इस प्रकार कहते हैं कि हम मुण्डित होकर गृहत्याग करके अनगार वृत्ति अंगीकार करने में समर्थ नहीं है तथा चतुर्दशी अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषधोपवास का पालन करते हुए विचरने में भी समर्थ नहीं है । हम अन्तिम समय में मृत्यु का समय सन्निकट आने पर, सलेखना करके, अशन-पान आदि का त्याग करके यावत् काल की आकांक्षा न करते हुए विचरेंगे । उस समय हम सम्पूर्ण प्राणातिपात का त्याग करेंगे यावत् समस्त परिग्रह का त्याग करेंगे । मेरे लिए कुछ करो या कराओ इस प्रकार का हम प्रत्याख्यान करेंगे । इस प्रकार प्रत्याख्यान करके जब वे श्रमणोपासक अपने आसन से उतर कर काल को प्राप्त करते हैं तो उनके विषय में क्या कहना चाहिए ? यही कहना चाहिए कि उन्होंने सम्यक् प्रकार से काल की प्राप्ति की है । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । अर्थात् उन्होंने देवगति पाई है और देव त्रसकाय में हैं, अतः वे भी त्रस हैं । इस प्रकार जिसने त्रसहिंसा का त्याग किया है वे उसकी प्रतिज्ञा के विषय हैं । ऐसी स्थिति में श्रावक की प्रतिज्ञा को निर्विषय कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव में श्रावक के त्याग को निर्विषय बतलाना न्याय संगत नहीं है ॥१८॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जेहिं, समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते । ते ततो आउगं विप्पजहंति, ततो भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुयरगा आयाणसो, इति से महयाओ णं जण्ण तुब्भे वदह, तं चेव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥१९॥

अर्थ-भगवान् गौतम स्वामी बोले-संसार में अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं जो महान् इच्छा वाले, महान् आरंभ वाले, महान् परिग्रह वाले, अधर्मी और बड़ी कठिनाई से प्रसन्न करने योग्य होते है । वे जीवन पर्यन्त समस्त हिंसा यावत् परिग्रह से विरत

नहीं होते हैं। श्रावक व्रत ग्रहण से लेकर यावज्जीवन उनकी हिंसा का त्यागी होता है। वे अधार्मिक जीव यथा समय आयु का त्याग करते हैं और अपने किये हुए पापकर्मों को साथ लेकर दुर्गति में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे महाकाय और बहुत काल की स्थिति वाले होते हैं। वे बहुसंख्यक होते हैं और श्रावक उनकी हिंसा न करने की प्रतिज्ञा लेता है, अतः वह बहुसंख्यक प्राणियों की हिंसा से विरत है। ऐसी स्थिति में आपका यह कथन न्याय संगत नहीं है कि श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है।

तात्पर्य यह है कि महारंभी, महापरिग्रही अधार्मिक जीव नरकगति में जाते हैं। वे नारक कहलाते हैं और नारक जीव त्रस कहलाते हैं। श्रावक उनकी हिंसा का त्यागी होता है वे उसके प्रत्याख्यान के विषय हैं। अतएव श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय मानना अयुक्त है।१९॥

मूल–भगवं च णं उदाहु–संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा–अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, ते तओ भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ॥२०॥

अर्थ–भगवान् गौतम बोले–जगत् में कोई-कोई मनुष्य होते हैं, जो आरंभ से रहित, परिग्रह से रहित, धार्मिक, धर्म के अनुगामी या दूसरों को धर्म की आज्ञा देने वाले, यावत् समस्त हिंसा से लेकर परिग्रह तक के त्यागी होते हैं। श्रावक उन प्राणियों को व्रत ग्रहण करने से लेकर यावज्जीवन दंड देने का त्यागी होता है। वे धार्मिक मनुष्य यथावत आयु का त्याग करते हैं और फिर अपने उपार्जित पुण्य को साथ लेकर सद्गति में जाते हैं। उस समय वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे चिरकाल तक स्वर्ग में निवास करते हैं। श्रमणोपासक उन्हें दंड नहीं देता, अतएव त्रस प्राणियों के अभाव में श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है, ऐसा कहना न्याय युक्त नहीं है॥२०॥

मूल–भगवं च णं उदाहु–संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा–अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया, जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आया-

णसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति। ततो भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति। ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ॥२१॥

अर्थ—संसार में कोई-कोई अल्प इच्छा वाले, अल्प आरंभ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म की अनुज्ञा देने वाले, किसी हिंसा से विरत और किसी से अविरत इसी प्रकार परिग्रह तक के सभी पापों से किसी अंश में विरत और किसी अंश में अविरत होते हैं। श्रावक व्रत ग्रहण से लेकर मृत्यु पर्यन्त उन्हें दंड देने का त्यागी होता है। तदनन्तर वे यथा समय आयु का त्याग करते हैं और अपने शुभ कर्मों को साथ लेकर सद्गति में (स्वर्ग में) गमन करते हैं। उस समय वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे लंबे काल तक स्वर्ग में निवास करते हैं। श्रावक उन्हें दंड नही देता है, अतएव त्रस जीवों का अभाव बतलाकर श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय मानना न्याय युक्त नहीं है ।।२१।।

मूल—भगवं च णं उदाहु-संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं, अप्पणा सच्चा-मोसाइं एवं विप्पडिवेदेन्ति--अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किव्विसियाइं जाव उववत्तारो भवंति। तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमो-रूवत्ताए पच्चायंति। ते पाणा वि वुच्चंति, जाव णो णेयाउए भवइ ॥२२॥

अर्थ-भगवान् गौतम स्वामी बोले-संसार में कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जो वन में वास करते हैं, वहां कुटिया बनाकर रहते हैं, ग्राम में जाकर भोजन करते हैं और किसी गुप्त विषय के ज्ञाता होते हैं या रहस्यमय कार्य करते हैं। श्रमणोपासक उन्हें मृत्यु पर्यन्त दंड देने का त्यागी होता है। वे वनवासी तापस असंयमी हैं, अविरत हैं-प्राण भूत जीव और सत्व की हिंसा से निवृत्त नहीं हैं और ऐसी मिश्र भाषा का प्रयोग करते हैं कि हमको नही मारना, दूसरों को भले मारना चाहिए। वे तापस मरण के अवसर पर मर कर बालतप के प्रभाव से असुर आदि देवता होते हैं। वहाँ से च्युत होकर बकरे के समान गूंगे और तामसिक रूप में उत्पन्न होते हैं। वे प्राणी

भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। अतएव उन जीवों को न मारने के कारण, श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है, यह कहना न्याय युक्त नहीं है ॥२२॥

मूल—भगवं च णं उदाहु–संतेगइया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ। ते पुव्वामेव कालं करेन्ति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिर-ट्ठिइया, ते दीहाउया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ॥२३॥

अर्थ—भगवान गौतम स्वामी बोले–इस लोक में अनेक दीर्घ आयुष्य वाले प्राणी होते हैं–उनकी आयु व्रतधारी श्रावक से भी अधिक होती है। वे देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य के रूप में परलोक में उत्पन्न होते हैं। उनके विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सफल होता है। व्रतग्रहण करने से लेकर जीवनपर्यन्त श्रावक उनकी घात नहीं करता है। वे प्राणी पहले ही काल को प्राप्त करके परलोक जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे महाकाय वाले, चिरकालीन स्थिति वाले, दीर्घायु और बहुसंख्यक होते है। अतएव उन जीवों की अपेक्षा श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। ऐसी स्थिति में, ऐसा कोई पर्याय ही नहीं है, जिसमें श्रावक प्रत्याख्यान कर सके यह आपका कथन न्याययुक्त नहीं है॥ २३ ॥

मूल—भगवं च णं उदाहु–संतेगइया पाणा समाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ ते सयमेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति। ते पाणा वि वुच्चंति, तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते समाउया, ते बहुयरगा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ ॥२४॥

अर्थ—भगवान् गौतम बोले–संसार में कई प्राणी श्रावक के समान आयु वाले होते हैं, जिन्हें श्रावक व्रतग्रहण से लगा कर जीवन पर्यन्त घात नहीं करता है। वे प्राणी स्वयं ही ( साथ-साथ ) काल को प्राप्त होते हैं और परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे महाकाय वाले और समान आयु वाले

होते हैं। बहुत संख्या वाले होते हैं। उनके विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। अतएव श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना उचितत नहीं है॥ २४॥

मूल—भगवं च णं उदाहु--संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ। ते पुव्वामेव कालं करेन्ति, करेत्ता परलोइयत्ताए पच्चायंति। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते अप्पाउया, ते बहुतरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ; जाव णो णेयाउए भवइ॥ २५॥

अर्थ—संसार में अनेक प्राणी अल्पायु होते हैं। वे जब तक जीवित रहते हैं तब तक प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता। वे मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः त्रसयोनि में उत्पन्न होते हैं, तब भी श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता, क्योंकि वह व्रत धारण करने से लेकर जीवन पर्यन्त त्रस जीव की हिंसा करने का त्यागी होता है। वे जीव पहले ही काल करके परलोक चले जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। वे महाकाय वाले, अल्पायु और बहुसंख्यक हैं, जिनके विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। अतएव आपका कथन यावत् न्याय युक्त नहीं है॥ २५॥

मूल—भगवं च णं उदाहु- संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ--णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए। णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए। णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिम जाव विहरित्तए। वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि। तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते। तओ आउयं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से.।२६।

अर्थ—भगवान् गौतम बोले-संसार में कोई-कोई श्रमणोपासक होते हैं। वे इस प्रकार कहते हैं कि-हम मुंडित होकर साधु बनने में समर्थ नहीं हैं। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन परिपूर्ण पौषध व्रत का पालन करने की भी शक्ति हममें नहीं है। मृत्यु के समय संथारा ग्रहण करने की भी हमारी शक्ति नहीं है। किन्तु हम सामायिक और देशावकाशिक व्रत को अंगीकार कर सकते हैं। प्रतिदिन प्रातः काल में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में क्षेत्र की मर्यादा करके उस मर्यादा से बाहर के समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग करेंगे। इस प्रकार हम समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों का क्षेम करने वाले बनेंगे। इस तरह व्रत ग्रहण के समय की हुई मर्यादा से बाहर रहे हुए प्राणी जिन्हें श्रावक ने यावज्जीवन दंड देना त्याग दिया है, जब आयु का अन्त होने पर श्रावक द्वारा की हुई मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में त्रस रूप से उत्पन्न होते हैं, तब श्रावक का प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय मानना न्याययुक्त नहीं है ॥ २६ ॥

मूल-तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा ते चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से० ॥२७॥

अर्थ—मर्यादित भूमि में रहे हुए जो त्रस प्राणी हैं, श्रावक ने व्रतग्रहण से जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का त्याग किया है, वे जीव यथासमय आयु का त्याग करते हैं और आयु का त्याग करके मर्यादा की हुई भूमि में ही स्थावर रूप से उत्पन्न होते हैं। श्रावक ने उन स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा का त्याग किया है, सार्थक हिंसा का त्याग नहीं किया है। वे प्राणी भी कहलाते हैं और (त्रस-भूत शब्द नहीं होने से,) त्रस भी कहलाते हैं। वे चिरकाल तक स्थित रहते हैं। श्रावक का प्रत्याख्यान उन जीवों में सफल होता है, अतः उसे निर्विषय कहना न्याययुक्त नहीं है ॥ २७ ॥

मूल—तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता

तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए० तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव-अयं पि भेदे से० ॥२८॥

अर्थ–मर्यादा की हुई भूमि में रहे हुए जो त्रस प्राणी हैं श्रावक ने व्रतग्रहण से लगा कर जीवन पर्यन्त जिनका हिंसा का त्याग कर दिया है, वे यथासमय अपनी आयु पूर्ण करके जब त्रस या स्थावर रूप से उत्पन्न होते हैं जिन्हें दंड देना श्रावक ने जीवन भर के लिए त्याग दिया है। उन जीवों की अपेक्षा श्रावक का प्रत्याख्यान सफल होता है। वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी कहलाते हैं। श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता अतः उसका प्रत्याख्यान निर्विषय नहीं है॥ २८॥

मूल—तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए तेसु पच्चायंति, तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो० ॥२९॥

अर्थ—मर्यादित भूमि में जो स्थावर प्राणी हैं, जिन्हें श्रमणोपासक ने अर्थदंड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु अनर्थदंड देना त्यागा है वे जीव यथावसर आयु का त्याग करके मर्यादित भूमि में त्रस रूप से उत्पन्न होते हैं श्रावक ने जीवन भर उनकी हिंसा का त्याग किया है। उन जीवों की अपेक्षा श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। अतएव यह कहना उचित नहीं है कि त्रस जीवों का अभाव होने से श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है॥ २९॥

मूल—तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहन्ति, विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए, ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो० ॥३०॥

अर्थ–मर्यादित क्षेत्र में जो स्थावर प्राणी हैं, जिन्हें श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दंड देना नहीं त्यागा है, किन्तु बिना प्रयोजन दण्ड देना त्याग दिया है, वहां जो मर्यादित क्षेत्र में स्थावर जीव हैं जिन्हें श्रमणोपासक ने प्रयोजन से दंड देना नहीं त्यागा परन्तु बिना प्रयोजन दंड देना त्याग दिया है, उनमें उत्पन्न होते हैं। उन्हें वह श्रमणोपासक प्रयोजनवश दंड देता है किन्तु बिना प्रयोजन दंड नहीं देता। अतएव श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है, ऐसा कहना अनुचित है ॥३०॥

मूल–तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते, तओ आउं विप्प-जहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणो-वासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥३१॥

अर्थ–वहां जो मर्यादित क्षेत्र में स्थावर जीव हैं, जिन्हें श्रावक ने प्रयोजनवश दंड देना नहीं त्यागा किन्तु बिना प्रयोजन दंड देना त्याग दिया है, वे यथावसर आयु का त्याग करते हैं। आयु का त्याग करके वहां दूर देश में जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिन्हें श्रावक ने व्रतग्रहण से लेकर मरणपर्यंत दंड देना त्याग दिया है, उनमें उत्पन्न होते हैं। उन जीवों के विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान कहलाता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में श्रावक के व्रत को निर्विषय कहना अनुचित है ॥३१॥

मूल–तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमर-णंताए० तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥३२॥

अर्थ–श्रावक द्वारा ग्रहण किये हुए देशपरिमाण से भिन्न देश में स्थित जो त्रस और स्थावर प्राणी है, जिन्हें व्रत ग्रहण करने से लेकर यावज्जीवन श्रावक ने दंड देना त्याग दिया है, वे प्राणी उस आयु को त्याग देते हैं और श्रावक द्वारा ग्रहण किये देश परिमाण के भीतर त्रस प्राणियों के रूप में उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रावक ने व्रत

ग्रहण से लेकर मृत्यु पर्यन्त दंड देना त्याग दिया है। उन जीवों में श्रावक का प्रत्याख्यान चरितार्थ होता है। वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। अतएव श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय है, यह कहना उचित नहीं ॥३२॥

मूल—तत्थ जे ते परेणं तसथावर पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति; जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते जाव ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो० ।३३॥

अर्थ—श्रावक द्वारा गृहीत देशपरिमाण से भिन्न देश में स्थित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, जिनका व्रतग्रहण से लेकर मरण पर्यन्त श्रावक ने घात करना त्याग दिया है, वे यथा समय आयु का त्याग करके गृहीत मर्यादा वाले क्षेत्र में उन स्थावरों के रूप में उत्पन्न होते हैं, जिनका प्रयोजनवश घात करना श्रावक ने नहीं त्यागा है, किन्तु बिना प्रयोजन घात करना त्याग दिया है। वे प्राणी भी कहलाते हैं त्रस भी कहलाते हैं। उन जीवों की अपेक्षा श्रावक का प्रत्याख्यान चरितार्थ होता है। अतः उसे निर्विषय कहना उचित नहीं है ॥३३॥

मूल—तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो० ॥३४॥

अर्थ—जो त्रस और स्थावर प्राणी, श्रावक द्वारा गृहीत देश-परिमाण से बाहर स्थित है, जिन्हें श्रावक ने व्रतग्रहण से लगाकर मरणपर्यन्त दण्ड देना त्याग दिया है, वे प्राणी उस आयु को त्याग कर गृहीत देशपरिमाण से बाहर उत्पन्न होते हैं। वे त्रस या स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रावक ने व्रत ग्रहण से लेकर मरणपर्यन्त दंड देना त्याग दिया हैं। उन जीवों के विषय में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। अतएव यह कहना कि ऐसा कोई पर्याय ही नहीं है, जहां श्रावक का प्रत्याख्यान हो सके, उचित नहीं है॥३४॥

मूल- भगवं च णं उदाहु--ण एतं भूयं, ण एतं भव्वं, ण भवइ जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, थावरा पाणा ... थावरा पाणा वि वोच्छिज्जिहिंति, तसा पाणा भविस्संति। ... च्छिन्नेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवइ ॥३५॥

अर्थ-भगवान् श्रीगौतम स्वामी बोले-भूतकाल में ऐसा कभी हुआ नहीं, ...ष्यत् काल में ऐसा कभी होगा नहीं और वर्तमान में ऐसा होता नहीं कि संसार ...समस्त त्रस प्राणी उच्छिन्न हो जाएँ और सब स्थावरों के रूप में उत्पन्न हो ... इसी प्रकार सब स्थावर जीव मरकर त्रस रूप में उत्पन्न हो जाएँ और ...वरों का विच्छेद हो जाय, यह भी कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, होता नहीं। जब ...भी काल में त्रस और स्थावर जीव विच्छिन्न नहीं होते-सदैव विद्यमान रहते हैं, आप या अन्य लोग यह जो कहते हैं कि 'ऐसा कोई पर्याय नहीं जिसमें श्रावक ...प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हो जाय' सो यह कथन न्याय युक्त नहीं है।

स्पष्टीकरण-पेढाल पुत्र उदक का मन्तव्य था कि श्रावक त्रस जीवों को ...देने का जो त्याग करता है, सो उसका यह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं है, ... त्रस और स्थावर पर्याय नियत नहीं है। एक जीव कभी त्रस होता है तो ... में वही स्थावर रूप से उत्पन्न हो जाता है। जब वह जीव त्रसपर्याय में होता है श्रावक उसकी हिंसा नहीं करता। जीव जब स्थावरपर्याय धारण करता है तो, उसकी हिंसा का त्यागी नहीं होता। अतएव श्रावक का वह त्याग खंडित हो जाता ... ऐसी स्थिति में जीव के किसी एक पर्याय को आश्रित करके किया हुआ त्याग सु... ...ख्यान नहीं कहला सकता। वस्तुतः ऐसा कोई जीवपर्याय नहीं, जहां श्रावक ... का त्याग कर सके। अतएव श्रावक का त्याग निर्विषय है।

इस मन्तव्य का भगवान् गौतम स्वामी ने विस्तार पूर्वक निराकरण किया ... उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि जब तक त्रस जीव, त्रसपर्याय रहता है, तभी तक के लिए श्रावक उसकी हिंसा का त्यागी है। जब कोई ... मरकर स्थावरकाय में जन्म ग्रहण कर लेता है, तब उस पर त्रसकाय की हिंसा ... त्याग का प्रत्याख्यान लागू नहीं होता। इसी सिलसिले में गौतम स्वामी ने नौ ... द्वारा अपने मत को अधिक स्पष्ट किया है। कोई-कोई श्रावक देशावकाशिक व्रत अंगीकार करके यह प्रतिज्ञा करता है कि वह अमुक मर्यादा में त्रस जीवों की ... नहीं करेगा और स्थावर जीवों को निरर्थक हिंसा नहीं करेगा। अतएव (१) ...

क ने जितने क्षेत्र की मर्यादा ग्रहण की है, उस क्षेत्र में स्थित त्रस जीव जब उसी दित क्षेत्र में फिर त्रस पर्याय में उत्पन्न होते हैं तो श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता सी प्रकार मर्यादित क्षेत्र के भीतर त्रस प्राणी मर्यादित क्षेत्र में स्थावर रूप से उत्पन्न हैं, तब श्रावक उनकी निरर्थक हिंसा नहीं करता (३) मर्यादित क्षेत्र के भीतर स प्राणी शरीर त्याग कर बाहर त्रस स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं, वह वहाँ की हिंसा नहीं करता। (४) मर्यादित क्षेत्र के भीतर के स्थावर जब मर्यादित क्षेत्र ही त्रस रूप से उत्पन्न होते हैं, तब श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता। (५) मर्या- क्षेत्र के भीतर स्थावर जब जब मर्यादित क्षेत्र में ही स्थावर रूप से उत्पन्न होते ब श्रावक उनकी निरर्थक हिंसा नहीं करता। (६ मर्यादित क्षेत्र के बाहर के वर जीव जब मर्यादित क्षेत्र के भीतर त्रस-स्थावर रूप में जन्म लेते हैं तो श्रावक की हिंसा नहीं करता। (७) मर्यादित क्षेत्र के बाहर के त्रस-स्थावर जीव जब दित क्षेत्र के भीतर त्रस रूप से उत्पन्न होते हैं, तब श्रावक उनकी हिंसा नहीं ता। (८) मर्यादित क्षेत्र से बाहर के त्रस-स्थावर जीव जब मर्यादित क्षेत्र के र स्थावर रूप से उत्पन्न होते हैं, तब श्रावक उनकी निरर्थक हिंसा नहीं करता। ) मर्यादित क्षेत्र से बाहर के त्रस-स्थावर जीव जब अपना शरीर त्याग कर दित क्षेत्र के बाहर त्रस-स्थावर रूप से उत्पन्न होते हैं, तब श्रावक उनकी हिंसा करता। इस प्रकार ऐसे बहुत से पर्याय हैं, जिनकी अपेक्षा श्रावक का प्रत्याख्यान त्याख्यान कहलाता है।

अन्त में भी गौतम स्वामी कहते है-इस अनादि-अनन्त संसार में सदैव त्रस और स्थावर जीव विद्यमान रहते है। ऐसा कोई समय न हुआ, न है और न होगा, सभी जीव त्रस ही त्रस या स्थावर ही स्थावर हो जाएँ। दोनों राशियों में से सी भी राशि का कदापि विच्छेद नहीं हो सकता। अतएव श्रावक के प्रत्याख्यान को विषय, व्यर्थ या कहीं लागू ही न होने वाला कहना और मानना अयोग्य है ॥३५॥

मूल-भगवं च णं उदाहु-आउसंतो उदगा! जे खलु समणं माहणं वा परिभासेइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता णं आगमित्ता चरित्तं, पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु लोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ। जे खलु समणं वा माहणं वा णो भासइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं गमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु लोगविसुद्धीए चिट्ठइ।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए । ३६ ।

अर्थ–भगवान् गौतम स्वामी ने कहा–आयुष्मन् उदक ! जो पुरुष श्रमण माहन की निन्दा करता है, वह उनके प्रति मैत्री रखता हुआ भी, ज्ञान दर्शन चारित्र को प्राप्त करके भी तथा पाप-कर्मों को नष्ट करने के लिए उद्यत हो भी अपने परलोक का विघात करता है इसके विपरीत जो पुरुष श्रमण माहन की निन्दा नहीं करता, जो उनके प्रति मैत्री रखता है, जो ज्ञान दर्शन को प्राप्त करके पाप-कर्मों का नाश करने के लिए उद्यत है, वह पुरुष परलोक की विशुद्धि के लिए स्थित है।

भगवान् गौतम के इस कथन को सुनने के पश्चात् पेढाल पुत्र उदक ने कथन का आदर न करते हुए, अर्थात् गौतम स्वामी के वक्तव्य को, अस्वीकार हुए उसी ओर जाने का विचार किया, जिस ओर से वह आये थे ॥३६॥

मूल—भगवं च णं उदाहु–आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सो वि ताव तं आढाइ, परिजाणेइ, वंदइ, नमंसइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ ॥३७॥

अर्थ—जाते हुए उदक को रोककर भगवान् गौतम बोले–आयुष्मन् ! जो पुरुष तथाभूत श्रमण या माहन के निकट एक भी आर्य, धर्म संबंधी सुवचन को सुनकर और अपने हृदय में धारण करके अपनी सूक्ष्म बुद्धि से वह यह विचार करे कि मुझे सर्वोत्तम कल्याण की प्राप्ति हुई है। ऐसा सोचकर वह उनका आदर करे, उपकारी माने, उन्हें वन्दन-नमस्कार करे, उनका सत्कार करे, सम्मान करे, अपना कल्याणकर्त्ता, मंगलकर्त्ता, देवस्वरूप और चैत्य स्वरूप मानकर उनकी उपासना करे। अर्थात् जिसने धर्म का एक भी पद समझा कर उपकार किया है, उसके प्रति आदर भाव प्रकट करना सत्पुरुष का कर्त्तव्य है ॥३७॥

मूल–तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–एतेसिं णं भंते ! पयाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए

भिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अव्वोग- अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुव- याणं एयमट्ठं णो सद्दहियं, णो पत्तियं, णो रोइयं, एतेसिं णं पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए मट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि रोएमि, एवमेव से जहेयं तुब्भे ह ।३८॥

अर्थ—गौतम भगवान का वक्तव्य सुन कर पेढालपुत्र उदक ने उनसे कहा— वन् ! पहले यह पद मैंने जाने नहीं, सुने नहीं, समझ नहीं; इन्हें हृदयंगम किया । यह पद मेरे द्वारा दृष्ट नहीं, श्रुत नहीं, मनन किये हुए नहीं, ज्ञात नहीं—स्मरण ए हुए नहीं हैं । इन पदों को गुरु मुख से प्राप्त नहीं किया है, यह मेरे लिए अत्यन्त कट रहे हैं, असंदिग्ध रूप से समझे नहीं हैं, परायण किये नहीं है, अवधारित निश्चित ) किये हुए नहीं हैं । इस कारण इन पदों पर मैंने श्रद्धा नहीं की, प्रतीति की तथा रुचि नहीं की । भगवन् ! इन पदों को मैंने अब जाना है, सुना है, झा है और निश्चय किया है । अतएव अब इन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता आप जैसा कहते हैं, वह सत्य है ॥ ३८ ॥

मूल—तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी द्दहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! वमेयं जहा अम्हे वयामो ।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडि- क्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ ३९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक से इस प्रकार कहा—हे आर्य उदक ! मैं भगवान् के द्वारा प्ररूपित जो धर्म कहता हूँ, उस पर आप श्रद्धा करें प्रतीति करें, रुचि करें कि यह वैसा ही है जैसा हम कहते हैं ।

तब उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—भगवन् ! मैं चार याम वाले धर्म को त्याग कर आपके निकट पाँच महाव्रतों वाले तथा प्रतिक्रमणयुक्त धर्म को अंगीकार करके विचरना चाहता हूँ ॥ ३९ ॥

मूल—तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता तए णं से

उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि। तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच महव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, त्ति बेमि।

अर्थ—तत्पश्चात् भगवान् गौतम पेढालपुत्र उदक को साथ लेकर, जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे, वहां आए। भगवान् के समीप आकर पेढालपुत्र उदक ने श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दक्षिण की ओर से प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके कहा—भंते ! आपके समीप चातुर्याम धर्म के बदले सप्रतिक्रमण पंच महाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करके विचरने की इच्छा करता हूँ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने उदक से कहा—देवानुप्रिय ! जैसे सुख हो, वैसा करो। प्रतिबंध मत करो।

तब पेढालपुत्र उदक श्रमण भगवान् महावीर के निकट चतुर्याम धर्म के बदले प्रतिक्रमण युक्त पांच महाव्रत वाले धर्म को प्राप्त करके विचरने लगे।

श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि शिष्यों से कहते हैं—जैसे मैं ने श्रीमहावीर भगवान् से सुना है, वैसा ही तुमसे कहता हूँ ॥४॥

इति नालंदइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥

## समाप्तम्